रीतिकालीन काव्य में लक्षणा का प्रयोग

एक आलोचनात्मक अध्ययन

[आगरा विश्वविद्यालय, आगरा की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत 'शोध-प्रबन्धसार']

डॉ० अरविन्द पाण्डेय
एम. ए., पी-एच. डी.
वृजमोहन लक्ष्मीनारायण रुइया हाईस्कूल,
बम्बई

ज वा ह र पु स्त का ल य,
मथुरा

15
29/4/76
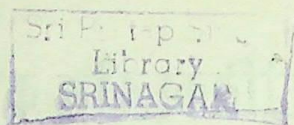
प्रस्तावना

हिन्दी के विशाल साहित्य के वैज्ञानिक अनुशीलन की प्रथा ने ज्यों-ज्यों आत्म-विस्तार किया है त्यों-त्यों अध्ययन का क्षेत्र व्यापक, गम्भीर और सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होता गया है। साहित्य सृष्टि के मूल में कार्य करने वाली स्वरूप-विधायक मानवीय प्रवृत्तियों और वाह्य परिवेश की बहुविध प्रभविष्णु परिस्थितियों के माध्यम से साहित्य देवता की आत्मा के दर्शन करने के प्रयत्न प्रबुद्ध अध्येताओं द्वारा प्रचुर परिमाण में किये गये हैं और बराबर किये जा रहे हैं। अध्ययन परम्परा के विकास काल में विद्वानों का ध्यान वाह्य कला-पक्ष की ओर भी कैसे न जाता। साहित्य के आचार्य कोटि के शास्त्रीय अध्ययन के श्री गणेश में ही कला-पक्ष आचार्यों की दृष्टि में जम गया था और वे शब्दों को काव्य-पुरुष का स्थूल शरीर कहने लगे थे। वस्तुतः सूक्ष्म अन्तर्तत्व की प्रमृत्तिनिमितक अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति स्थूल वहिरंग का आश्रय लिये बिना होती भी नहीं है। इसी कारण आचार्य शुक्ल जैसे अग्रगामी मनीषियों ने वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन के इस युग में शब्द शक्तियों के समुचित अध्ययन की आवश्यकता का संकेत किया और फलतः समर्थ शोधार्थी इस दिशा में उन्मुख हुए।

प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र में ही नहीं अपितु अन्य शास्त्रों की विचारणा प्रपंच में भी शब्द और उसकी अर्थ सामर्थ्य पर पर्याप्त पर्यालोचन किया गया है। शब्द समस्त लौकिक व्यवहारों का मूल है और इसीलिए उसे ब्रह्म माना गया है। आचार्यों ने उसकी अर्थ-सम्पत्ति का विश्लेषण करते हुए अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य आदि अनेक कोटियाँ प्रतिपादित की हैं। साहित्येत्तर शास्त्रों में केवल अभिधा और लक्षणा को ही शक्ति और भक्ति के नाम से अंगीकार किया है। साहित्य-शास्त्र के महामहिम आचार्यों ने जैसे आनन्दवर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्तपादाचार्य, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि साहित्य शास्त्र की विशेष दृष्टि से व्यंजना को सर्वोपरि माना है और तन्निष्ठ काव्य को उत्तम काव्य। यद्यपि भारतीय काव्य क्षेत्र में व्यंजना को सर्वोपरि चमत्कार विधायक और रसास्वादन का हेतु माना गया है,

परन्तु लक्षणा का महत्व भी कम नहीं है। व्यंजना शब्द के स्थूल धरातल का परित्याग करके संयोगादि चतुर्दश हेतुओं का आधार लेकर वाच्यार्थ से अतिरिक्त व्यंजागम्य अर्थ का बोध कराती है। परन्तु लक्षणा शब्द को पकड़े रहकर ही शब्द की अनेक विध अर्थच्छाया का प्रतिपादन करती है। अतः इसके द्वारा संघटित किया हुआ अर्थ चमत्कार काव्य-क्षेत्र को अभिव्याप्त करके सहस्त्रशीर्षा पुरुष की तरह अन्य क्षेत्रों पर भी छा जाता है। इसी कारण व्यंजनाऽपलापी अन्य शास्त्रकार लक्षणा को अमूल नहीं सिद्ध कर सके हैं। लक्षणा से ही भाषा की अर्थ प्रकाशन की क्षमता बहुत बढ़ जाती है और उसमें रुचिर अर्थ चमत्कार भी उत्पन्न होता है। आजकल की समृद्ध योरोपीय भाषायें और बारीक-ख्याली से लबालब उर्दू भाषा लाक्षणिक वैभव से बहुत अधिक सम्पन्न हैं। हिन्दी का छायावादी काव्य और वर्तमान गद्य लक्षणा के कारण ही इतने सम्पन्न हो रहे हैं।

मुझे प्रसन्नता और सन्तोष है कि विक्रमाजीतसिंह सनातन धर्म कालेज, कानपुर के हिन्दी विभाग ने शब्द शक्तियों के अध्ययन की इस आवश्यकता को समझा और वहाँ के प्रबुद्ध अनुसंधाता, श्री अरविंद पाण्डेय ने लक्षणा शक्ति से सम्बन्धित यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

डा० अरविन्द पाण्डेय, एम० ए०, पी एच० डी०, का यह शोध-प्रबन्ध रीति कालीन काव्य में लक्षणा शक्ति का प्रयोग—एक आलोचनात्मक अध्ययन ६ अध्यायों में विभाजित किया गया है। आरम्भ में इसमें विभिन्न शास्त्रों के लक्षणा विषयक मतों का संग्रह किया गया है। फिर, लक्षणा के साहित्य-शास्त्रीय विवेचन का उल्लेख ऐतिहासिक क्रम से किया गया है। इसके अनन्तर हिन्दी साहित्य के विशाल वाङ्मय में प्रमुख रूप से रीति कालीन काव्य में तथा प्रसंगानुसार तदितर साहित्य में भी लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार यह शोध-प्रबन्ध हिन्दी-साहित्य के अनुशीलन की एक आवश्यक कड़ी को पूरा करता है। डा० अरविन्द पाण्डेय ने इस कार्य को पूरा करने में विशेष त्याग, परिश्रम और अध्यवसाय का परिचय दिया है। वे अपने अनुसंधान काल में एक वर्ष का अवकाश लेकर गुरुकुल में रहे और उन्होंने अत्यन्त परिश्रम से इस कार्य को पूर्ण किया है। इस शोध-प्रबन्ध परीक्षकों ने एक स्वर से इस रचना की प्रशंसा की है। सनातन धर्म कालेज, कानपुर के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० विश्वनाथ गौड़, जोकि मेरे प्रिय शिष्य रहे हैं, बड़े उत्साह, मनोयोग और योग्यता से कालेज के अनुसंधान विभाग का संचालन कर रहे हैं। उनके मार्ग-दर्शन में यह कार्य सम्पन्न हुआ है। एतदर्थ वे और इस प्रबन्ध के प्रणेता डा० पाण्डेय मेरी बधाई के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि डा० पाण्डेय ने यहाँ गुरुकुल में रहकर अनुसंधित्सर की जो ज्योति अपने मानस में प्रदीप्त की है वह उपाधि-प्राप्ति पर निर्वाण नहीं लेगी अपितु शोध, अनुसंधान और अध्ययन का तमो-

ग्रस्त मार्ग उससे प्रकाशित होता रहेगा तथा डा० पाण्डेय निरन्तर उस मार्ग पर चलते हुए अपने परिश्रम और अध्यवसाय के फल से साहित्य जगत् को सम्पन्न बनाते रहेंगे। मुझे सनातन धर्म कालेज के हिन्दी विभाग की अनुसन्धान-शाखा से भी यह पूर्ण आशा है कि उसकी देख-रेख में होने वाला शोध-कार्य वास्तव में उपादेय और प्रशंसनीय होकर कालेज के गौरव की श्रीवृद्धि करेगा।

इस शोध-प्रबन्ध को ग्रंथ रूप में प्रकाशित होते देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। पी० एच० डी० की उपाधि के हेतु इसे स्वीकार करके आगरा विश्वविद्यालय ने इसकी उपयोगिता को प्रमाणित कर दिया है। मेरा विश्वास है कि इससे साहित्य की श्रीवृद्धि और साहित्यानुरागी बन्धुओं का अनुरंजन होगा।

कानपुर
शरत्पूर्णिमा, सं० २०२३ वि०

पं अयोध्यानाथ शर्मा
भू० पू० अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
सनातन धर्म कालेज, कानपुर
तथा
भू० पू० संयोजक हिन्दी-पाठ्य समिति,
आगरा विश्वविद्यालय

लेखक-परिचय

जन्म स्थान—तुलसीदासपुर (वाराणसी)

जन्म तिथि—१४ फरवरी १९३२ ई०

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से १९६२ में हिन्दी में एम० ए० करने के पश्चात् आगरा विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के लिए १९६३ ई० में पंजीकरण कराया। शोध प्रबन्ध के निर्देशक थे श्रीयुत डा० विश्वनाथ गौड़, वी० एस० एस० डी० कालिज, कानपुर के हिन्दी विभाग के अध्यक्षी। मई १९६५ ई० में शोध प्रबन्ध विश्व-विद्यालय में जमा कर दिया और १८ अगस्त १९६६ ई० को उपाधि की घोषणा विश्वविद्यालय के सीनेट ने कर दी। आप १९६१ ई० से बृजमोहन लक्ष्मीनारायण रुइया हाई स्कूल, बम्बई में अध्यापन कार्य करते हैं। अब तक आपकी संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण और रचना तथा आदर्श हिन्दी निबन्ध नामक दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस समय 'कथा साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९४०-१९७७) नामक पुस्तक के लिए कार्य कर रहे हैं। इसके साथ ही साथ एक कहानी संग्रह और साहित्यिक निबन्ध संग्रह प्रकाशनाधीन है।

—प्रकाशक

आमुख

सम्पूर्ण वाङ्मय शब्द और अर्थ की सत्ता से ही प्रतिभासित है। वस्तुतः दोनों प्रकृति और पुरुष की तरह अभिन्न और एक है। विशेष रूप से साहित्य में शब्द का प्रयोग विविध भाव भंगिमाओं को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। कवि की कारयित्री जब अर्थ की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तुत करने लगती है तब शब्द-शक्तियों का स्वरूप निखरने लगता है। इस प्रकार के प्रयोगों के माध्यम से ही भावक की हृदय वृत्ति रसानुभूति प्राप्त करती है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में शब्द-शक्तियों का विवेचन पर्याप्त मात्रा में हुआ है। हिन्दी साहित्य-शास्त्र में ऐसे विवेचन विरल हैं। ऐसे प्रयत्न जो हुए भी हैं वे शब्द-शक्तियों के स्वरूप-निरूपण तक ही सीमित हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'घनानन्द' और 'सुमित्रा नन्दन पन्त' की रचनाओं में,आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों के अध्ययन की ओर संकेत किया था। किन्तु इस दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं हुआ। इसी अभाव का अनुभव ही इस शोध-प्रबन्ध की प्रेरणा का स्रोत है। आगरा विश्व-विद्यालय की हिन्दी शोध समिति ने इस विषय पर अनुसंधान करने की अनुमति देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। रीतिकाल हिन्दी साहित्य में काव्य की दृष्टि से एक समृद्ध युग है। लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से इसका अध्ययन आवश्यक था क्योंकि अर्थ के समृद्ध स्वरूप के सामर्थ्य विस्तार की परख इसी तरह सम्भव है। इसी अर्थ सामर्थ्य की परख का प्रयत्न ही इस शोध-प्रबन्ध में किया गया है।

रीतिकालीन ग्रन्थों का भांडार बड़ा समृद्ध है, किन्तु इन ग्रन्थों की सहज प्राप्ति असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। इस क्षेत्र में वर्तमान समय में सबसे अधिक समृद्ध पुस्तकालय काशी नागरी प्रचारिणी सभा का है, फिर भी कई ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका संग्रह वहाँ भी नहीं हो पाया है। ऐसे ग्रन्थों में आचार्य श्रीपति के ग्रन्थ और लघु प्रबन्ध काव्य-काव्यलीला, दीपलीला आदि आते हैं। यद्यपि पुस्तकालय में 'ध्रुवदास ग्रन्थावली' में बयालीस लीलाओं का संग्रह प्राप्य है, पर आचार्य शुक्ल ने ध्रुवदास को सन्त साहित्य के फुटकल कवियों में स्थान देकर इनका समय सं० १६४०-१७०० वि० के मध्य ठहराया है। इसी कारण ध्रुवदास रचित 'लीलाओं' को इस

प्रबन्ध में उद्धृत नहीं किया गया है। इसी विवशता के कारण आचार्य श्रीपति के ग्रन्थों तथा काव्य लीला, दीप लीला आदि के लाक्षणिक प्रयोगों को उद्धृत नहीं किया जा सका।

शोध कार्य करने की सर्वप्रथम प्रेरणा मुझे के० सी० कालिज, बम्बई के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष परम सुहृद डा० सी० एल० प्रभात से प्राप्त हुई। उन्होंने शोध कार्य के स्वरूप का निर्देश करके अध्ययन का पथ प्रशस्त कर दिया। उनके स्नेह और सत्कार्य के लिए औपचारिक धन्यवाद देकर मैं अपने कर्तव्य की इति श्री नहीं करना चाहता हूँ, बल्कि जीवन पर्यन्त उनके प्रति मैं अभारी रहूँगा।

इतना हो जाने पर भी शोध-कार्य का प्रारम्भ नियमित रूप से नहीं हो सका। संयोगवश एक दिन यह प्रसंग, सेन्ट्रल-स्कूल, किरकी, पूना के आचार्य श्रद्धेय श्री पं० देवीशरण पाण्डेय, एम० ए० एल० टी० के समक्ष उठ खड़ा हुआ। उन्होंने अत्यधिक स्नेह के साथ शोध-कार्य के सम्पूर्ण प्रबन्ध का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। उन्हीं के अनुग्रह से आज यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इस कार्य में मुझसे अधिक उन्हें प्रसन्नता हुई है। इस स्थल पर उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता तो नहीं कर सकता पर आभार प्रदर्शित करने के अधिकार का भी परित्याग नहीं कर सकता।

परम स्नेही, अध्ययन में अपूर्व सुरुचि रखने वाले स्नेहाग्रज श्री बसन्त जोशी एवं श्रीमती शान्ता बसन्त जोशी के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने कानपुर आवारत की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर लेकर इस कार्य की पूर्णता में अभूत पूर्व योग दान दिया है।

बृजमोहन लक्ष्मीनारायण रुइया हाई स्कूल, बम्बई के सम्माननीय मंत्री श्री पुरुषोत्तम लाल रुइया ने विद्यालय से अवकाश प्रदान कर अधीक्षक श्री गुरुबख्श सिंह एम० ए० बी० एड० निरन्तर प्रोत्साहन देकर, सहायक अध्यापक श्री पन्नालाल मिश्र, श्री तेजनाथ मिश्र और अनेक छात्र एवं छात्राएँ सतत अपना स्नेह और आश्वासन देकर जो मेरी मनः शक्ति को दृढ़ करते रहे हैं, उन्हें धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्तब्य समझता हूँ।

अध्ययन-क्रमाग्रज पी० पी० एन० डिग्री कालिज, कानपुर के प्रवक्ता डा० रविदत्त 'निर्मल' तथा भारतीय विद्यापीठ, कानपुर के संचालक और प्रधानाचार्य डा० लालताप्रसाद शुक्ल 'ललित' के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने स्नेह, सद्भावना, सहयोग, सहायता एवं निर्देशन देकर इस कार्य की पूर्णता को प्राप्त कराया है। सन्यासी संस्कृत महाविद्यालय, काशी के प्रवक्ता श्री पं० रामयत्न शुक्ल व्याकरणाचार्य तथा वी० एन० एस० डी० कालिज, कानपुर के प्रवक्ता श्री पं०

श्यामसुन्दर त्रिपाठी एम० ए०, साहित्याचार्य ने इस कार्य में जो सहयोग किया है उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

भारतीय विद्याभवन पुस्तकालय, बम्बई, मारवाड़ी पुस्तकालय, बम्बई, बी० एल० रुइया पुस्तकालय, बम्बई, के० सी० कालिज पुस्तकालय, बम्बई, ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, मारवाड़ी पुस्तकालय, कानपुर, वी० एस० एस० डी० कालिज पुस्तकालय, कानपुर, श्री पं० श्यामबिहारी 'बिहारी' कानपुर के निजी पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, प्रयाग और काशीनागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सहायता, सहयोग एवं सद्भावना के लिए मैं धन्यवाद देता हूँ जिनका योग इस कार्य में महत्वपूर्ण रहा है।

अध्ययनार्थ काशी आवास-काल में हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी के विद्वान प्रवक्ता श्री डा० भोलाशंकर व्यास के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर अध्ययन क्रम को सुव्यवस्थित एवं गतिवान बनाया। वी० एस० एस० डी० कालिज, कानपुर के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष परम श्रद्धेय श्रीयुत पं० अयोध्यानाथ शर्मा के स्नेह एवं आशीर्वाद से जो मैं लाभांवित हुआ हूँ उसके लिए भी कृतज्ञ हूँ।

अन्त में वी० एस० एस० डी० कालिज, कानपुर के हिन्दी विभागाध्यक्ष परमश्रद्धास्पद, भक्तवत्सल गुरुदेव श्री डॉ० विश्वनाथ गौड़ एम० ए०, पी० एच० डी० के अनुग्रह विद्वतापूर्ण निर्देशन और स्नेह के प्रति मैं आजन्म कृतज्ञ रहूँगा, जिससे यह शोध-प्रबन्ध रूपायित हो सका है। मेरा यह सौभाग्य है कि इस मशीन युग में परम सात्विक गुरु प्राप्त कर सका, जिनके कृपाप्रसाद स्वरूप ही लेखनी पकड़ने की सुबुद्धि आई है। इस समस्त शोध-प्रबन्ध में मेरा स्थान 'निमित्त मात्र' ही रहा है। इससे गीता-गायक का यह उपदेश निरन्तर मेरे समक्ष उपस्थित रहा है—"निमित्त मात्रं भव सव्यसाचिन्।"

महाशिवरात्रि
सं० २०२१ वि०

—डॉ अरविन्द पाण्डेय

अहं रुद्राय धनु रातनोमि ब्रह्मद्विषे शखे हन्तवा ।
महं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथ्वी आविवेश ।।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ममयोनि रप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवना नु विश्वो तामूं द्यां वर्ष्मणोपा स्पृशामि ।।
अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिमा संव भूव ।।

[ऋग्वेद—१०, १२५, ६-८]

अनुक्रमणिका—

विषय पृष्ठ

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

विषय | पृष्ठ

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

विषय पृष्ठ

पंचम अध्याय

षष्ठम अध्याय

प्रथम अध्याय

शब्द शक्ति विशेषकर लक्षणा का शास्त्रीय विवेचन

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अपनी सीमित शारीरिक सामर्थ्य और स्वभाव की विशेषता के कारण उसे दूसरों की अपेक्षा होती ही है। ज्ञानेन्द्रियों की तीव्र ग्रहण-धारण सामर्थ्य के कारण मनुष्य सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट-प्राणी है। ज्ञानेन्द्रियाँ स्थूल जगत से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती रहती हैं और मन उन्हें संकलित करता रहता है। इसी संकलन की प्रतिक्रिया स्वरूप जो भाव जागृत होते हैं वही भाव अभिव्यक्त होकर साहित्य का सृजन करते हैं। इस तरह भाव (अर्थ) और अभि-व्यक्ति के साधन शब्द का साहित्य में नहीं बल्कि समस्त वाङ्मय में महत्वपूर्ण स्थान है – इसलिए सभ्यता के उषः काल से ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर दार्शनिक एवं साहित्यिक दृष्टियों से गम्भीर विचार होता आ रहा है। इसका कारण यह है कि वाणी ने मनुष्य का मनुष्य से इतना ही नहीं अपितु समस्त दृष्टि से सम्बन्ध स्थापित कराने में महत्वपूर्ण भाग लिया है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का विवे-चन करने वाले श्री ऑग्डन और रिचर्ड्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' में इस विषय के आधिकारिक विद्वान डॉ० पोस्टगेट का मत उद्धृत करते हुए कहा है– "मानव जाति के समस्त इतिहास में, शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध विषयक प्रश्नों के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा प्रश्न नहीं रहा है, जिसने अधिक गवेषणात्मक व्यस्तता तथा आकर्षण उत्पन्न किया हो।"[1]

शब्द भाषा का अविच्छेद्य अङ्ग है। जिस ध्वनि समूह में भाव बोधन एवं अर्थ वहन की क्षमता होती है, उन्हें हम शब्द कहते हैं। जिस ध्वनि समूह (शब्द) से निश्चित अर्थ का वहन नहीं होता उन शब्दों का भाषा में स्थान नगण्य है।

भाषा का आरम्भ कैसे हुआ ?

इस सम्बन्ध में भाषा शास्त्रियों के अनेक मत हैं। कुछ लोग भाषा को अपौरु-षेय मानते हैं तो कुछ लोग पौरुषेय। इनके अतिरिक्त 'अनुकरणवाद', 'मनोरागाभि-

---

1. Throughout the whole history of human race, there have been no questions which have caused more heart serching tumults, and devastations than questions of the correspondence of words to facts.

   Dr. Postgate quoted by Ogden and Richards in—
   "The Meaning of Meaning" page 17. 8th Ed. 1949.

व्यंजकतावाद', प्रतीकवाद आदि कई मत प्रचलित हैं। किन्तु इस स्थल पर हमारा अभिप्राय शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुशीलन करना है। अतः शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के विषय में विभिन्न विचारों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अति प्राचीन भारतीय मत—

भारतीय शास्त्रों के अनुसार सृष्टि रचना से पूर्व ही शब्द की उत्पत्ति होती है। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार "समस्त भूत प्राणि-मात्र वाणी से जाने जाते हैं, वाणी ही ब्रह्म है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि—"जो वाणी को ब्रह्म समझ कर, उपासना करता है, वह वाणी के द्वारा जितने अर्थ व्यक्त किए जाते हैं, उन सभी पर स्वेच्छा पूर्वक अधिकार प्राप्त कर लेता है।"[2] इसी तरह श्रुति स्मृतियाँ स्पष्ट संकेत करती हैं कि—"उसने भूः शब्द के उच्चारण से पृथ्वी की सृष्टि की।"[3]

छान्दोग्य उपनिषद् वाणी की नैतिक महत्ता का उद्घोष करते हुए कहता है कि—"यदि वाणी न होती तो धर्म-अधर्म, सत्यासत्य का ज्ञान असंभव था।"[4]

भतृहरि ने वाक्यपदीय में वाणी की बौद्धिक महत्ता का मूल्यांकन करते हुए कहा है—"शब्दों से संबद्ध रूप में ही समस्त ज्ञान प्रतिभासित होता है।"[5] वास्तव में जिस प्रकार विस्तृत जगत का दर्शन आँखों द्वारा होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का पर्यवेक्षण शब्द के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार यूरोपीय विद्वान जे. एस. मिल कहते हैं—"तर्क के क्षेत्र में वाणी का इतना महत्व है जितना कि सामान्य नियमों का, वाणी अथवा उसकी समकक्ष किसी अन्य वस्तु के बिना, अनुभव से तर्क करना असम्भव है।"[6]

---

१. "सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राड्ज्ञायन्ते, वाग्वै सम्राट परमंब्रह्म।"
[वृ० उ० ४, १, २]

२. स यो वाचं ब्रह्मेति उपास्ते यावद् वाचोगतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति।"
[छा० उ० ७, २, २]

३. स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत्। [तै० आ० २, २, ४, २]

४. यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतम्।
[छा० उ० ७, २, १]

५. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ [वाक्यपदीय १, १२४]

6. Without language, or something equivalent to it, there could only be as much of reason from experience, as can take place without the aid of general proposition.
[J. S. Mill. A system of logic. B. IV. Ch. III. para 3.]

काव्य के तो एक मात्र साधन शब्द और अर्थ ही होते हैं। इन्हीं से कलाकार की कला का परिचय प्राप्त होता है। अतः काव्य शास्त्र के विद्यार्थी के लिए शब्द की उत्पत्ति, शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध और इनकी महत्ता उतनी ही आकर्षक, खोज-पूर्ण, महत्वशाली है जितनी कि दार्शनिक, भाषाशास्त्री अथवा वैयाकरण के लिए।

शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध—

शब्द मन में उद्भूत होने वाली अनेक प्रक्रियाओं का अभिव्यक्त-प्रतीक है। अभिव्यक्ति का आधार मनःस्थिति है, जिसके माध्यम से अनुभवों का विश्लेषण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग में मन और वाणी का पद (स्थान) विषयक विवाद हुआ है। इसमें मन अपने को बड़ा कहता है और वाणी अपने को। दोनों प्रजापति के पास जाते हैं। प्रजापति मन के पक्ष में अपना निर्णय देते हैं।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में भी मन के श्रेष्ठ होने की घोषणा की गई है।[2] इस तरह मन (अर्थ) के आधीन वाणी (शब्द) का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। किन्तु वृहदारण्यक में अर्थ को शब्द से उद्भूत कहा गया है। एक रूपक शैली में कहा गया है कि—"उस वाणी (गौ) का प्राण बैल है तथा मन बछड़ा है।"[3] अन्ततोगत्वा दोनों मत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्द और अर्थ में परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। प्राच्य दार्शनिक दोनों को एक ही वस्तु का अङ्ग मानते हैं। भर्तृहरि कहते हैं—"एक ही आत्मा के भेद, शब्द और अर्थ अपृथक् होकर स्थित हैं।"[4] ध्वनि सम्प्रदाय के विद्वान लेखक डॉ० भोलाशंकर व्यास ने शब्द और अर्थ का विवेचन करते हुए अपने ग्रन्थ में इस विषय के आधिकारिक विद्वान् जर्मन भाषा-शास्त्री हुम्बोल्ट का मत उद्धृत करते हुए कहा है—"जर्मन भाषा शास्त्री हुम्बोल्ट ने आभ्यांतरिक शब्द की कल्पना की है जो वस्तुतः अर्थ की मानसिक स्थिति है।"[5]

शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित रहे हैं। प्रथम मत है कि—'शब्द अर्थ से उत्पन्न होता है', द्वितीय मत है कि—'शब्द अर्थ की व्यंजना करता है, तृतीय मत के अनुसार शब्द अर्थ का ज्ञान करा देता है।' ऋग्वेद में कहा गया है कि—"विद्वानों ने मन के द्वारा वाणी को बनाया।"[6] महाभाष्यकार कहते हैं—"शब्द

---

१. शतपथ ब्रह्मण। [१, ४, ५, ८]

२. मनो वाव वाचो भूयः। [छा० उ० ७, ३, १]

३. तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः। [बृ० उ० ५, ८, १]

४. एकस्येवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक् स्थितौ। [वाक्यपदीय २, ३१]

५. ध्वनि सम्प्रदाय, डॉ० भोलाशंकर व्यास, प्र० सं०, पृ० ५१ पाद टिप्पणी

६. मना धीरा मनसा वाचमक्रत। [ऋ० १०, ७१, २]

वह है, जो कान से सुना जाता है जिसका ग्रहण बुद्धि करती है, जिसका स्थान आकाश है तथा जो प्रयोग से अभिज्वलित होता है।"[१] यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि शब्द व्यंग्य होगा, व्यंजक नहीं। शंकराचार्य ने एक स्थल पर शब्द को अर्थ का चरण-कहा है। वाजसनेय प्रातिशाख्य के टीकाकार ने पद की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है- "इससे अर्थ का गमन या ज्ञान होता है, अतः यह पद है।"[२]

उपर्युक्त प्रयोग को दृष्टिगत रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शब्द और पद का साधारण भेद क्या है ? स्पष्ट कर दिया जाए। अतः शब्द केवल रूपमात्र (प्रकृत) का परिचायक है, जबकि पद-विभक्तियुक्त होता है।

भारतीय विद्वानों की तरह पश्चिमी विद्वान "प्लातो" ने शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है—"वाणी वह स्रोत है, जो मन से मुख के द्वारा निःसृत होती है।" अरस्तू की मान्यता भी सम्भवतः ऐसी ही है, उनका कथन है कि—"शब्द आत्मा के अनुभवों के प्रतीक हैं।"[3]

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करते हुए यह नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि यह भी समझ लिया जाय कि इनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध हैं, अथवा नहीं। इससे अभिप्राय यह कि-"शब्द अपने अर्थ का प्रतीक मात्र है, उसमें वास्तव में उस भाव का बोध कराने की पूर्ण क्षमता नहीं है।"[४] वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कहा है-"जब शब्दों का उच्चारण होता है तो उनका सम्बन्ध, ज्ञान (भाव), वक्ता के द्वारा अभिप्रेत वाह्य पदार्थ (वस्तु) और शब्द के स्वरूप से होता है।"[५] यहाँ एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि भाव तथा वस्तु में क्या भेद है ? वस्तु का अभिप्राय यहाँ अर्थ से है। प्रायः यह कहा जाता है कि भाव ही वह वस्तु है जिसकी प्रतीति कराई जाती

---

१. श्रोत्रोपलब्धिबुर्द्धि निग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।

[महाभाष्य १, १, २]

२. पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्।

[शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य, अध्याय ३, सू०२, पृ० ६]

3. All speech is intended to serve for the communication of ideas 'Poletics' Aristotle

4. Words, as every one knows, 'mean' nothing by themselves, although the belief that they did……was equally universal."

—"The Meaning of Meaning." Ch. I, P. 9-10

५. ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते। (वाक्यपदीय ३, ३, १)

है। शब्द अर्थ का वहन करते हैं। इस प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए ऑग्डन तथा रिचर्डस का एक उद्धारण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। एक स्थल पर लेखक कहते हैं कि—"माली दूब काट रहा है।" जब हम वास्तविक स्थिति पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि—दूब काटने का काम माली नहीं अपितु यन्त्र कर रहा है, फिर भी हम कहते यही हैं कि—"माली दूब काट रहा रहा है।" इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग के कारण हमारे अन्तर के भाव हैं जिनकी उद्भावना मन में हो रही है। उपर्युक्त कथन के साथ हमारे मन में जड़ यन्त्र और माली की स्थिति स्पष्ट रहती है। यन्त्र का संचालक माली है, इसलिए वह अधिक महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार हम यह जानते हुए भी कि शब्दों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भावों से है, फिर भी यही कहते हैं कि—प्रतीक (शब्द) घटनाओं का उल्लेखन करते हैं, तथा तथ्यों का वहन करते हैं।"[1] इस तरह प्रथम सम्बन्ध शब्द तथा भाव में, दूसरा भाव तथा वस्तु में कल्पित किया गया है। वास्तविकता यह है कि—जिस शब्द का हम प्रयोग करते हैं, उसका अंशतः आधार भाव और अंशतः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्व हैं। अतः भाव तथा शब्द का सम्बन्ध आकस्मिक कहा जा सकता है। भाव तथा वस्तु का पारस्परिक सम्बन्ध कभी मुख्य और कभी गौण होता है। अभिधा में यह सम्बन्ध मुख्य और लक्षण में गौण होता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी गौण है।

इस प्रतीकात्मक सिद्धान्त का सम्बन्ध इस विचार पर निर्भर है कि—समस्त भावों के बोध कराने की क्षमता शब्दों में नहीं होती, इसीलिए बात-चीत के दौरान में हाव-भाव, चेष्टादि का भी प्रयोग किया जाता है। शब्द की इसी अपूर्णता पर प्रकाश डालते हुए साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहते हैं कि "गौः" शब्द से "गच्छतीति गौः" (जो जाता है वह गौ है) इस व्युत्पत्ति वाले अर्थ में ही मुख्यार्थ प्रतिपत्ति मानी जाएगी तो 'गौः शेते" (गौ सोती है) आदि स्थलों पर लक्षण शक्ति माननी पड़ेगी क्योंकि लेटे हुए सास्नादिमान् पशु विशेष के लिए "गौः" (चलता हुआ) साक्षात्प्रतिपादक शब्द न होगा।[2]

---

1 "But just as we say that the gradener mows the lawn when we know that it is the lawn mower which actually does the cutting, so though we know that the direct relation of symbols is with thought, we also say that symbols record events and commu- nicate facts."

—"The Meaning of Meaning" Ch. I. P. 9.

२. **"व्युत्पत्तिलभ्यास्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रादि लक्षणा स्यात्—" [सा० द० द्वि० परि० का० ५ पर वृत्ति पृ० ३१] (शालिग्राम शास्त्री) सं० २०१३।**

ऐसे शब्द भी प्रयोग में प्रचलित हैं जिनके भाव तथा अभिप्रेत अर्थ में बड़ा अन्तर है, ऐसे स्थलों में अभिप्रेत अर्थ की स्थिति ही नहीं होती—'शशविषाण', 'वन्ध्यापुत्र' आदि इसी कोटि के प्रयोग हैं जो किसी अभावात्मक वस्तु का बोध कराते हैं। न्याय तथा वैशेषिक दार्शनिकों ने 'घटाभाव' 'पटाभाव' आदि शब्दों की स्वतन्त्र सद्या स्थापित की है और "अभाव को अलग से पथार्थ मानकर इससे अर्थ प्रतीति भी मानी है।"[१] इसलिए घट से भिन्न वस्तु 'घटाभाव' मानी गई है।

अर्थ बोध वाक्य द्वारा होता है। महाभाष्यकार के अनुसार 'शब्दों' का वह समूह जो पूर्ण अर्थ की प्रतीति कराता है उसे वाक्य कहते हैं।' भर्तृहरि ने वाक्य में क्रिया का होना अनिवार्य माना है। साहित्यदर्पण सार के अनुसार—'वाक्य वह शब्द समूह है, जिसमें योग्यता, आकांक्षा तथा सन्निधि हो।"[२] वाक्य के अतिरिक्त महावाक्य भी माने गए हैं जो वाक्य के समूह द्वारा एक उद्देश्य का बोध कराते हैं—रामायण, महाभारत, रघुवंश इसके उदाहरण हैं।

शब्द के भौतिक स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के विचार व्यक्त करते हुए 'कदम्बमुकुलन्याय' [जिस प्रकार कदम्ब का मुकुल चारों ओर से विकसित होता है] तथा 'वीतिरंगन्याय' [जिस प्रकार जल में तरंग उत्पन्न होकर चक्राकार घूमती हुई सभी ओर जाती हैं तथा जिस प्रकार जल में एक लहर से दूसरी निकलती है और अन्त में तट से जाकर टकराती है] का आश्रय लिया है। इस तरह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्द के उच्चरित होने पर उससे दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा······शब्द उद्भूत होता जाता है। अतः श्रोता जिस शब्द को सुनता है, वह ठीक वही नहीं है, जिसे वक्ता ने उच्चारण किया है। शब्द के इसी भौतिक गुण और प्रकृति के कारण 'ट्रांसमीटर' तथा रेडियो का आविष्कार हुआ है। शब्द बड़ा द्रुतिगामी है। इसके सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान का मत है कि वक्ता शब्द को सबके बाद में सुनता है।

शब्द को मीमांसक 'नित्य', नैयायिक 'अनित्य' तथा वैयाकरण 'नित्यानित्य' कहते हैं। व्याकरण में शब्द को दो वर्गों में विभक्त किया गया है, एक नित्य, दूसरा अनित्य। ध्वन्यात्मक शब्द 'नित्य' और वर्णात्मक शब्दआनित्य माने गए हैं।

शब्द में संकेत ग्रह होता है। मीमांसक शब्द से केवल 'जाति' का बोध मानते हैं, 'व्यक्ति' का बोध आक्षेप से मानते हैं। नैयायिक 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' में

---

१. "द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थः।"

—तर्क संग्रह, प्रत्यक्ष परिच्छेद २ सं० १९९० वि०

२. "वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।"

सा० द० परि० २. का० १.

शब्दबोध मानते हैं, वैयाकरण उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य (व्यक्ति) इन चारों के सम्मिलित स्वरूप में संकेत मानते हैं। इसका विस्तार से विवेचन आगे यथा स्थान किया जाएगा।

यास्क ने सार्थक शब्द के चार प्रकार बताए हैं—नाम, आख्यात, निपात तथा उपसर्ग। महाभाष्यकार पातञ्जलि ने ऋग्वेद के एक उद्धरण 'चत्वारि शृङ्गः' का अर्थ नाम, आख्यात, निपात तथा उपसर्ग किया है।[1] नैयायिकों ने शब्द के तीन ही प्रकार—प्रकृति, प्रत्यय और निपात को स्वीकार किया है।[2]

'प्रकृति' शब्द किसी अर्थ की प्रतीति का हेतु होता है तथा प्रतिपाद्य अर्थ का निश्चित बोध कराता है। 'प्रत्यय' का अर्थ सभी प्रतीत होता है जब वह किसी अन्य शब्द से संबद्ध होकर वाक्य में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए 'राम की गाय' वाक्यांश को लीजिए—'राम' प्रकृति है, जो अपने आप अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है, 'का' कारक प्रत्यय है, यह तभी अर्थ व्यक्त करा सकता है, जब किसी प्रकृति से संबद्ध हो। समुच्चय बोधक अव्ययादि तथा सम्बन्धबोधक अव्ययादि का ग्रहण 'निपात' के अन्तर्गत होता है, जो अपना अन्वयबोध कराने में समर्थ न हो उसे 'निपात' कहते हैं। ये तीनों प्रकार के शब्द तभी अर्थ प्रतीति करा सकते हैं जब कि वाक्य में प्रयुक्त हो अन्यथा अपने आप में शब्दबोध कराने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं।

एक शब्द से ही एक ही निश्चित भाव का बोध न होकर कई भावों का बोध होता है, इसलिये एक से अधिक शब्द शक्तियाँ मानी गई हैं। जिन शक्तियों के द्वारा विभिन्न अर्थों का बोध होता है। प्रसिद्ध वाक्य :"गंगायाब घोष:" में प्रवाह (वाच्यार्थ) तट (लक्ष्यार्थ) शीतत्व, पावनत्व (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति होती है, इन्ही संबन्धों को क्रमशः अभिधा, लक्षण तथा व्यंजना व्यापार के नाम से अभिहित किया जाता है। प्राचीन वैयाकरण शब्द की दो शक्तियाँ मानते हैं, नव्य वैयाकरण व्यंजना को अलग से शब्द शक्ति मानने के पक्ष में हैं। मीमांसक अभिधा, लक्षण दो ही शक्तियाँ मानते हैं, नैयायिक तथा भाट्टमीमांसक 'तात्पर्य वृत्ति' नाम की एक शक्ति आवश्यक मानते हैं जो वास्तव में वाक्य की शक्ति है।

व्यक्ति शक्ति वादियों (कैयर आदि) का कथन है कि—शब्द से व्यक्ति का ही बोध होता है, चाहे वह शब्द भले ही जातिवाचक हो।[3] शक्तिवाद के रचयिता

---

१. चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। महा० १,१,१.

२. प्रकृतिः प्रत्ययश्चेति निपातश्चेति स त्रिधा।

—शब्द-शक्ति पु० कारका ६ पृ० २६

३. "व्यक्तिवादिनस्तु आहुः—शब्दस्य वक्तिरेव वाच्या।"

कैयर, महाभाष्य-प्रदीप पृ० ५७ पं० ३ सं० १९५१।

गदाधरजी ने शब्द का संकेत जाति अथवा व्यक्ति में न मानकर ज्ञान में माना है। इनकी मान्यता थी कि पद के प्रयोग से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है वह केवल ज्ञानमात्र है। इनका अभिप्राय यह है कि—कारण से कार्य उत्पन्न होता है, उस कार्य में व्यक्ति का अन्तर्भाव नहीं होता है।[1] नैयायिकों ने भी संकेतग्रह के संबन्ध में अपने मत व्यक्त किए हैं। महिर्ष गौतम ने कहा है कि—"किसी पद का अर्थ वस्तुतः किसी वस्तु की व्यक्ति, आकृति तथा जाति सभी में है।[2] नैयायिकों का यह मत अनुमान सिद्धान्त पर निर्भर है, जैसे—जहां धुआँ होता है वहाँ आग भी होती है। इस प्रकार शब्द से अर्थ का संकेत होते ही जाति के साथ व्यक्ति का भी ग्रहण मानना पड़ेगा। शक्ति में व्यक्ति और जाति दोनों वर्तमान रहते हैं।

लक्षण-शक्ति के सम्बन्ध में नैयादिक अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक शब्द में वाच्यार्थ बोध कराने की शक्ति होती है, शब्द की इसी शक्ति को उसका विशिष्ट धर्म मान सकते हैं। यह शक्ति कभी-कभी किसी दूसरी से भी संबद्ध होती है। अतः जब शब्द दूसरी शक्ति तथा उसके धर्म का ज्ञान बोध कराता है तो वह लक्षक होता है।[3]

तात्पर्य वृत्ति और वाक्यार्थ के प्रसंग में वात्स्यायन अपना मत व्यक्त करते है कि वाक्य में स्थित वर्णों का उच्चारण किये जाने पर श्रोता उनको श्रवण करता है। एक या अनेक सुने हुए वर्ण पद-रूप में—संबद्ध नहीं होते, अतः सुनने वाला उन्हें संबद्ध करके पद व्यापार और स्मृति के द्वारा अन्य पदों के अर्थों का सम्बन्ध जोड़ लेता है।[4] नव्य नैयायिक—व्यंजना शक्ति को नहीं मानते। तत्वचिन्तामणि के

---

१. **"ज्ञाने पदानां शक्तिरित्येतन्मते······" शक्तिवाद. परिशिष्ट काण्ड**
पृ० १७७, पं० १२ वीं सं० १९८६

२. **"जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः।" न्यायदर्शन (गौतम)**
द्वि० अध्याय, द्वि० आ० प्र० ४, सूत्र ६४।

३. **"यादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं यद्धर्मविशिष्टयन्निरूपितशक्तिशून्यत्वे सति, यद्धर्मविशिष्ट यन्निरूपपित सम्बन्ध वन्निरूपितशक्ति निरूपकं तद्धर्मप्रकारतद्विशेष्यकबोधता-दृशानुपूर्व्यवच्छिन्नं लक्षकमिति पर्यवसितम्।"**
—कृष्णकांती टीका (श० श० प्र०) पृ० १५१ पं० ७, प्र० सं०

४. **"वाक्यस्थेषुखलु वर्णेषूच्चारत्सु तावच्छ्रवणं भवति श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन न प्रतिसन्ध्यायपद व्यवस्यति पदव्यसानेनस्मृत्या पदार्थंप्रतिपदयते पदसमूह प्रतिसन्धानाच्च वाक्यं व्यवस्यति सम्बद्धदांश्च पदार्थान्गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपदयते।"—न्यायसूत्र-वात्स्यायन भाष्य, ३, २, ६२।**

प्रसिद्ध टीकाकार गदाधर ग्रन्थ के प्रारम्भ में "संकेत तथा लक्षण को पद के अर्थ की प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

मीमांसकों के मतानुसार "पदों से जाति का ही संकेत होता है।[2] वे कहते हैं कि जब हम 'घट' कहते हैं तो उसमें सभी घटों में पाई जाने वाली घट जाति का ही अर्थ अभीष्ट होता है, घट विशेष किसी लाल या काले का नहीं। इनका मत है कि-व्यवहार में व्यक्ति का ज्ञान 'आक्षेप' (अनुमान या अर्थापत्ति) द्वारा होता है। यह 'आक्षेप' सिद्धान्त भाट्टमीमांसकों का है। पार्थ सारथि मिश्र ने 'न्याय रत्नमाला' में प्रतिपादित किया है कि—"शब्द से सर्वप्रथम जाति का ही अर्थ प्रतीत होता है, उसके बाद वह किसी व्यक्ति विशेष का आरोप कर लेता है।"[3] श्रीकर का कथन है कि—पद का संकेत तो जाति में ही होता है, पर उपादान से व्यक्ति बोध हो जाता हैं। मण्डन मिश्र पद से सर्व-प्रथम जाति का बोध फिर लक्षण से व्यक्ति विशेष का बोध स्वीकार करते हैं।[4] व्यक्ति विषयक शब्दबोध के लिए 'प्रभाकर' 'आक्षेप', उपादन या लक्षण को नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार जाति से व्यक्ति का स्मरण हो जाने परअर्थ-प्रतीति हो जाती है।

लक्षण वृत्ति की मान्यता एक प्राचीन मान्यता है। मीमांसा सूत्र-भाष्यकार आचार्य शबर स्वामी (ईसा की प्रथम शती) में स्पष्ट कहा है—"ऐसा किस तरह हो सकता है कि शब्द अपने अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त किया जाए ? इस दृष्टि से कि वह अपने अर्थ के अभिधान के द्वारा किसी न किसी हेतु

---

१. **"संकेतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः।"—शक्तिवाद, सामान्य खण्ड,**
पृ० १, पं० १ सं० १९८६

२. **"मीमांसकास्तु गवादि पदानां जातिरेव वाच्या, न तु व्यक्तिः।" शक्तिवाद, परि० का० पृ० १७३ पं० १, सं० १९८६**

३. **व्यक्ति प्रतीतिरस्माकं जातिरेव तु शब्दतः।**
प्रथमावगता पश्चाद् व्यक्तिं यां काचिदाक्षियेत्। न्यायरत्नमाला, वाक्यनिर्णय का० ५, ३८ पृ० ९९।

४. **जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति। नित्यत्वाल्लक्षणीयायां व्यक्तेस्तेहि विशेषणे।—मण्डन मिश्र (उद्धृत ध्वनि संप्रदाय) डॉ० भोला शंकर व्यास, प्र० सं० पृ० ८२,**

५. **प्रभाकरास्तु—जातिज्ञानादेव जाति प्रकारेण व्यक्तेः स्मरणं शाब्दबोधश्च, न तु निर्विकल्पकरूपं जातिस्मरणं, निर्विकल्पकानभ्युपगमात्। शक्तिवाद,**
१० का० पृ० २१६

वश अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है।"[१] इसके अतिरिक्त लक्षणा की मान्यता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि—"लक्षणा इसलिए मान्य है क्योंकि लोक में जो वाग्व्यवहार है उसी में यह अनुस्यूत है।"[२]

महामीमांसक कुमारिल भट्ट ने इसीलिए "रूढ़ि और प्रयोजन को लक्षणा का द्विविध हेतु माना है।"[३] गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—"लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में अविनाभाव की प्रतीति होती है। जिस लक्षणा में लक्षित होते हुए गुणों का योग होता है, वहाँ गौणी वृत्ति होती है।"[४] प्राभाकर मीमांसकों के मतानुसार गौणी शक्ति लक्षणा से भिन्न है।[५] इसका उल्लेख 'प्रतापरुदीय' के रचयिता विद्यानाथ ने किया है।

तात्पर्यवृत्ति और वाक्यार्थ के सम्बन्ध में प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' प्रसिद्ध है—इनके मतानुसार जिसे वाक्यार्थ कहा जाता है वह वस्तु अभिधा-वृत्ति-विषय भूत ही अर्थ है क्योंकि पद आकांक्षा, योग्यता और सामीप्य के कारण सर्व प्रथम अन्वित होते हैं, तत्पश्चात् अभिधा द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है। भाट्ट मीमांसकों को अभिहितान्वयवादी कहा जाता है—क्योंकि इनके अनुसार पद प्रथम वाच्यार्थ को प्रस्तुत करता है, फिर अन्वित होकर वाक्यार्थ की प्रतीति कराता है। यह अर्थ वस्तुतः वाच्यार्थ न होकर तात्पर्यार्थ है। अतः यह अर्थ तात्पर्य नामक अलग शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है। ये मीमांसक प्रतीयमान अर्थ को अभिधा के द्वारा प्रतीत-वाच्यार्थ की कोटि में रखते हैं। ये लोग शब्द से विशिष्ट अर्थ का संकेत नहीं मानते, पदों का संकेत सामान्य अर्थ में मानते हैं, फिर आकांक्षा, योग्यता और सामीप्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति मानते हैं।

प्राभाकर मीमांसक तात्पर्य शक्ति को भी नहीं मानते, इनके मतानुसार वाच्यार्थ ज्ञान (संकेत ग्रहण) वाक्य के ही रूप में होता है। इनका कथन है—"समस्त व्यवहार वाक्यार्थ से ही होता है।"[६]

---

१. 'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्तते ? स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः'—
मी० भा०, शबर स्वामी ३।३

२. लक्षणाऽपि हि लौकिक्येव—मीमांसा भाष्य............. ।

३. निरूढाः लक्षणाः काश्चित सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतंकाश्चित्— काश्चिनैवत्वशक्तितः ।। —'तंत्रवार्तिकः !.............

४. अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणोच्यते । लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।
तंत्रवार्तिक. का० प्र० सं० स० सिंह सं० १८५५ पृ० ३९

५. गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्रभाकराः ।
—प्रतापरुद्रीय (के० पी० त्रिवेदी सं० पृ० ४४)

६. वाक्यार्थेन व्यवहारः–बृहती पृ०१९९ (बृ० टीका ऋजुविमला, शालिकनाथ मिश्र) ।

इस प्रकार मीमांसक, शब्द की तृतीय शक्ति व्यंजना को नहीं स्वीकार करते बल्कि उसे अभिधा या तात्पर्य वृत्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं।

मुकुल भट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा शक्ति का विवेचन किया है और लक्षणा को भी अभिधा का ही अङ्ग माना है।[1] फिर भी लक्षणा का विशद विवेचन उनकी पुस्तक में प्राप्त होता है। वे लक्षणा के–वक्ता, वाक्य तथा वाच्य तीन भेदक तत्व मानते हैं। इन्हीं तीनों भेदक तत्वों के आधार पर शुद्धा तथा उपचार दोनों प्रकार की लक्षणाओं के तीन-तीन भेद भी वे करते हैं। वे इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद करते हैं।[2] इनके अनुसार वक्ता, वाक्य और वाच्य का जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः लाक्षणिक शब्दों में अपने आप अर्थ बोधन की क्षमता नहीं है। इनकी वक्तृनिबन्धना लक्षणा वस्तुध्वनि के समान है, वाक्यनिबन्धना अलंकार ध्वनि के सदृश और वाच्यनिबन्धना रसध्वनि के सदृश है। इस तरह लक्षणा के नाम पर व्यंजना का अन्तर्भाव किया गया है।

कुतंक भी अभिधा जैसी एक ही शक्ति मानते हैं। इनकी वक्रोक्ति प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न विलक्षण और विचित्र अभिधा ही है।[3] इनके अनुसार लक्षणा शक्ति अभिधा का ही एक अङ्ग है और व्यंजना को भी वे लक्षणा के अन्तर्भूत मानते हैं। उन्होंने उपचार वक्रता के अन्तर्गत आंशिक-व्यंजना का, पर्यायवक्रता के अन्तर्गत शब्द शक्तिमूला व्यंजना का, और अन्य प्रकार की वक्रताओं में कई ध्वनि भेदों का अन्तर्भाव कर लिया है।[4]

व्यंजना शक्ति के विरोधी आचार्यों में सबसे प्रमुख स्थान महिम भट्ट का है। अपने 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रन्थ में इन्होंने व्यंजना का खण्डन किया है। वे व्यंग्यार्थ को व्यंजना के द्वारा प्रतीयमान अर्थ न मानकर अनुमेय मानते हैं। अतः उनके मत में अनुमान द्वारा ही व्यंग्यार्थ की उपलब्धि होती है। उनका कथन है कि—शब्द तथा अर्थ में से कोई भी व्यंजक नहीं हो सकता। शब्द में केवल अभिधा होने से वह सदा वाचक ही होगा, तथा अर्थ में केवल लिंगता होने से सदा हेतु होगा।[5]

---

१. इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्। —अभिधा वृ० मा० का० १२

२. वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात।
लक्षणा त्रिप्रकारैव विवेक्तव्या मनीषिभिः। —अभिधा वृ० मा० का० ६

३. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० २१, डा० डे द्वारा सं० १९२५

४. एष शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः॥
वक्रोक्तिजीवित, पृ० ७ डॉ० डे द्वारा सं० १९२५

५. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥—व्यक्ति वि० १, २६ पृ० १०५

वश अपने अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है।"[१] इसके अतिरिक्त लक्षणा की मान्यता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि—"लक्षणा इसलिए मान्य है क्योंकि लोक में जो वाग्व्यवहार है उसी में यह अनुस्यूत है।"[२]

महामीमांसक कुमारिल भट्ट ने इसीलिए "रूढ़ि और प्रयोजन को लक्षणा का द्विविध हेतु माना है।"[३] गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—"लक्षणा में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ में अविनाभाव की प्रतीति होती है। जिस लक्षणा में लक्षित होते हुए गुणों का योग होता है, वहाँ गौणी वृत्ति होती है।"[४] प्राभाकर मीमांसकों के मतानुसार गौणी शक्ति लक्षणा से भिन्न है।[५] इसका उल्लेख 'प्रतापरुदीय' के रचयिता विद्यानाथ ने किया है।

तात्पर्यवृत्ति और वाक्यार्थ के सम्बन्ध में प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' प्रसिद्ध है—इनके मतानुसार जिसे वाक्यार्थ कहा जाता है वह वस्तु अभिधा-वृत्ति-विषय भूत ही अर्थ है क्योंकि पद आकांक्षा, योग्यता और सामीप्य के कारण सर्व प्रथम अन्वित होते हैं, तत्पश्चात् अभिधा द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है। भाट्ट मीमांसकों को अभिहितान्वयवादी कहा जाता है—क्योंकि इनके अनुसार पद प्रथम वाच्यार्थ को प्रस्तुत करता है, फिर अन्वित होकर वाक्यार्थ की प्रतीति कराता है। यह अर्थ वस्तुतः वाच्यार्थ न होकर तात्पर्यार्थ है। अतः यह अर्थ तात्पर्य नामक अलग शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है। ये मीमांसक प्रतीयमान अर्थ को अभिधा के द्वारा प्रतीत-वाच्यार्थ की कोटि में रखते हैं। ये लोग शब्द से विशिष्ट अर्थ का संकेत नहीं मानते, पदों का संकेत सामान्य अर्थ में मानते हैं, फिर आकांक्षा, योग्यता और सामीप्य के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्रतीति मानते हैं।

प्राभाकर मीमांसक तात्पर्य शक्ति को भी नहीं मानते, इनके मतानुसार वाच्यार्थ ज्ञान (संकेत ग्रहण) वाक्य के ही रूप में होता है। इनका कथन है—"समस्त व्यवहार वाक्यार्थ से ही होता है।"[६]

---

१. 'कथं पुनः परशब्दः परत्र वर्तते ? स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूमः'—
मी० भा०, शबर स्वामी ३।३

२. लक्षणाऽपि हि लौकिक्येव—मीमांसा भाष्य............ ।

३. निरूढाः लक्षणाः काश्चित सामर्थ्यादभिधानवत्। क्रियन्ते साम्प्रतंकाश्चित्—काश्चिन्नैवत्वशक्तितः ।। —'तंत्रवार्तिकः !'............

४. अभिधेयाविनाभावप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद वृत्तेरिष्टा तु गौणता।
तंत्रवार्तिक. का० प्र० सं० स० सिंह सं० १८५५ पृ० ३९

५. गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्रभाकराः।
—प्रतापरुद्रीय (के० पी० त्रिवेदी सं० पृ० ४४)

६. वाक्यार्थेन व्यवहारः—बृहती पृ० १९९ (बृ० टीका ऋजुविमला, शालिकनाथ मिश्र)

इस प्रकार मीमांसक, शब्द की तृतीय शक्ति व्यंजना को नहीं स्वीकार करते बल्कि उसे अभिधा या तात्पर्य वृत्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं।

मुकुल भट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्ति मातृका' में अभिधा शक्ति का विवेचन किया है और लक्षणा को भी अभिधा का ही अङ्ग माना है।[1] फिर भी लक्षणा का विशद विवेचन उनकी पुस्तक में प्राप्त होता है। वे लक्षणा के–वक्ता, वाक्य तथा वाच्य तीन भेदक तत्व मानते हैं। इन्हीं तीनों भेदक तत्वों के आधार पर शुद्धा तथा उपचार दोनों प्रकार की लक्षणाओं के तीन-तीन भेद भी वे करते हैं। वे इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद करते हैं।[2] इनके अनुसार वक्ता, वाक्य और वाच्य का जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः लाक्षणिक शब्दों में अपने आप अर्थ बोधन की क्षमता नहीं है। इनकी वक्तृनिबन्धना लक्षणा वस्तुध्वनि के समान है, वाक्यनिबन्धना अलंकार ध्वनि के सदृश और वाच्यनिबन्धना रसध्वनि के सदृश है। इस तरह लक्षणा के नाम पर व्यंजना का अन्तर्भाव किया गया है।

कुतंक भी अभिधा जैसी एक ही शक्ति मानते हैं। इनकी वक्रोक्ति प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न विलक्षण और विचित्र अभिधा ही है।[3] इनके अनुसार लक्षणा शक्ति अभिधा का ही एक अङ्ग है और व्यंजना को भी वे लक्षणा के अन्तर्भूत मानते हैं। उन्होंने उपचार वक्रता के अन्तर्गत आंशिक-व्यंजना का, पर्यायवक्रता के अन्तर्गत शब्द शक्तिमूला व्यंजना का, और अन्य प्रकार की वक्रताओं में कई ध्वनि भेदों का अन्तर्भाव कर लिया है।[4]

व्यंजना शक्ति के विरोधी आचार्यों में सबसे प्रमुख स्थान महिम भट्ट का है। अपने 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रन्थ में इन्होंने व्यंजना का खण्डन किया है। वे व्यंग्यार्थ को व्यंजना के द्वारा प्रतीयमान अर्थ न मानकर अनुमेय मानते हैं। अतः उनके मत में अनुमान द्वारा ही व्यंग्यार्थ की उपलब्धि होती है। उनका कथन है कि—शब्द तथा अर्थ में से कोई भी व्यंजक नहीं हो सकता। शब्द में केवल अभिधा होने से वह सदा वाचक ही होगा, तथा अर्थ में केवल लिंगता होने से सदा हेतु होगा।[5]

---

१. इत्येतदभिधावृत्तं दशधात्र विवेचितम्। —अभिधा वृ० मा० का० १२

२. वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात।
लक्षणा त्रिप्रकारैष विवेक्तव्या मनीषिभिः। —अभिधा वृ० मा० का० ६

३. वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० २१, डा० डे द्वारा सं० १९२५

४. एष शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्यस्य पदध्वनेर्विषयः॥
वक्रोक्तिजीवित, पृ० ७ डॉ० डे द्वारा सं० १९२५

५. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम्॥—व्यक्ति वि० १, २६ पृ० १०५

अपोहवादियों के मतानुसार शब्द का संकेत 'अपोह' या अतद्व्यावृत्ति में होता है। इन बौद्ध दार्शनिकों ने शब्द का संकेत जाति में नहीं स्वीकार किया क्योंकि जाति नित्य पदार्थ है और किसी पदार्थ की नित्यता इनके मत से अनुपपन्न है। व्यक्ति भी क्षणभंगुर है, इसलिए उसमें भी शाब्द-बोध नहीं माना जा सकता है। इसी कारण से इनका कथन है कि अन्य पदार्थ के निराकरण पर जो अवशेष पदार्थ रहते हैं, यद्यपि उनमें भी क्षणिकता वर्तमान रहती है फिर भी दीपकलिका या नदी प्रवाह की तरह उनमें अखण्डता होने के कारण स्थिरता की भ्राँति हो जाती है।[1]

धनिक का कथन है कि—"प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य से भिन्न नहीं होता है और काव्य ध्वनि भी उसका व्यंजक नहीं हैं। वस्तुतः इनकी तात्पर्यवृत्ति को जहाँ तक कार्य होता है वहाँ तक फैलाया जा सकता है।[2]

भट्ट लोल्लट के मतानुसार अभिधा एक अर्थ बोध कराने के बाद क्षीण नहीं होती है, अपितु दूसरे अर्थों को भी द्योतित करती रहती है। —अतः वाक्य से जितने भी अर्थों की प्रतीति होती है, उन सभी व्यापारों में अभिधा ही इनके मतानुसार वर्तमान रहती है। इसीलिए वे इस व्यापार को दीर्घ दीर्घतर मानते हैं।[3]

ध्वनिकार, अभिनव गुप्त तथा सम्मट आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित व्यंजना व्यापार :—

"महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान अर्थ जैसा एक विशेष ही तत्व पाया जाता है। जिस प्रकार कामिनियों के अङ्गों में लावण्य जैसी एक सर्वथा विलक्षण ही वस्तु होती है, ठीक वैसे ही काव्य में भी यह प्रतीयमान अर्थ काव्य के अन्य अङ्गों से सर्वथा भिन्न तथा अतिशय चमत्कारकारी होता है।"[4] उदाहरण के लिए 'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः' में अभिधा तो इतना कहकर ही मौन हो जाती

---

१. "वक्तावानन्त्यादिदोषाद् भावस्य च देशकालानुगमाभावात् तदनुगताया अतद्व्यावृत्तौ संकेत इति सौगताः।"–गोविन्द ठक्कुर :–प्रदीप, द्वितीय उ०, पृ० ३६ सन् १९२९

२. तात्पर्य व्यक्तिरिक्तत्वात् व्यंजकत्वस्य न ध्वनिः।
यावत् कार्य प्रसारित्वाद् तात्पर्य न तुलधृतम्॥ दशरूपक, प्र० ४, श्लोक ३७ अवलोक टीका में

३. "सोऽयमिषो रिवदीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः।"
–सा० दर्पण, सं० शालिग्राम शास्त्री, द्वि० अ०, पृ० २१९, प० ३, सं० १९९१.

४. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यद्यत्प्रसिद्धावमवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
—ध्वन्यालोक का० ४ उ० १

है कि—जिस पथ से वाली यमपुर गया है, वह संकुचित नहीं हुआ है। लक्षणा संकुचित का आशय स्पष्ट कर सकती है किन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो' की प्रतीति कैसे होती है ? इसके लिए व्यंजना की सत्ता मानना अनिवार्य है। कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दों में उपर्युक्त मतों का सारांश यहाँ द्रष्टव्य है:—

१—जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है, लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता हैं।

२—असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य में रस-भावादि व्यंग्य रहते हैं जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ हैं, न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३—समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वदा एक ही होता है परन्तु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

४—प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

५—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कालभेद सर्वत्र रहता है। अर्थात् वाच्यार्थ —का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद में होता है।

६—वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष में भी रहता है।

७—वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान मात्र से हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिमा द्वारा काव्य मार्मिकों को ही भासित होता है।

८—वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ और शब्द-शक्ति

वैयाकरण शब्द दो प्रकार के मानते हैं (१) कार्य (अनित्य) और (२) नित्य।[1] अनित्य से उनका अभिप्राय है, श्रोत्रग्राह्य अथवा उच्चारणजन्य ध्वनि। इसी को नाद भी कहा गया है। नित्य से उनका तात्पर्य मूल शब्द तत्व से है, जो न उच्चारण जन्य है, और न श्रोत्रग्राह्य ही। इसे ही वे स्फोट कहते हैं।[2] अतः

---

१. तत्र त्वेष निर्णयः। यद्येव नित्यः। अथापिकार्यः उभयथापि लक्षणंप्रवर्त्यमिति। महाभाष्य १ म० आ० पृ० १३

२. स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः—महाभाष्य १ म० आ० पृ० १३

अर्थ की जिससे प्रतीति हो उसे स्फोट कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भेद—पहला ध्वनि और दूसरा स्फोट हुआ। ध्वनि से व्यक्त होने पर ही स्फोट, अर्थ प्रत्यायक होता है। वास्तव में यह स्फोट व्यंग्य और ध्वनि—व्यंजक है।[1] स्फोट सदैव एक रूप रहता है। यह अभिन्न, कालिक, निरवयव, पूर्ण और नित्य है।[2] यही अर्थ प्रत्यायन का मूल हेतु है। इसके अभाव में पूर्वा पर क्रम की अवतारणा भी सम्भव नहीं होती है।[3]

सिद्धान्त-रूप में वैयाकरण अखंड वाक्य स्फोट को ही स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार न तो पद है, न ही पद निर्माता वर्ण समूह ही है। वर्ण का निर्माता वर्णावयव भी कोई नहीं है।[4] पद और वाक्य के सम्बन्ध में उनके विचार इस प्रकार हैं - पद और अर्थ में मूलतः कोई भेद नहीं होता है।

शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को वे नित्य मानते हैं।[5] इसकी पुष्टि महाभाष्य-कार पतंजलि ने भी की है। भर्तृहरि ने अर्थ के समूह को शब्द पर ही अवलम्बित माना है। शब्द उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस शब्द का अर्थ है। इनके मत से 'वाक्य उस पद को कहते हैं, जो एक ही क्रिया के द्वारा अभिहित अर्थ का बोध कराता है।[6] 'कैयट' के अनुसार इसका एक ही अर्थ है, प्रत्येक शब्द में अर्थावयव के बोध की योग्यता होती है। ये लोग नित्यता के बल पर शब्द और अर्थ को एक ही आतमा के दो रूप मानते हैं।[7] स्फोटवादी स्फोट को समझाने के लिए कहते हैं कि स्फोट तो अँधेरे में रखे हुए घड़े के सदृश्य है, जिसकी ज्ञप्ति दीपक से होती है। घड़ा तो पहले से ही रहता है। दीपक मात्र उसे प्रकाशित कर देता है। उसी तरह स्फोट तो नित्य तथा अखण्ड तत्व है, वर्ण, पद तथा वाक्य केवल उसे

---

१. ग्रहण ग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ –वा० प० १।९८

२. स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं तु वैकृतः ॥ —वा० प० १।७८

३. नादस्य-क्रमजातत्वन्न पूर्वोनापरश्च सः। —वा० प० १।४९

४. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्वयवा न च।
वाक्यात्पदानात्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ —वा० प० १।७४

५. "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" ––कात्यायन–म० भा० १।१

६. वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम् ···तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधी-यते ॥ –वा० प० २, ३२६-२७

७. "एकस्यैवात्मनोभेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ"। —वा० प० २।३१

व्यंजित करते हैं।[1] अभिधा के सम्बन्ध में भर्तृहरि कहते हैं कि—शब्दों में अभिधान (वाचक) तथा अभिधेय (वाच्य) का सम्बन्ध अभिधा द्वारा नियमबद्ध किया जाता है।[2] अभिधेयार्थ की प्राप्ति के सम्बन्ध में यह मत द्रष्टव्य है कि अभिधेयार्थ लोक-व्यवहार से जाना जाता है।[3] संकेत के सम्बन्ध में वैयाकरणों का कथन है कि–जब हम किसी पदार्थ का बोध कराते हैं, तो केवल जाति या व्यक्ति का ही बोध न करा कर पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य (व्यक्ति) चारों का बोध कराते हैं। अतः इन चारों की सम्मिलित शक्ति (उपाधि) में संकेत मानना उचित है। वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—यदि गोःशुक्लश्चलो डित्थः (गाय, सफेद, जाता हुआ, डित्थ) को लें, तो यदि व्यक्ति में शक्ति मानें तो चारों शब्दों का अर्थ एक ही गो व्यक्ति होगा, फिर तत्तत् भाव का बोध न हो सकेगा। अतः शब्द का संकेत उपाधि में होता है।[4] लक्षणा के सम्बन्ध में पातंजलि ने पाणिन के सूत्र में व्याख्या के प्रसंग में एक प्रश्न उठाया है।[5] इसके उत्तर में उन्होंने चार प्रकारों का निर्देश किया है–१–तात्स्थ्य–मचान हँसते हैं। २—ताद्धर्म्य–ब्रह्मदत्त जटी है। ३—तात्सा-मीप्य—गंगा में घोष है। ४—तात्साहचर्य—कुन्तों को अन्दर भेज दो। मम्मट प्रभृति विद्वानों ने शक्ति प्रकरण में इनको आधार रूप में स्वीकार किया है। वैया-करण जो मम्मट से प्रथम हुए, वे शब्द शक्ति के दो ही भेद अभिधा और लक्षणा को मानते थे।

नागेश ने शब्द शक्तियों के विषय में वैयाकरणों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए "वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा नामक ग्रन्थ की रचना की हैं। इस ग्रन्थ को नागेश ने "वृहन्मंजूषा", "लघुमंजूषा" तथा "परमलघुमंजूषा" ये तीन रूप दिए हैं। शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का ज्ञान "लघुमंजूषा" से पर्याप्त रूप में हो जाता है। उनका कथन है कि "वाक्य में मुख्यार्थबाध के बाद भी अर्थ की प्रतीति होती है। यह

---

१. यदि कश्चिदेवमाह न वर्णत्रयमर्थस्य वाचकम् स्फोटव्यतिरिक्तत्वात्घटवदिति ॥
उम्बेकः श्लोकवार्तिक टीका स्फोटप्रकरण. १३१

२. क्रियाव्यववेतः सम्बन्धो दृष्टः करण कर्मणोः।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः ॥ —वा० प० २।४०

३. लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियमः। म० भा० प्रथम आ० पृ० १७

४. यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद–व्यभि-चाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लाश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषय विभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः।
[काव्य-प्रकाश, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह सं० १९५५ द्वितीय उल्लास पृ० २६]

५. 'पुंयोगादाख्यायाम' –अष्टाध्यायी–४, १, ४८.

अर्थ या तो प्रसिद्ध अर्थ होता है या अप्रसिद्ध। यह कभी तो मुख्यार्थ से—सम्बद्ध होता है, कभी नहीं भी होता है। इस प्रकार का अर्थ जिस शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है, वही व्यंजना है'।[1] उन्होंने कहा है "कटाक्ष से अभिलाषा की व्यंजना होती है, इस प्रकार की प्रतीत अनुभव सिद्ध तथा प्रसिद्ध है। अतः चेष्टा में भी व्यंजना मानना आवश्यक है।"[2] उनके मत से पद और अर्थ दोनों व्यंजक होते हैं। जहाँ अर्थादि व्यंजक होते हैं, वहाँ व्यंग्यार्थ बोध वक्तृबोद्धव्यवाच्यादि—वैशिष्ट्य ज्ञान के द्वारा ही होता है। श्रोता की 'प्रतिभा' भी इस प्रतीति में सहकारी कारण होती है।[3] वे व्यंजना को पूर्वजन्म के संस्कार से भी संबद्ध मानते हैं।[4] इसका अभिप्राय यह है कि वाच्यार्थ के जान लेने पर ही व्यंग्यार्थ का ग्रहण होता है। अतः ऐसे प्रकरण में मुख्यार्थ बाध नहीं होता। इसलिए यह अर्थ लक्षणा से उपपादित नहीं होता, फिर लक्षणा में व्यंजना को कैसे अन्तर्भावित किया जा सकता है?[5] पदों की तरह अव्यय उपसर्गादि भी व्यंजक होते हैं। स्फोट तो व्यंग्य ही माना गया है। नागेश के मत से निपात पदशक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध कराते हैं। उनका कथन है कि—वैयाकरणों के लिए भी व्यंजनावृत्ति का मानना आवश्यक है।[6]

---

१. "मुख्यार्थवाधग्रह निरपेक्षण बोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धा-सम्बद्ध साधारण प्रसिद्ध प्रसिद्धार्थ विषयको वक्त्रादि वैशिष्टय ज्ञानप्रतिभादयुद्बुद्धः संस्कार विशेषो व्यंजना।" [वै० सि० लघुमंजूषा सं० सभापति शर्मा उपाध्याय सं० १९८६, पृ० १३३, व्यंजनानिरूपणम्]

२. "एषा च शब्द-तदर्थ-पद पदैकदेश वर्ण-रचना चेष्टादिषु सर्वत्रतथैवानुभवात्।' [वै० सि० मं० सं० १९८६ पृ० १३३ व्यंजना निरूपणम् सं० सभापति शर्मा उपाध्याय]

३. "वक्त्रादिवैशिष्टयादिज्ञानं व्यंग्यविशेषबोधे सहकारीति न सर्वत्र तदपेक्षेत्यन्यत्र-विस्तारः।" [वै० सि० म०, सं० सभापति शर्मा उपाध्याय, सं० १९८६ पृ० १३३ व्य० नि०]

४. "एवञ्च शक्तिरेतज्जन्मानुभूतैवबोध जनिका व्यञ्जनातु जन्मान्तरगृहीताऽपीत्यपि-विशेषोऽत्र।" [वै० सि० मं०, सं० सभापति शर्मा उपाध्याय सं० १९८६ पृ० १३३ व्यं० वि०]

५. "तेषां मुख्यार्थाभावेन लक्षणायां असम्भवाद द्योतकतैवति भावः।" [वै० सि० मं० सं० सभापति शर्मा उपाध्याय, सं० १९८६ पृ० १३४]

६. '......वैयाकरणानामव्येतत्स्वीकार आवश्यकः।" [वै० सि० मं० सभापति शर्मा उपाध्याय, सं० १९८६ पृ० १३३]

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में शब्द शक्ति का विवेचन

शब्द शक्तियों के सम्बन्ध में साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने पर्याप्त मात्रा में विचार किया है। यदि सच पूछा जाए तो काव्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अङ्गों और उपाङ्गों में शब्द-शक्ति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अङ्ग है। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार व्यंजना शक्ति ही काव्य का मूल आधार है। मम्मट जैसे प्रकाण्ड मनीषी आचार्य व्यंजना युक्त काव्य को ही सर्व श्रेष्ठ मानते हैं।[1] अतः साहित्य-शास्त्र के आचार्यों के सामने व्यंजना-शक्ति को मानने और मनवाने का एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य था। इस कार्य में उन्हें अन्य शास्त्रों के उद्भट विद्वान आचार्यों से बहुत गम्भीर शास्त्रार्थ करना पड़ा है। इस कार्य में उनकी सफलता इतनी मूल्यवान समझी गई थी कि मम्मट और विश्वनाथ ने 'ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' की गौरव-पूर्ण उपाधि से अपने को विभूषित किया। शब्द-शक्तियों का अभिधा, लक्षण और व्यंजना के रूप में विविधि विभाजन काव्य-शास्त्र में ही पूर्णतया स्पष्ट हुआ है और वस्तुतः वहीं से इसका सार्वत्रिक प्रचार भी हुआ है। यहाँ हम साहित्य-शास्त्र में किए गए शब्द-शक्ति विचार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए आचार्य मम्मट ने वाचक लाक्षणिक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थ बताए हैं।[2] इसी प्रकार शब्द व्यापार भी अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में तीन प्रकार का होता है। यही तीनों शब्द की शक्तियाँ हैं। शब्द के उच्चारण के साथ जिस अर्थ का बोध होता है, वह उस शब्द का मुख्य अथवा वाच्य अर्थ है। मुख्य अर्थ और उसके बोधक अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है और जिस वृत्ति के कारण इन दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध उत्पन्न होता है उसे अभिधा व्यापार कहते हैं।[3] उदाहरणार्थ पुरुष से मानववंशान्तर्गत नर का बोध होता है, यही इसका मुख्यार्थ है। मानव वंश के अन्तर्गत नर-व्यक्ति अथवा जाति यह पदार्थ और पुरुष शब्द इन दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध अभिधा से ज्ञात होता है। किन्तु व्यवहार में शब्द के मुख्य अर्थ से ही निर्वाह नहीं होता है। बहुत जगह मुख्य अर्थ से भिन्न किन्तु उससे सम्बन्धित अर्थ भी लेना पड़ता है जो लक्षणा और व्यंजना के क्षेत्र में आ जाते हैं।[4]

---

१. इदमुत्तममति शयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।
काo प्रo प्रथम उल्लास काo ४

२. स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्यंजक स्त्रिधा। काo प्रo उo २, काo ५

३. 'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।' काo प्रo उo २, काo ११

४. शब्द व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेपस्य पुनः लक्ष्यमाणात्व मुच्यते॥ अभिधा वृत्तिमातृका

जब अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाला अर्थ बाधित हो जाता है तब यदि उसी से संबद्ध कोई अन्य अर्थ लिया जाए और उसे लेने में कोई रूढ़ि [प्रयोग परम्परा] अथवा प्रयोजन विशेष हो तो इस प्रकार उपलब्ध होने वाला अर्थ लक्ष्य अर्थ होता है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द लाक्षणिक कहलाता है और शब्द-व्यापार लक्षणा।

नैयायिक शब्द की केवल अभिधा वृत्ति को स्वीकार करते हैं और लक्षणा को अनुमान के अन्तर्गत स्वीकार कर लेते हैं।

मीमांसक अभिधा और लक्षणा दोनों वृत्तियों को स्वीकार करते हैं।

व्यंजना साहित्य शास्त्रियों ने एक तीसरा अर्थ भी माना है जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। जिस शब्द से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यंजक कहते हैं। अर्थ और शब्द में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध होता है। जिस व्यापार से इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है उसे व्यंजना व्यापार कहते हैं। उत्तर रामचरित का एक उदाहरण देखिए :—

> **हे हस्त दक्षिणा मृतस्य शिशोर्द्विजस्य**
> **जीवातवे विस्टज शूद्रमुनौ कृपाणम्।**
> **रामस्य बाहुरसि निर्भर गर्भ खिन्न—**
> **सीतारिवासनपटो करुणा कुतस्ते॥** **उत्तर०—२।१०**

यहाँ राम शब्द का अर्थ 'दशरथ पुत्र' रूप मुख्यार्थ को प्रकट नहीं करता वरन् यहाँ इसका लक्ष्यार्थ है। बिना किसी हिचकिचाहट के क्रूर कर्म करने वाला ही प्रमुख है। किन्तु यह अर्थ यहीं शान्त नहीं होता, क्योंकि राम की यह आत्म-भर्त्सना सीता के प्रति अपने द्वारा किए गए की प्रतीति करती है। इस कथन से राम के अन्तर में छिपे हुये दुःखादि के भाव व्यक्त होते हैं।

साहित्य-शास्त्र ने व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ, व्यंग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध और व्यंजना व्यापार को स्वीकृत किया है। यही साहित्य-शास्त्र की विशेष उपलब्धि है। इस सम्बन्ध में मम्मट का अभिप्राय यह है कि—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक ये तीनों भेद काव्य में ही हो सकते हैं। वृत्ति भेद से एक ही शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों हो सकता है।

व्यंग्यार्थ ही काव्य का परमार्थ है, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अभिधा और लक्षणा का काव्य में कोई स्थान ही नहीं है। काव्यगत शब्द-व्यापार केवल अभिधा या लक्षणा में ही न रुक कर आगे भी बढ़ता है, तथा व्यंजना में जा कर विश्रान्त होता है। इसी को काव्य में शब्दार्थ के सहभाव का चरम पर्यवसान कहते हैं। आनन्दवर्धन इसी को ध्वनि कहते हैं और कुन्तक इसी को साहित्य का परमार्थ कहते हैं।

अभिधा और वाच्य-वाचक सम्बन्ध

अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध निष्पन्न होता है। मम्मट का कथन है कि उच्चारण होते ही जो शब्द साक्षात् सांकेतिक अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है वह वाचक शब्द होता है।[1]

संकेत क्या है ?

नैयायिकों का मत है कि शब्द का संकेत ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होता है। इसी का विरोध करते हुए नव्य नैयायिकों ने कहा—"इच्छामात्रं संकेत:"। नैयायिकों के इस मत का खण्डन करते हुइ नागेशभट्ट ने 'परमलघुमंजूषा' में लिखा है—इच्छा चाहे वह ईश्वर की हो या नर की, शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं स्थिर कर सकती।

संकेत निर्धारण के सम्बन्ध में नागेश भट्ट का कथन है कि—पद और पदार्थ में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध पाया जाता है। इतरेतराध्यास के द्वारा उत्पन्न हुए तादात्म्य के कारण इस वाच्य-वाचक सम्बन्ध का निर्माण होता है। "शब्दार्थों का इतरेतराध्यास ही संकेत का स्वरूप है।"[2] इस इतरेतराध्यास के कारण होने वाला तादाम्य ही शब्दार्थगत् सम्बन्ध है जो वास्तव में एक दूसरे से भिन्न है, उनकी अभेद से प्रतीति होना ही तादात्म्य है। शब्द और अर्थ परस्पर भिन्न होने पर भी अभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। यहाँ भेद वास्तविक होता है और अभेद अध्यस्त। अतएव भेद और अभेद के एकस्थ होने पर भी विरोध नहीं होता।

शब्दार्थों का इतरेतराध्यास ही संकेत है। जो शब्द है वही अर्थ है या जो अर्थ है वही शब्द है, इसी प्रकार का इसका स्वरूप है। इतरेतराध्यास के साथ संकेत स्मृत रूप होता है।[3] वैयाकरणों का मत है कि—संकेत यदि पहले से ज्ञात हो तभी शब्द से अर्थ का बोध होता है। संकेत ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है बल्कि शब्द के साथ संकेत स्मरण भी होना चाहिए। वाच्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ में भी एक दृष्टि से शब्द का संकेत रहता है। पर इन दोनों में संकेत भेद है। लक्ष्यार्थ में शब्द का व्यवहित संकेत रहता है। वाच्यार्थ में अव्यवहित संकेत होता है। अव्यवहित संकेत ही साक्षात् संकेत है। जिस शब्द का जिस अर्थ से संकेत सम्बन्ध रहता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक है, वह अर्थ उस शब्द का वाच्य है। अत: दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही होता है।

---

१. "साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।" काव्यप्रकाश, उ० २, क० ७

२. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरः। पतंजलिसूत्र ३।१७

३. तदुक्तं पातञ्जलभाष्य-संकेतस्तु पद पदार्थयोरितरेतराध्यासरूप: स्मृत्यात्मकः, योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः इति।

[वै० सि० लघुमंजूषा, टीका० सभापति शर्मा, सं० १९८६ पृ० २५ शक्तिनिरूप०]

संकेत अर्थ का भेद—

वैयाकरणों के मत से संकेतित अर्थ के चार भेद हैं—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। मीमांसकों के मत के अनुसार संकेतितार्थ का एक ही भेद 'जाति' है। नैयायिकों के अनुसार संकेत जाति विशिष्ट व्यक्ति में निहित है। बौद्धों के मतानुसार संकेत 'अन्यापोह' रूप है। कुछ नैयायिक संकेत को केवल व्यक्ति में निहित मानते हैं। इन विभिन्न मतों के होते हुए भी साहित्य-शास्त्रियों ने वैयाकरणों का अनुसरण किया है।

वैयाकरणों के अनुसार संकेत—

उनका मत है कि—"शब्दों का संकेत व्यक्ति में न होकर व्यक्ति की उपाधि में होता है। उपाधि का अर्थ है व्यवच्छेदक धर्म। व्यक्ति के उपाधि धर्म के चार शब्द भेद हैं—

उपाधि
↓ वस्तु धर्म
↓ यदृच्छासंनिवेशित (संज्ञा या द्रव) (४)

वस्तु धर्म
↓ सिद्ध
↓ साध्य (क्रिया) (३)

सिद्ध
↓ वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति (१)
↓ विशेषाधानहेतु गुण (२)
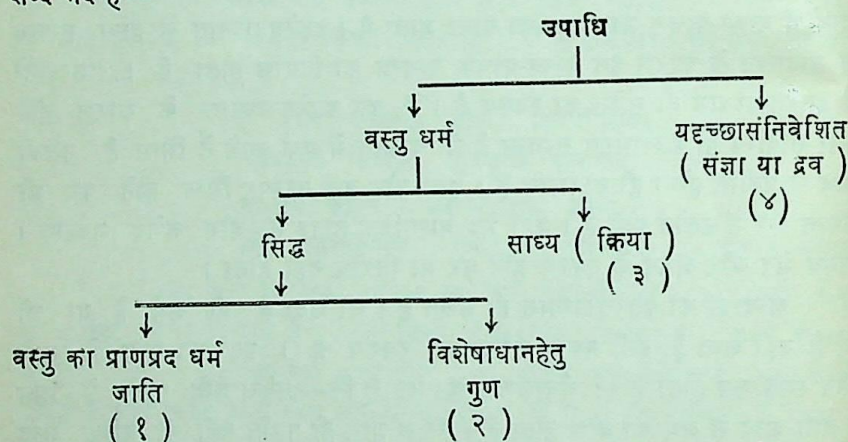
[यह सजरा 'भारतीय साहित्य शास्त्र के पृ० १७२ से उद्धृत किया गया है] उपाधि धर्म के चार भेद हैं—(१) जाति, (२) गुण, (३) क्रिया और (४) यदृच्छा। व्यक्ति में पाए जाने वाले धर्म के दो भेद होते हैं। कुछ धर्म व्यक्ति में मूलतः होते हैं। (वस्तु धर्म) कुछ धर्म हम उस व्यक्ति पर अपनी इच्छा से आरोपित करते हैं (यदृच्छासंनिवेशित)। यदृच्छासंनिवेशित धर्म ही संज्ञा है। वस्तु धर्म के भी दो भेद हैं। इसी साध्य धर्म को क्रिया कहते हैं। सिद्ध धर्म के दो भेद होते हैं—एक उस वस्तु का प्राणप्रद [व्यवहार की योग्यता देने वाले] धर्म है। यह धर्म ही जाति है। दूसरा धर्म व्यवहार योग्य व्यक्ति की कुछ विशेषता दर्शाता है। यही धर्म गुण है। जाति का धर्म व्यक्ति को व्यवहार योग्यता देता है। इसीलिए इसे प्राण प्रद कहा गया है।[1]

---

१. **अयं च जातिरूपः शब्दार्थः प्राणदः इत्युच्यते। प्राणं व्यवहारयोग्यतां ददाति संपादयतीति व्युत्पत्तेः। [रस गंगाधर द्वि० आनने, बाम्बे सं० १९३९ पृ० १८२]**

गो व्यक्ति के विषय में 'गौः' व्यवहार व्यक्ति आकार एवं रूप के कारण नहीं किया जाता है, बल्कि इसलिए ऐसा किया जाता है कि व्यक्ति में गोत्व-धर्म होता है। पंडितराज जगन्नाथ इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करते हैं:—

"व्यक्ति में गोत्व है। यह ज्ञान उस व्यक्ति के विषय में गोत्व से प्राप्त होता है। इसलिए उस व्यक्ति के विषय में "गौः' व्यवहार हो सकता है। जाति, धर्म व्यक्ति को व्यवहार योग्यता देता है, गुण धर्म व्यक्ति की विशेषता दिखलाता है। जाति-धर्म जिसका सिद्ध हो चुका है, ऐसे व्यक्ति का सजातीय से व्यावर्तन करने वाला धर्म है गुण।" १

वैयाकरणों के मत से शब्दों का साक्षात् संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा इन चार उपाधियों में होता है। कुछ शब्द जाति वाचक, कुछ गुण वाचक कुछ क्रिया वाचक और कुछ यदृच्छा व्यवहृत होते हैं।

मीमांसकों का संकेत विषयक मतः—

इनके मतानुसार संकेत केवल जाति रूप में होता है। इनका कहना है 'गो' व्यक्ति परस्पर भिन्न होते हैं, किन्तु उनका प्राणप्रद धर्म गोत्वजाति हीं है। शंख, हिम, दुग्ध आदि में शुक्ल गुण होता है पर सभी भिन्न होते हैं। किन्तु इनका सामान्य धर्म शुक्लता ही है। इस तरह क्रिया वाचक शब्द भी जातिवाचक है। मीमांसकों ने यदृचा शब्द को भी जातिवाचक बनाने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि—'डित्थः' शब्द का उच्चारण बाल, वृद्ध, नारी एवं तोते सभी अपने ढङ्ग से करते हैं, जिनमें भिन्नता तो अवश्य है पर समन्वय रूप से सब में डित्थत्व तो वर्तमान ही है। अतः यदृच्छात्मक संज्ञा शब्द भी जाति का ही बोध कराते हैं।

मीमांसकों को व्याकरण का स्फोटवाद स्वीकार नहीं था। इसलिए उन्हें इस प्रकार की युक्तियों का सहारा लेना पड़ा, किन्तु आलंकारिकों ने—वैयाकरणों के जात्यादिवाद को ही स्वीकार किया। इसकी विस्तृत व्याख्या मम्मटाचार्य ने "शब्द व्यापार विचार" में की है। इसी प्रसंग में उन्होंने नैयायिकों और बौद्धों का मत भी दिया है।

---

१. "गौः सास्नादिमान् धर्मी स्वरूपेण अज्ञातगोत्वकत्वेन धर्मिस्वरूपमात्रेण न गौः न गोव्यव्यवहार निर्वाहकः। नापि अगौः न गोभिन्नः इति व्यवहारस्य निर्वाहकः। तथा सति दूरादनभिव्यक्तसंस्थानतया गोत्वाग्रहदशायां गविगोः इतिवा, गोभिन्नः इति वा व्यवहारः स्यादिति भावः। गोत्वाभिसम्बन्धात् गोत्ववत्तया ज्ञानात् गौः शब्द व्यवहार्यः।

रसगंगाधर—चौखम्बा विद्याभवन, सं० २०११ वि० पृ० १४४

व्यक्तिबोध से सम्बन्धित विचार—

१. वैयाकरण और मीमाँसक दोनों स्वीकार करते हैं कि शब्द का संकेत व्यक्ति में नहीं होता। किन्तु व्यक्ति ही व्यवहार के लिए उपयुक्त होता है फिर भी शब्द का साक्षात् संकेत जाति में होता है।

२. जातिवाचक शब्द के द्वारा व्यक्ति का बोध कैसे होता है ? इस बात पर दोनों अलग-अलग विचार व्यक्त करते हैं।

३. मीमांसक कहते हैं—जाति से व्यक्ति लक्षित होता है। इसलिए वे उपादान लक्षण का सहारा लेते हैं।

४. वैयाकरण और आलंकारिक उपर्युक्त मत को नहीं स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जाति और व्यक्ति में अविनाभाव होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है। नागेशभट्ट के मत से संकेत ज्ञान निम्नलिखित आधार पर होता है—

१. व्याकरणगत विभक्तियाँ शब्द का अर्थ समझाने में सहायक होती हैं जैसे—रामः गच्छति (राम जाता है) में रामः शब्द की सुप् विभक्ति से हम समझते हैं कि यह कर्त्ता कारक है।

२. उपमान—कभी-कभी उपमान से अर्थबोध होता है—गो सदृशो गवयः।

३. कोष—कोष से भी अर्थ का बोध होता है।

४. आप्तवाक्य—गुरुमुख से अर्थ बोध होता है, इसे आप्तोपदेश कहते हैं।

५. व्यवहार—व्यहार से भी अर्थ बोध होता है।

६. वाक्यशेष से अर्थ का बोध होता है (अर्थ के विषय में सन्देह होने पर आगे आने वाले संदर्भ से अर्थ व्यक्त होता है)

७. विवृत्ति—शब्द की विवृत्ति से भी अर्थबोध होता है। विवृत्ति का अर्थ है—विवरण।

८. सन्निधि—अन्य जाति की सन्निधि से यदा-कदा अर्थ बोध होता है। 'रामकृष्णौ' में राम का अर्थ सन्निधि से ही बलराम हुआ है।[२]

मुख्यार्थ और अभिधा—

शब्द के संकेतित अर्थ को उसका मुख्य अर्थ कहते हैं। मुख्यार्थ वह अर्थ है

---

१. व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिः आक्षिप्यते—
का० प्र० उ० द्वितीय का १० परवृत्ति पृ० ४५, वामनीटीका सं० १९३३

२. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
कारिकावली, मुक्तावली, रामरुद्री दिनकरी सहित पृ० २६६

जो सर्व प्रथम शब्द द्वारा व्यक्त होता है।[1] जिस मुख्य व्यापार के कारण मुख्यार्थ बोध होता है उस व्यापार को ही अभिधा कहते हैं।[2] यहाँ मुख्य व्यापार शब्द महत्वपूर्ण है। इसी से अभिधा और अभिधामूला व्यंजना का हमें भेद प्रकट होता है। अभिधामूला व्यंजना में मुख्य अर्थ प्रकृत अर्थ मुख्य व्यापार द्वारा ज्ञात होते हैं। दूसरा अर्थ भी शब्द का मुख्य अर्थ ही है किन्तु प्रकृत न होने के कारण अमुख्य होता है। श्लेष और अभिधामूला व्यंजना में यही भेद है, देखिए—

प्रवर्तयन क्रियाः साध्वी मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः ॥

(भा० सा० शा० प्र० सं० १९६० पृ० १७५ लेखक गणेश त्र्यम्बक देशपांडेय)

[सत्कर्मों को प्रवर्तित करते हुए एवं दिशाओं की मलिनता को नष्ट करते हुए विभाकर आकाश में प्रदीप्त है—(विभाकर=(१) सूर्य (२) राजा)।

यहाँ कवि को सूर्य और राजा दोनों का वर्णन अभिप्रेत है, अतः दोनों मुख्यार्थ हुए। दूसरा उदाहरण देखिए:—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरु मलीमसः ।
पयोधर भरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणाम् ॥

(ध्वन्या० द्वि० उ० का० २१ की वृत्ति में लोचन टीका सहित सं० १९९७ पृ० २४१]

(प्रथम अर्थ—गगन में ऊँचा उठने वाला, धारा की वर्षा करने वाला तथा कृष्ण चन्दन के समान यह मेघ प्रिया की कामना किसके हृदय में नहीं पैदा करता, द्वितीय अर्थ—हार के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाला, कृष्ण चन्दन के अङ्ग-राग से युक्त उस तन्वी का उन्नत उर प्रदेश किसके मनमें कामना नहीं पैदा करता ?) प्रथम अर्थ प्रकृत है। अतः मुख्यार्थ है और द्वितीय अर्थ प्रकृत नहीं है, अतः अमुख्य व्यापार से अर्थ बोध हुआ है। वहाँ अमुख्य व्यापार ही व्यंजना व्यापार है।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में श्लेष है और दोनों अर्थों में अभिधा ही प्रवृत होती है। किन्तु दूसरे में अभिधामूला ध्वनि है । यह प्रकृत अर्थ में अभिधा और अप्रकृत अर्थ में अभिधामूला व्यंजना है।

वाचक शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) योगिक, (२) रूढ़ और (३) योगरूढ़।[3] योगिक शब्द का अर्थ उसके प्रकृति और प्रत्यय के अनुसार ही

---

१. शब्द व्यापाराद्यस्यावगतिस्तस्य (अर्थस्य) मुख्यत्वम्। [अभिधावृत्ति मातृका]
२. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।
—काव्यप्रकाश द्वि० उ० का० ८

३. विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द उच्यते।
रूढ़ियौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥ चन्द्रालोक १।९

होता है। पाठक, याचक, गांगेय आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। रूढ़ शब्द अपने प्रकृति-प्रत्ययजन्य अर्थ के स्थान पर अन्य अर्थ में रूढ़ हो जाता है, जैसे—मण्डप शब्द का प्रकृति-प्रत्यय जन्य अर्थ 'माँड़ का पीने वाला' है परन्तु यह शब्द इससे एक सर्वथा भिन्न अर्थ में रूढ़ हो गया है। योग रूढ़ शब्द वे शब्द होते हैं जो अपने प्रकृति-प्रत्यय से संबद्ध अर्थ को देते हुए भी एक विशेष अर्थ में रूढ़ अथवा सीमित हो जाते हैं जैसे—नीरधि, पंकज, सागर, भूरूह: शशी आदि। इन शब्दों में जो अर्थ रूढ़ है उसके साथ इनका यौगिक अर्थ भी घटित हो जाता है, लेकिन ये शब्द अपने योग से उत्पन्न होने वाले सभी अर्थों को प्रकट नहीं करते। पंकज अर्थात् कमल (रूढ़ अर्थ) पंक से उत्पन्न (यौगिक अर्थ) होता है, परन्तु कीचड़ से उत्पन्न होने वाली कमल से अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ पंकज नहीं होतीं।

लक्षण शक्ति

अभिधा शक्ति के वाच्यार्थ व्यापार को समझाने के पश्चात्—साहित्यिक मनीषियों ने अभिधा-व्यापार के बाध हो जाने पर अर्थबोध की सामर्थ्य पर अपना विचार व्यक्त करते हुए लक्षण-शक्ति की विवेचना की है। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का मत द्रष्टव्य है—

"मुख्यार्थ के बाध होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित होता है, उसे लक्षण कहते हैं।"[1]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस शब्द के द्वारा मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है उस वृत्ति को लक्षण कहते हैं। लक्षण के तीन निमित्त हैं—(१) मुख्यार्थ बाध, (२) तद्योग और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

दैनिक व्यवहार में जब मुख्यार्थ से काम नहीं चलता अर्थात् शब्द के व्युत्पत्तिगत अर्थ की सामर्थ्य अभिप्राय व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है तो 'लक्षण' का प्रयोग होता है, जैसे—"सामाजिक भेड़ियों से बचो।' इस कथन में सामाजिक भेड़ियों का मुख्यार्थ बाध हो गया है क्योंकि भेड़िया और उसका सामाजिक होना असम्भव है। अत: यहाँ भेड़िया का अर्थ खतरनाक अथवा दुष्ट व्यक्ति ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार की अनुपपत्ति वक्ता के तात्पर्य एवं उसके प्रयुक्त शब्दों के मुख्यार्थ में हो सकती है। जब किसी मूर्ख के आगमन पर हम कह उठते हैं—"पधारिए महाशय" तो यहाँ मुख्यार्थ बाध नहीं होता क्योंकि वाक्यार्थ में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु वक्ता के उद्देश्य से विरोध होता है। अत: वक्ता के उद्देश्य एवं मुख्यार्थ दोनों में 'योग्यता विरह' होने से 'महाशय' का विपरीत अर्थ 'मूर्ख' ग्रहण किया जाता है।

---

१. **मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सालक्षणारोपिता क्रिया ॥ का० पु०, उ० २, का० ९.**

मुख्यार्थयोग—मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर हम भिन्न अर्थ लेते हैं। किन्तु मन चाहा अर्थ नहीं ले सकते। यह अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न होने पर भी इससे संबद्ध होना चाहिए। इसी को तद्‌योग मुख्यार्थयोग कहते हैं। मुकुल भट्ट ने इसके पांच भेद बताये हैं:—

(१) सामीप्य सम्बन्ध—"गंगायांघोष:" यहाँ मुख्यार्थ गंगाप्रवाह से लक्ष्यार्थ गंगा के किनारे ग्रहण किया गया है।

(२) सादृश्य सम्बन्ध—"यह बालक तो साक्षात गऊ है।"

(३) समवाय: साहचर्य—"कुन्ता; प्रविशन्ति।"

(४) विपरीत सम्बन्ध—'पधारिए महाशय।

(५) क्रियायोग सम्बन्ध—'महति समरे शत्रुघ्न:त्वम्।'[1]

रूढ़ि और प्रयोजन—मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ भिन्न होता है। लक्ष्यार्थ या तो रूढ़ि से अर्थात् लोक प्रसिद्धि से प्राप्त होना चाहिए या उसकी पृष्ठभूमि में वक्ता का कुछ विशेष अभिप्राय (प्रयोजन) होना चाहिए। यह शर्त बड़ी महत्वपूर्ण है। एक दृष्टि से लक्षण स्वाभाविक अर्थ का त्याग कर अस्वाभाविक अर्थ को ग्रहण करती है। इसी दृष्टिकोण से लक्षण के दो भेद (१) रूढ़ और (२) प्रयोजनवती होते हैं। रूढ़ लक्षणा में भी आरम्भ में प्रयोजन ही था।

आचार्य मम्मट ने रूढ़ लक्षणा का उदाहरण—'कर्मणि कुशल:' दिया है। कुशल का आरम्भिक अर्थ कुश काटने वाला था। अब हम कुशल का चतुर अर्थ ग्रहण करते हैं और इसी अर्थ में कुशल रूढ़ हो गया है। मूलत: इस शब्द का चतुर के अर्थ में प्रयोग लक्षणा से ही हुआ होगा। अत: आज की रूढ़ लक्षणाएँ कभी अवश्य प्रयोजनवती रही होंगी। इसी प्रकार 'देवानाम् प्रिय इति मूर्खे' यह प्रयोग भी आरम्भ में प्रयोजन युक्त था, बाद में रूढ़ हो गया है।

इन स्वरूपों से यह सहज ज्ञान होता है कि—जब तक अर्थों की पृष्ठभूमि में प्रयोजन था तब तक ये अर्थ मुख्यार्थ से भिन्न थे। किन्तु इनका आधारभूत प्रयोजन नष्ट हो जाने से अब ये उन शब्दों के मुख्यार्थ बन गए हैं। इसीलिए हेमचन्द्र रूढ़ लक्षणा को स्वीकार नहीं करते।

विश्वनाथ जी भी कुशल आदि शब्दों के सम्बन्ध में यही कहते हैं। किन्तु वे रूढ़ लक्षणा को अस्वीकार नहीं करते हैं।

---

१. **अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत:।**
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षण पंचधामता॥

[ध्वन्यालोक की लोचनटीका, सं० १९४०, चौखम्भा, पृ० २८

हेमचन्द्र और विश्वनाथ मम्मट की आलोचना करते हुए कहते हैं कि भले ही ये शब्द कभी लाक्षणिक रहे हों पर आज तो इनके अर्थ रूढ़ हो गए हैं। अतः इनकी पृष्ठभूमि में अभिधा ही है, न कि लक्षणा आगे वे कहते हैं ऐसे उदाहरणों में लक्षणा मानना भी हो तो केवल व्युत्पत्ति के द्वारा मानना होगा। विश्वनाथ ने कहा है—अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्ति निमित्तम् अन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम्।[1] [सा० द०]

लक्षणा सान्तरार्थनिष्ठ व्यापार है—

"मुख्येन अमुख्यः अर्थ लक्ष्यते यत् स अरोपितः शब्द व्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।" [मम्मट ना० प्र०, व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह, सं० १९५५ ई०]।

अमुख्य अर्थ (लक्षण) मुख्यार्थ के द्वारा लक्षित होता है। इस अर्थ को लक्षित करने वाला व्यापार लक्षण है। वास्तव में अभिधा शब्द की साक्षात् अर्थ प्रदायनी शक्ति है और लक्षणा उसकी व्यवहितार्थप्रदायिनी शक्ति है।

यदि उदाहरण स्वरूप 'गंगायाम् घोषः' को लें तो पता चलेगा कि पहले इस वाक्य से गंगाप्रवाह रूप अर्थ उपस्थित होता है। किन्तु वहीं हम मुख्यार्थ बोध पाते हैं तब 'बाध' के कारण 'तीर' अर्थ ग्रहण करते हैं। अतः इस प्रकार यह हुआ कि—शब्द—मुख्यार्थ—लक्ष्यार्थ। इससे यह निष्कर्ष निकला कि—शब्द से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध मुख्यार्थ द्वारा सम्पादित होता है। यहाँ मुख्यार्थ मध्यगत है। अतः लक्षणा व्यापार शब्द पर आरोपित होता है।

इसके अनन्तर आचार्य मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के दो रूपों उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा की विवेचना की है। उपादान लक्षणा को उन्होंने समझाते हुए कहा है कि जब शब्द वाक्यस्थान में अपने आपको संगत बनाने के लिये अमुख्यार्थ का आक्षेप करता है और मुख्य अर्थ अपना समर्पण इसलिए अमुख्यार्थ को करता है कि अमुख्यार्थ संगत हो जाय तब उस पद में उपादान लक्षण होती है।[1] उपादान लक्षण का उदाहरण काव्य प्रकाराकार—"कुन्तः प्रविशन्ति"[2] देते हैं। इस वाक्य में कहा गया है कि 'भाले प्रवेश करते हैं।'[3] किन्तु भाले निर्जीव हैं। उनका प्रवेश करना सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ को अपना समर्पण कर देता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ भाला लिये हुए व्यक्ति ग्रहण किया जाता है। लक्षण-लक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ का लक्षणार्थ के प्रत्यायन के लिये त्याग करता है। जैसे—'गंगायां घोषः।' 'गंगा में अहीरों की बस्ती है।' गंगा शब्द से प्रवाह अर्थ ग्रहण होता है किन्तु प्रवाह में बस्ती का होना सम्भव नहीं। इसलिये मुख्यार्थ का त्याग करके 'गंगातट' लक्ष्यार्थ ग्रहण

---

१. **स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम्।**
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। का० प्र०, का० १०, उ० २।

२. **का० प्र० व्या० डा० सत्यव्रतसिंह, सं० १५५ ई० ३३।**

किया जाता है। यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग करता है। इन दोनों प्रकार की लक्षणाओं को शुद्धा लक्षणा कहते हैं क्योंकि इनमें उपचार का मिश्रण नहीं होता है।[1] सादृश्याख्या सम्बन्ध से दो परस्पर भिन्न वस्तुओं में, अभेदावबोध उपचार कहलाता है।

इन उपर्युक्त लक्षण प्रकारों के अतिरिक्त आचार्य मम्मट ने एक सारोपा-प्रकार की लक्षणा बताई है। वे कहते हैं कि—जब विषयी (आरोप्यमाण) और विषय (आरोप्य) दोनों शब्दत: प्रतिपादच रहा करते हैं तब सारोपा लक्षणा होती है।[2] इसे सारोपा इसलिये कहते हैं क्योंकि इसमें आरोप्यमाण और आरोप्य दोनों अपने-अपने पृथक् स्वरूप और स्वभाव में ही विराजमान रहते हुये 'सामनाधिकरण्य'—पूर्वक अर्थात् समान विभक्तियुक्त अपने-अपने पदों के रूप में स्पष्टतया निर्दिष्ट रहा करते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने बतलाया कि जब आरोप्य अपने बोधक-पद के रूप में निर्दिष्ट नहीं होता और आरोप्यमाण उसका निगीर्ण कर जाता है अर्थात् आरोप्य तिरोभूत हो जाता है, तब साध्यवसाना लक्षणा होती है।[3] इन उपर्युक्त 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' दोनों लक्षणा प्रकारों के भी दो-दो भेद होते हैं। जैसे—शुद्धा सारोपा और गौणी सारोपा। शुद्धा साध्यवसाना तथा गौणी साध्यवसाना। गौण रूप भेद में तो सादृश्य सम्बन्ध नियामक रहा करता है और शुद्ध रूप भेद में जो नियामक रहा करता है वह है सादृश्यभिन्न अन्यविध सम्बन्ध।[4]

आचार्य मम्मट ने गौणी सारोपा लक्षणा का उदाहरण—'गौर्वाहीकः' दिया है। [यह हरवाहा बैल है।] इसमें 'गो' पद की लक्षणा शक्ति स्पष्टतया 'वाहीक' रूप अर्थ को लक्षित कर देती है और ऐसा इसलिए कर देती है कि यहाँ 'गो' रूप विषयी और 'वाहीक' रूप विषय में सादृश्य-नियामक आरोप का यही रहस्य है। यहाँ 'गो' पद से लक्षित वाहीक ऐसा पद है जो जाड्य-मान्दचादि रूप ऐसे गुणों का आश्रय है जो न तो 'गो'—गत ही कहे जा सकते हैं और न 'वाहीक'-गत अपितु दोनों

---

१. उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। का० प्र० डा० सत्यव्रतसिंह स० १९५५, पृ० ३५।

२. 'सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।' का० प्र० १४, व्या० डा० स० व्र० सिं० सम्वत् १९५५ पृ० ३६।

३. "विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका।" का० प्र० का० ११. उ० २.

४. भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ॥
का० प्र०, व्या० डा० स० व्र० सिंह सं० १९५५, पृ० ३७

में समवेत साधारण गुण हैं। इसी प्रकार गौणी साध्यवसाना का उदाहरण उन्होंने 'गौरयम्' दिया है। [यह तो बैल ही है।] इसमें भी 'गो' पद की लक्षणा शक्ति स्पष्ट रूप से 'वाहीक' पद को लक्षित कर देती है। ऐसा इसलिए कर देती है कि यहाँ 'गो' रूप विषयी और 'वाहीक' रूप विषय में सादृश्य-नियामक अध्यवसान का यही रहस्य है कि यहाँ 'गो' पद से लक्षित 'वाहीक' जिसमें जाड्य-मान्द्याादि रूप गुणों का आश्रय है जो न तो गो-गत है और न ही वाहीक-गत; अपितु दोनों में समवेत साधारण गुण हैं।[1]

शुद्धा सारोपा और साध्यवसाना के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि सादृश्य-भिन्न कार्य कारण भावादि रूप सम्बन्ध-निबन्ध जो आरोप गर्भ और अध्यवसान-गर्भ लक्षणा प्रयोग हैं, उन्हें इन प्रयोगों में देखा जा सकता है—'आयुर्घृतम्' 'घी ही जिन्दगी है' (आरोप), 'आयुरेवेदम्' यही (घी ही) बस जिन्दगी है' (अध्यवसान) आदि।[2] यहाँ यह स्पष्ट है कि आयु और घृत में किसी सादृश्य की कोई विवक्षा नहीं है। यहाँ तो आयु और घृत में कार्य कारण भाव रूप सम्बन्ध है। इसी कारण आरोप और अध्यवसान विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा की ६ विधाएँ हैं।[3]

लक्षणा का आधारभूत प्रयोजन व्यंग्य है—

साहित्य शास्त्र में जो लक्षणा का विवेचन पाया जाता है, वह प्रयोजनवती लक्षणा का है। मम्मट का कहना है—लक्षणा का प्रयोजन व्यंग्य अर्थात् ध्वनि है। लक्षणा की पृष्ठभूमि में यदि आधारभूत प्रयोजन नष्ट हो गया हो तो निरूढ़ा लक्षणा होती है। "व्यंगेन रहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने।" [का० प्र०] का० १३ उ० २ प्रयोजन की दृष्टि से लक्षणा का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है।

लक्षणा
↓
- रूढ़
- प्रयोजनवती (व्यंग्य सहित)
  - अगूढ़ व्यंग्या
  - गूढ़ व्यंग्या

---
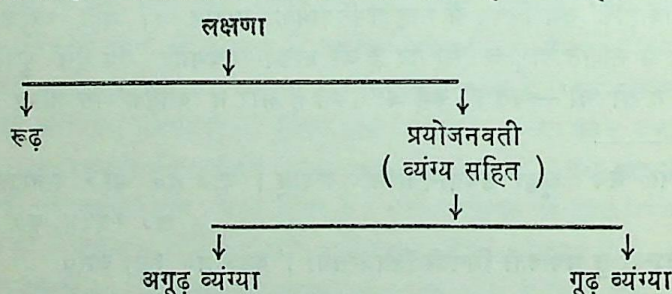
१. इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च।
[का० प्र० व्या० डा० स० व्र० सिंह, सं० १९५५, पृ० ३८]

२. आयुर्घृतम्, आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यान्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्।
[का० प्र० व्या० डा० स० व्र० सिंह, सं० १९५५, पृ० ३९]

३. 'लक्षणा तेन षड्विधा।' का० प्र०, का० १२, उ० २.

आचार्य मम्मट ने सव्यंग्या लक्षणा के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

(अ) अगूढ़ व्यंग्या—

'श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥"

का० प्र० पृ० ४३ सं० १६५५ सं० डा० स० व्र० सिंह,

[लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं। यौवन का मद ही तो कामिनी स्त्रियों को विलास की शिक्षा देता है। यहाँ उपदिशति 'शिक्षा देता है'—शब्द का लक्ष्यार्थ में प्रयोग हुआ है। यहाँ वाच्यार्थ की तरह व्यंग्य भी स्पष्ट है। अतः यहाँ अगूढ़ व्यंग्य है।

गूढ़ व्यंग्या—

"मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
वतेन्दु वदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥"

[का० प्र० पृ० ४२, सं० डा० स० व्र० सिंह सं० १६५५]

[मुख पर हास्य छाया हुआ है, बाँकपन दृष्टि का दास हो रहा है। चलने में हाव-भाव छलक रहे हैं। गति में विलास छलक रहा है, चित्त में स्थिरता का त्याग किया है, वक्षःस्थल पर स्तन मुकुलित हो रहे हैं, अवयवों की पुष्टि से जघन रति योग्य हुए हैं। आह ! इस चन्द्रमुखी के शरीर में यौवन की तो आनन्द क्रीड़ा ही चल रही है।]

इसमें विकसित, वशित, समुच्छलित, अपास्त, मुकुलिम, उद्धुर, उद्गम तथा मोदते सभी लाक्षणिक प्रयोग हैं।

उपर्युक्त दोनों पदों में सव्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रथम पद्य में प्रयोजन व्यंग्य है, परन्तु अत्यन्त स्पष्ट है और वह यह है कि—यौवन के कारण नारियों में मादक विलास चेष्टाएँ अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं। दूसरे उदाहरण में व्यंग्य प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। केवल काव्यानुशीलन में प्रवीण सहृदय उसे ही समझ सकते हैं। यहाँ विकसित आदि पद लाक्षणिक हैं। विकसित से पहले पुष्प की तरह खिलने का लक्ष्यार्थ प्रतीत होता है फिर इस लक्ष्यार्थ से सौरभ के विस्तार की तरह सौन्दर्य का प्रसरण व्यंजित होता है। इसी प्रकार अन्य लाक्षणिक पद भी गूढ़ व्यंग्य से युक्त हैं।

लक्ष्यार्थ एवं लक्षणा व्यापार काव्य में जिस शब्द के आश्रय में रहते हैं उसे लाक्षणिक शब्द कहते हैं। वाक्य में लक्षणा की पृष्ठभूमि में प्रयोजन रहता है। वह प्रयोजन जिस व्यापार के द्वारा ज्ञात होता है उसे व्यंजना व्यापार कहते हैं। प्रयोजन-

वती लक्षणा का आधार भूत यह व्यंजना व्यापार भी उस लाक्षणिक शब्द में ही स्थित रहता है।

व्यंजना

आचार्य मम्मट ने लक्षणा-शक्ति का विवेचन करने के पश्चात् व्यंजना शक्ति का विवेचन इस प्रकार से प्रस्तुत किया है। अभिधा और लक्षणा शक्ति के असमर्थ हो जाने पर शब्द जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। इसका उदाहरण 'गंगायां घोष:' दिया गया है और समझाया गया है कि लक्षणा-शक्ति द्वारा 'गंगा तट पर घोष है' अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी इस कथन का प्रयोजन-शीतत्व तथा पावनत्व की प्रतीति कराना है। इस प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही होती है।

अभिधा और लक्षणा का कार्य-क्षेत्र शब्द तक ही सीमित होता है, पर व्यंजना शक्ति शब्द के साथ ही साथ अर्थ के द्वारा भी अपना व्यापार करती है। इसलिए आचार्य मम्मट ने दो प्रकार की व्यंजना–शाब्दी और आर्थी मानी हैं। शाब्दी व्यंजना के दो प्रकार अभिधामूला तथा लक्षणामूला और आर्थी व्यंजना के तीन प्रकार—वाच्यार्थ संभवा, लक्ष्यार्थ संभवा एवं व्यंग्यार्थ संभवा इन्होंने माने हैं।

अभिधा मूला व्यंजना की परिभाषा काव्य-प्रकाश में इस प्रकार दी गई है—'अभिधा मूला व्यंजना वह व्यंजना होती है जो अनेकार्थ पद प्रयोगों में, उनकी वाचकता के संयोग आदि के द्वारा नियंत्रित हो जाने पर, एक ऐसे अर्थ का प्रत्यापन करा दिया करती है जिसे वाच्य-साक्षात् संकेतित-अभिधाबोध्य रूप अर्थ नहीं कहा जा सकता है।' [१]. 'पद की वाचकता के नियामक—'संयोग विप्रयोग, साहचर्य विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर होते हैं। [२] इन वाचकता नियामकों में से किसी एक नियामक से जब अनेकार्थक शब्द की अनेकार्थ-वाचकता नियंत्रित हो जाए और किसी अभिधेय अर्थ की प्रतीति हो जाए, तब भी यदि किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो तो उसे अभिधामूला व्यंजना व्यापार ही कहेंगे। इसका उदाहरण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार दिया है—

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगद्यै रवच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्। [का० प्र० द्वि० उ० का० १९]

२. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचितीः देश कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थ स्यानवच्छेदेविशेष-स्मृतिहेतवः॥ [का० प्र० व्याख्याकार डा० सत्यव्रतसिंह, सं० १९५५ पृ० ४६]

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोविशाल वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥
[का० प्र० सं० डॉ० स० व्र० सिंह सं० १९५५ ई० पृ० ५१]

इसका अर्थ है—ये रहे वे महाराज। निर्मल अन्तःकरण वाले। अनभिववनीय व्यक्तित्व वाले ! महानवंश में जन्म लेने वाले ! वाणविद्या में सतत अभ्यस्त ! सर्वत्रगामी तीक्ष्ण बुद्धि वाले और शत्रुजन के संहारक। जिनका कर निरन्तर दान के लिए संकल्प जल लेते रहने के कारण अत्यन्त सुन्दर रहा करता था। यहाँ प्रकरण रूप दाचकता नियामक के कारण भद्र, वंश, शिलीमुख, गति, वारण, दान और कर शब्दों की अनेकार्वता के एकार्थता में परिणत हो जाने पर भी कवि विवक्षा एक अनभिधेय अर्थ को अर्थात् 'गजराज' रूप अर्थ को राजा रूप अर्थ में परस्पर उपमानोपमेय रूप अर्थ को प्रकट कर रही है। इस अर्थ से सहृदय सामाजिक का चित्त चमत्कृत हो रहा है। इस अर्थ की प्रतीति का कारण अभिधामूला व्यंजना ही है।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य रहता है। जिस प्रयोजन को सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वस्तुतः वह (प्रयोजन अथवा व्यंग्य) जिस शक्ति से प्रतीत होता है उसे लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। उदाहरण के लिए 'गंगायां घोषः' लिया जा सकता है। इसमें शीतत्व और पावनत्व की प्रतीति लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना द्वारा ही होती है क्योंकि 'गंगा तट' अर्थ बताकर लक्षणा विरत हो जाती है।

अर्थ के द्वारा जब व्यंजना अपना व्यापार करती है तब उसे आर्थी व्यंजना कहते हैं। जब काव्य-भावना परिपक्व बुद्धि काव्य रसिकों को प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त, यथास्थान अथवा यथा संभव जो एक अन्य अर्थ प्रतीत हुआ करता है और जिसके कई कारण हो सकते हैं जैसे कि—वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, वाच्य, वाक्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और अन्यविधि आदि के वैशिष्टच।[1].

इस विवेचन के पश्चात् आचार्य मम्मट ने व्यंजक अर्थ की नानाविधि विशिष्टता के निमित्तों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

इन उदाहरणों में दिखाया गया है कि वाच्य रूप, लक्ष्यरूप और व्यंग्यरूप त्रिविध अर्थ प्रकारों की कैसे व्यंजना हुआ करती है। उनमें से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. वक्तृबोद्धव्य काकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ का० तृ० उ० का० २
प्रस्ताव देशकालादेर्वैशिष्टचात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ का० प्र० तृ० उ० का० २२

वाच्य संभवा आर्थी व्यंजना—

अइपिहुलं जलकुभं घेतूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसअसलिलणी सासणीसहा वीसमामि खणम् ।। [१]

इसका अर्थ है—अरी सखी क्या बताऊँ, बिना थोड़ी देर विश्राम किए मुझे शान्ति कहाँ । इतना बड़ा और पानी से भरा घड़ा उठाना और तब भी झटकते हुए आना ! ओह ! कितनी थक गई हूँ, कितनी पसीने की बूंदें निकल आई हैं, कितनी जोर से सांस चल रही है, देह में ऐसा लगता है जैसे बिल्कुल भी दम न हो ।

यहाँ जो वाच्यरूप अर्थ है अर्थात् एक स्त्री का अपनी सखी से पानी भरे घड़े को ले जाने के कारण अपनी थकावट का वर्णन करना । इस वाच्यार्थ के साथ ही साथ एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति सहृदय जनों को होती है । वह अर्थ यह है कि अपनी थकावट को वर्णन करने वाली नायिका अपनी रति लीला को छिपाने के अभिप्राय से ही ऐसा कह रही है । यहाँ पर यही अन्य अर्थ अभिव्यंजित हो रहा है । जब वाक्य के वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यंजना होती है तो उसे वाच्य संभवा आर्थी व्यंजना कहते हैं ।

इसके पश्चात् आचार्य मम्मट ने लक्ष्य संभवा आर्थी व्यंजना और व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना का उदाहरण नहीं दिया है बल्कि निर्देश कर दिया है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी (काव्य साहित्य में) व्यंजक रूप से रहा करते हैं और (यथास्थान अथवा यथा संभव) अपने से कहीं अधिक सुन्दर व्यंग्यार्थ का प्रत्यायन करवाया करते हैं ।[२] इसके अनन्तर यह स्पष्ट किया गया है कि शब्द को स्पष्टतया व्यंजक न कह कर अर्थ को व्यंजक क्यों कहा गया है । इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि शब्द को यदि उसके समानार्थक शब्द से बदल भी दें तो भी व्यंग्यार्थ वैसा का वैसा ही रहा करता है । जैसे शाब्दी व्यंजना में अर्थ की सहकारिता नहीं दूर की जा सकती, वैसे ही आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग भी नहीं हटाया जा सकता । काव्य प्रकाशकार में अर्थ को 'शब्द प्रमाण वेद्य' कहा है क्योंकि शब्द के अतिरिक्त अन्य साधनों से जाना गया अर्थ 'लोक' में भले ही किसी अर्थ का व्यंजक हो, परन्तु काव्य साहित्य में तो वही अर्थ व्यंजक कहा जा सकता है जो प्रयुक्त शब्द के आधार पर प्रतीत हुआ करता है । वस्तुतः शब्द सौन्दर्य की उपासना में अर्थ-सौन्दर्य की उपासना अन्तर्भूत है और अर्थ-सौन्दर्य की उपासना में शब्द सौन्दर्य की उपासना समायी हुई है । भावावेश में किसी शब्द की व्यंजकता से प्रभावित होकर न तो हम उसके अर्थ को ही छोड़ सकते हैं और न किसी अर्थ

---

१. का० प्र० व्या० डॉ० सत्यव्रतसिंह सं० १९५५ ई० पृ० ५४, तृ० उ०

२. अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यंग्ययोश्च व्यंजकत्वमुदाहार्यम् ।
[का० प्र० व्या० डा० सत्यव्रतसिंह सं० १९५५ ई० पृ० ५६, तृतीय उ०

की व्यंजकता से मुग्ध होकर उसके ज्ञापक शब्द को ही भुला सकते हैं। यह दूसरी बात है कि शब्द की प्रधानता से कहीं शाब्दी व्यंजना मान लें और अर्थ को मुख्यतया व्यंजक देखकर कही आर्थी व्यंजना कह लें।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य

"आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी"

आचार्य चिन्तामणि रीति-काल के प्रथम आचार्य हैं। इनका कविता-काल सं० १७०७ से माना जाता है। इनका 'कविकुल कल्पतरु' ग्रन्थ सं० १७०७ में लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'काव्य-विवेक' 'छंद विचार' काव्य-प्रकाश और रामायण इनके लिखे हुए ग्रन्थ हैं। आचार्य 'पं० रामचन्द्र शुक्ल' के मतानुसार—"हिन्दी रीति ग्रन्थों कीं अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीति-काल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।[1]

आचार्य चिन्तामणि ने काव्य के सभी अङ्गों का निरूपण किया है। इनके 'कविकुल-कल्पतरु' नामक ग्रन्थ में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रस-भाव, ध्वनि, नायक, अलंकार, पदार्थ-निर्णय (शब्द-शक्ति), रीति, गुण, दोष, पिंगल आदि सभी का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के पंचम प्रकरण 'शब्दार्थ-निरूपण' में शब्द-शक्ति का उल्लेख किया गया है। इस विवेचन में मूल रूप से 'काव्य-प्रकाश' और कहीं-कहीं साहित्य-दर्पण का आधार लिया गया है।

पद और अर्थ—

इन्होंने पद (शब्द) तीन प्रकार के माने हैं—(१) वाचक, (२) लाक्षणिक और (३) व्यंजक। इनके अनुसार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य।[2] लक्ष्य का उदाहरण इन्होंने इस तरह दिया है कि—"लक्षण उसे कहते हैं जो लक्षणायुक्त होता है,"[3] —जिसमें कोई अन्तर अथवा व्यवधान न हो।"[4]

शब्द-शक्ति—

चिन्तामणि ने अभिधा-शक्ति पर प्रकाश नहीं डाला है। लक्षणा-शक्ति के तीनों तत्वों—(१) मुख्यार्थ का बाध, ,(२) मुख्यार्थ से सम्बन्ध और (३) रूढ़ि

---

१. हि० सा० इति, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २०२

२. पद वाचक अरु लाक्षणिक व्यंजक त्रिविध बखान।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थो तीनि प्रमान॥ [का० क० त० ५।१]

३. लक्षण ताको कहत हैं जो होत लक्षणा जुक्त। [का० क० त० ५।३]

४. बिन अन्तर जा शब्द कर जाको होत बखान। [का० क० त० ५।२]

अथवा प्रयोजन की सत्ता स्वीकार की है। पर उदाहरण केवल 'गंगायां घोषः' कह कर आगे बढ़ गए है।[1]

व्यंजना-शक्ति—

चिन्तामणि ने व्यंजना निरूपण में विश्वनाथ का अनुकरण किया है। इन्होंने बताया है कि—'अभिधा और लक्षणा वृत्तियों के विरत हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना-शक्ति कहते हैं।'[2]

इन्होंने व्यंजना-शक्ति के दो मुख्य भेदः—(१) शाब्दी और (२) आर्थी माने हैं। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद किए हैंः—(१) लक्षणा मूला और (२) अभिधा मूला।

लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजनाः—वह व्यंजना जो उस प्रयोजन की प्रतीति कराती है, जिसके लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना होती है उदाहरणार्थ—'गंगा में घोष' इस वाक्य में दिया गया 'गंगा में' लाक्षणिक शब्द है, इसका अर्थ है गंगा तट की प्रतीति कराना, इसका प्रयोजन है—घोष की शीतलता और पवित्रता।[3] लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना की विशेषता इस वाक्य से स्पष्ट नहीं होती। इसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने दूसरा उदाहरण इस प्रकार दिया हैः—

"भई अनूपम चोप तनु प्रफुलित नैननि चैन।
अंकुस दै फेरयौ हियौ बालापन ते मैन॥" [का० क० त० २।११]

'चोप' अर्थात् कान्ति का लक्ष्यार्थ सौन्दर्य के उदय से और 'प्रफुलित' का अर्थ फूल की तरह खिलना अथवा आनन्दित होना है। इन दोनों लक्ष्यार्थों से 'चोप' तथा 'प्रफुलित' लाक्षणिक शब्दों के आधार पर इस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है कि नायिका के शरीर में आकर्षणमय सौन्दर्य और प्रफुलित आँखों में अनुराग आ गया है। यहाँ लाक्षणिक शब्दों के आधार पर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना है।

---

१. **मुख्यारथ के बाध अरु जोग लक्षना होइ।**
होत प्रयोजन पाइ कै, कहूं रूढ़ि हित सोइ॥
गंगा घोषक है तहाँ होत तीर को बोध।
शीतलताद पवित्रता तहाँ प्रयोजन सोध॥ [का० क० त० ५।४, ५]

२. **जहँ अभिधा अरु लक्षणा अति कछु भिन्न प्रकार।**
होइ अर्थ को बोध तहाँ कवि व्यंजक व्यापार॥ [का० क० त० २।७]

३. **तहाँ विंजना वृत्ति वह होत लक्षना मूल।**
जहाँ प्रयोजन जानिये कहत पंथ अनुकूल॥ [का० क० त० २।६]

अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना:—इसके द्वारा अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है जो संयोगादि कारणों में से किसी एक के द्वारा अवाच्य घोषित हो जाता है।[1]

आर्थी-व्यंजना--

आर्थी-व्यंजना का विषय वहाँ माना गया है, जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति वक्ता, बोधव्य, काकु, वाच्य, वाच्य जन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश काल तथा चेष्टा आदि में से किसी एक के वैशिष्टच के कारण होती है।

चिन्तामणि ने इसका लक्षण नहीं प्रस्तुत किया है। विशेषताओं में से प्रथम का उदाहरण प्रस्तुत कर विषय को समाप्त कर दिया है। अधोलिखित उदाहरण काव्य कल्प तरु में दिया गया है—

"ग्रीषम में सरवर वापी कूप सूखे सब,
जल नदी झिरना ते आवतु नगर मैं।
जहाँ जात आवत लगत काँट झारन के,
हौं न जैहौं हौं ही पानी पीवति हौं घर मैं॥
अति दूर ही ते भरी गगरी लै आवति हौं,
छूटै पसीना कम्पै अङ्ग थर-थर मैं।
वाहति हौं पुनि सासु ननद झुकै,
न मो पै जाऊँगी तौ आऊँगी भरि दुपहर मैं॥"

[क० क० त० ५।२४]

शब्द अर्थ की परस्पर सहकारिता--

शाब्दी-व्यंजना में शब्द व्यंजक होता है और अर्थ सहयोग करता है। इसी तरह आर्थी व्यंजना में अर्थ व्यंजक होता है और उसमें शब्द सहयोग करता है। इस सम्बन्ध में चिन्तामणि ने इस प्रकार कहा है:—

"औ अर्थो व्यंजक वरनि शब्द सङ्ग ते होइ।" **[क० क० त० २।२०]**

निष्कर्षः--

आचार्य चिन्तामणि ने शब्द-शक्ति सम्बन्धी स्थूल प्रसंगों का निरूपण किया है और उसमें भी सफल नहीं हुए हैं। इन्होंने अभिधा का उल्लेख नहीं किया है, लक्षणा के भेदोपभेद की चर्चा भी नहीं की है और न व्यंजना का ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। वाचक शब्द और लक्षणा मूला शाब्दी-व्यंजना के लक्षण भी स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी ये हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने ऐसे गूढ़ विषय के प्रतिपादन का प्रयास किया है इसलिए प्रयत्न प्रशंसनीय है।

---

१. **शब्द अनेकारथ वरनि अति कछु भिन्न प्रकार।**
होइ संयोगादिक गमन इत अवाच्य को सार॥ **[का० क० त० ५।८]**

आचार्य कुलपति मिश्र

आचार्य कुलपति मिश्र का कविता काल सं० १७२४ से १७४३ तक माना जाता है।[1] इनके ग्रन्थ 'रस रहस्य' का रचनाकाल कार्तिक कृष्ण एकादशी सं० १९२७ है। इसके अतिरिक्त द्रोणपर्व, युक्ति-तरंगिणी, नख-शिख, संग्रामसार ग्रन्थ भी इनके लिखे हुए हैं, किन्तु 'रसरहस्य ही अधिक प्रसिद्ध और प्रकाशित है। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे और साहित्य-शास्त्र के भी मर्मज्ञ थे। रस रहस्य लक्षण-ग्रन्थ है और मम्मट के काव्य-प्रकाश का छायानुवाद है। इस ग्रन्थ के दूसरे वृतान्त का नाम शब्दार्थ-निर्णय है। इसी प्रकरण में शब्द-शक्ति का निरूपण किया गया है। इन्होंने शास्त्रीय परिभाषाएँ और उदाहरण पद्य में दिये हैं, बीच-बीच में विषय को स्पष्ट करने के लिए गद्य का भी प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे समझते थे कि शास्त्रीय निरूपण के लिये पद्य उतना उपयुक्त नहीं होता है, जितना कि गद्य। तत्कालीन गद्य की अपरिमार्जित और अपरिपक्व अवस्था के कारण इनका उद्देश्य सिद्ध न हो सका इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि—"शास्त्रीय निरूपण के लिए पद्य उपयुक्त नहीं होता, इसका अनुभव इन्होंने किया, इससे कहीं-कहीं कुछ गद्य वार्तिक भी रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रन्थ लिखा वह पूरा न हो सका।"[2]

शब्द-शक्ति का निरूपण प्रारम्भ करने से प्रथम कुलपति ने और अर्थ को काव्य का शरीर मानकर इन्हीं पर विचार किया है।[3] इन्होंने शब्द के तीन भेद—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यंजक बताये हैं। इसी प्रकार उन्होंने अर्थ के भी तीन भेद—(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और व्यंग्य बताये हैं।[4] इन्होंने अभिधा आदि चार शब्द-शक्तियों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

अभिधा—जो बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं अर्थ बता दे वह वाचक-पद कहा जाता है। पद को सुनते ही जिसे अर्थ को चित्त ग्रहण करले उसे वाचार्थ कहते हैं।[5] जिस व्यापार से पद का ऐसा अर्थ ज्ञात होता है उसे (अभिधा)

---

१. हि० सा० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि०सं० २००२, पृष्ठ २२४
२. हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृष्ठ २२४
३. देह प्रथम ही देखिए, बहुरि जीव को ज्ञान।
 दूषण गुण भूषण को, पाछे जानत भान॥ [र.र. २/१]
४. वाचक लक्षण व्यंग को, शब्द तीन विधि सोइ।
 वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि, अर्थ तीन विधि होइ॥ [र. र. २/३]
५. वाचक सोजु सहाय बिन आप अर्थ कर देइ।
 वाच्य अर्थ पद सुनत ही जहि चित्त गहि लेइ॥ [र. र. २/४]

शक्ति कहते हैं ।[1] इन्होंने संकेत को 'सो इच्छा भगवान् की' कहकर ईश्वरेच्छा से सम्बद्ध बताया है ।

लक्षण—जब कोई शब्द वक्ता के अभीष्ट अर्थ को प्रकट नहीं कर पाता तब सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ को प्रकट करके कारण 'लक्षक' (लाक्षणिक) होता है ।[2] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने लक्षण के मुख्यार्थ वाध आदि तीनों तत्वों को स्वीकार किया है ।

कुलपति ने सर्व प्रथम लक्षण के दो भेद—(१) रूढ़ा और (२) प्रयोजनवती किये हैं । फिर इन्होंने प्रयोजनवती के दो भेद—(१) शुद्धा और (२) गौणी बताए हैं। इन्होंने शुद्धा के दो भेद उपादान और लक्षण-लक्षणा स्वीकार किये हैं । वे इन दोनों के भी पुनः दो उपभेद सारोपा और साध्यवसाना करते हैं । इन्होंने गौणी के दो भेद सारोपा और साध्यवसाना बताए हैं । लक्षणा के भेदोपभेद के उदाहरण इन्होंने हिन्दी के रीतिकालीन वातावरण के अनुसार प्रस्तुत किए हैं ।

व्यञ्जना—कुलपति व्यञ्जना की परिभाषा देते हुये कहते हैं कि—व्यंजक शब्द उसे कहते हैं जो मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा अधिक अर्थ बताता है । उसी अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं और इसका बोध-व्यञ्जना शक्ति के द्वारा होता है । इस शक्ति के दो भेद—(१) लक्षणा मूला और (२) अभिधा मूला उन्होंने माने हैं ।[3] लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद इन्होंने माने हैं । मम्मट के अनुसार गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा ही होती है न कि लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना किन्तु इनके उदाहरण बड़े सरस और शास्त्रानुमोदित हैं । अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का क्षेत्र इन्होंने सीमित कर कर दिया है । यह मान्यता भी इनकी भ्रमात्मक है । इसका शुद्ध उदाहरण भी ये नहीं प्रस्तुत कर सके हैं । आर्थी व्यंजना की परिभाषा मम्मट के आधार पर ही दी गई है, इनके द्वारा दिए हुए देश, काल आदि के दस वैशिष्ट्य नाम से कुछ भिन्न अवश्य हैं परन्तु इनका स्वरूप आचार्य मम्मट से पूर्णतः प्रभावित है । इन्होंने अर्थी व्यंजना के तीन भेद १—वाच्य से व्यंग्य, २—लक्ष्य से व्यंग्य और ३—व्यंग्य से व्यंग्य माने हैं ।

पूर्ववर्ती आचार्य चिन्तामणि की अपेक्षा कुलपति का शब्द-शक्ति निरूपण अधिक पूर्ण और स्पष्ट है । वाचक शब्द, व्यंजना शक्ति और तात्पर्य वृत्ति के स्वरूप

---

१. **या पदते ये ही अर्थ जान्यो ऐसो रूप ।**
सो इच्छा भगवान की जो है शक्ति अनूप ।। [र. र. २/६]

२. **लक्षक सों अर्थ न बनैं, तब ढिग तें गहि लेई ।** [र. र. २/७]

३. **सोइ व्यंग जु लक्षणा अभिधा मूल विलास ।।** [रा. रा. २/१७]

को कुलपति निर्भ्रान्त नहीं निरूपण कर सके। लक्षणामूला व्यंजना के दो भेदों गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या का निरूपण इन्होंने व्यंजना के प्रकरण में करके परम्परा का अतिक्रमण कर दिया है। शाब्दी अभिधा मूला व्यंजना का उदाहरण भी ये नहीं दे सके हैं। फिर भी वे शब्द-शक्ति जैसे जटिल विषय को बोधगम्य बनाने में अवश्य सफल हुए हैं।

आचार्य देव

आचार्य देव का प्रथम ग्रन्थ 'भावविलास' है जिसका रचनाकाल सं० १७४६ है। यह ग्रन्थ इन्होंने १६ वर्ष की अवस्था में लिखा था। देव रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में प्रमुख कवि हैं और शायद सबसे अधिक ग्रन्थों की रचना भी इन्होंने की है। (१) जाति विलास, (२) रस विलास, (३) काव्य-रसायन या शब्द रसायन (४) सुख सागर तरंग, (५) वृक्ष विलास, (६) पावस विलास, (७) ब्रह्म-दर्शन पच्चीसी, (८) तत्व-दर्शन पच्चीसी, (९) आत्म-दर्शन पच्चीसी, (१०) जगद्दर्शन पच्चीसी, (११) रसानन्द लहरी, (१२) प्रेम दीपिका, (१३) सुमिल विनोद, (१४) राधिका विलास, (१५) नीति शतक और (१६) नख-शिख प्रेम दर्शन। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है:—

"रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सबसे अधिक ग्रन्थ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तकों की संख्या ५२ और कोई ७२ तक बतलाते हैं।"[१]

इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकाश में तीनों वृत्तियों का विशद-विवेचन प्रस्तुत किया गया है, कतिपय विद्वान् इसे देव की मौलिक उद्‌भावना स्वीकार करते हैं, किन्तु इसका आधार आलंकारिकों का वह वर्गीकरण भास होता है जिसमें उन्होंने आर्थी व्यंजना में व्यंग्यार्थ का विवेचन करते समय वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ, लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ और व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ का विचार किया है। इसीलिए देव ने अभिधा तथा लक्षणा में भी संकर की कल्पना कर ली है। अतः देव ने तीन वृत्तियों के १२ प्रकार माने हैं।

अभिधा—(१) शुद्धा अभिधा, (२) अभिधा में अभिधा, (३) अभिधा में लक्षणा, (४) अभिधा में व्यंजना।

लक्षणा—(१) शुद्धा लक्षणा, (२) लक्षणा में लक्षणा, (३) लक्षणा में व्यंजना, (४) लक्षणा में अभिधा।

व्यंजना—(१) शुद्धा व्यंजना, (२) व्यंजना में व्यंजना, (३) व्यंजना में अभिधा, (४) व्यंजना में लक्षणा।

इसके अनन्तर उनका कथन है तात्पर्यार्थ के साथ मिलकर ये १२ भेद अनन्त

---

१. हि०-सा०-इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृष्ठ २२६

भेदों की सृष्टि करते हैं।[1] देव ने इन सब भेदों के सोदाहरण वर्णन किए हैं। प्रारम्भ में अभिधा के चार मूल-जाति, क्रिया, गुण तथा यहृच्छा का सोदाहरण वर्णन है। इसके पश्चात् लक्षणा के चार मूल कार्य-कारण, साहृश्य, वैपरीत्य और आक्षेप का सोदाहरण वर्णन किया गया है, इसका आधार वह प्राचीन मत है जहाँ लक्षणा के पाँच भेद माने गये थे। वे भेद कार्य-कारण, साहृश्य, व्यभिचारी, वैपरीत्य एवं क्रियायोग है। देव ने क्रियायोग और व्यभिचार के स्थान पर आक्षेप मान लिया है। व्यंजना के भी चार मूल-वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है।

देव काव्य में रस की महत्ता स्वीकार करते हैं। अतः इस दृष्टि से काव्य की आत्मा रसव्यंजना को ही मानते हैं। इस प्रसङ्ग में उनका प्रसिद्ध दोहा[2] जिसे आचार्य शुक्ल ने पहेली बुझौवल कहा है, द्रष्टव्य है। यह दोहा नायिका भेद के प्रसङ्ग में कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां उनका अभिप्राय वस्तु व्यंजना की दूरारूढ़ पद्धति की भर्त्सना करना है। अगर ऐसा नहीं है और देव रस को काव्य का वाच्यार्थ या तात्पर्यार्थ मानकर उसे व्यंग्यार्थ वृत्ति गम्य नहीं मानते तो कहना पड़ेगा कि यह उनका मत भ्रामक है।

आचार्य देव के लक्षणा के उदाहरण और उस पर उनकी टिप्पणी देखकर तो यही प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण छन्द में लक्षणा स्वीकार की है, जबकि लक्षणा पदगत और वाक्य में होती है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है:—"देव ने सम्पूर्ण छन्द के अर्थ में लक्षणा मान ली है जो कि साधारणतः सम्भव नहीं होती।"[3]

शब्द शक्तियों का विशद विवेचन आचार्य देव के ग्रन्थ "काव्य-रसायन" में

---

१. शुद्ध अभिधा है, अभिधा में अभिधा है,
अभिधा में लक्षना है, अभिधा में व्यंजना कहौ।
शुद्ध लक्षना है, लक्षना में लक्षना है,
लक्षना में व्यंजना है, लक्षना में अभिधा कहौ।
शुद्ध व्यजना है, व्यंजना में व्यंजना है,
व्यंजना में अभिधा है, व्यंजना में लक्षना गहौ।
तातपरजारथ मिलत भेद बारह,
पदारथ अनंत सबदारथ मतै छहौ॥
काव्य रसायन. द्वितीय प्रकाश पृ० १२

२. अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन॥
शब्द रसायन. सं० जानकीनाथ सिंह हि० मा० सं० प्र० सं० पृ० ७२

३. देव और उनकी कविता (उत्तरार्द्ध) डा० नगेन्द्र, सन् १९४९ ई० पृ० १८

पाया जाता है।[१] वे वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य एवं तात्पर्यार्थ इन चारों अर्थों को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि—'शब्द का साक्षात्संकेतित अर्थ अभिधा वृत्ति का निमित्त है।'[२] "मुख्यार्थबाध और उसके सामीय-सम्बन्ध से रूढ़ि या प्रयोजन के द्वारा लक्षणा लक्षित होती है।"[३] "साक्षात्संकेतित अर्थ के अभाव में जहाँ अन्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ व्यंजना होती है।[४] चौथी अर्थ शक्ति तात्पर्यार्थ उन्होंने मानी है जिसे वे शब्द में ही स्वीकार करते हैं।

इन चारों अर्थों को स्पष्ट करने के लिए देव ने वाच्य-वाचक सम्बन्ध तथा अभिधावृत्ति के लिए एक उदाहरण में और 'दूसरे उदाहरण में एक साथ वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों का प्रतिपादन किया गया है।

वे लक्षणा का प्रतिपादन करते हुए लक्षणा के १३ भेदों का संकेत करते हैं, प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद और रूढ़ि के एक भेद मानते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा को प्रथम दो वर्गों शुद्धालक्षणा तथा मीलित (गौणी) लक्षणा में उन्होंने विभाजित किया है। शुद्धा के चार भेद—उपादान, लक्षणलक्षणा, सारोपा एवं साध्यवसान वे मानते हैं। गौणी लक्षणा के वे दो भेद करते हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। इस प्रकार प्रयोजनवती के ६ भेद हुए, फिर हरएक में गूढ़व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या भेद स्वीकार करते हैं।[५]

---

१. इसी काव्य रसायन को कुछ लोग शब्द-रसायन भी कहते हैं। हिं० सा० सम्मेलन प्रयाग के तत्वावधान सम्पादित और प्रकाशित इस ग्रन्थ का नाम शब्द रसायन नहीं दिया है। इस प्रबन्ध में अध्ययन के लिए इसी संस्करण का उपयोग किया गया है।

२. शब्द वचन ते अर्थ कढ़ि, चढ़ै सामुहै चित्त।
ते दोऊ वाचक वाच्य है अभिधावृत्ति निमित्त ।।
शब्द रसायन, प्र० सं०. जानकीनाथ सिंह मनोज पृ० २

३. रूढ़ि प्रयोजन करे कछु अर्थ समुहे भूल।
तिहि तरु प्रगटै लाक्षनिक लक्ष्य लक्षना मल ।।
श० र०. सं० जा० ना० सिंह मनोज. प्र० सं०. पृ० २

४. समुहे कढ़ें न, फेर सों झलकै और इंग्य।
वृत्ति व्यंजना धुनि लिए, दोऊ व्यंजक व्यंग्य ।।
श० र०, सं० जा० ना० सिंह मनोज प्र० सं०, पृ० २
सुर पलटत ही शब्द ज्यों, वाचक व्यंजक होत।
तातपर्ज के अर्थ अर्थ हूं, तीन्यौ करत उदोत।
श० र०, सं० जा० ना० सिंह, मनोज, प्र० सं० पृ० २

५. तातपर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच।
अधिक मध्य, लघु, वाच्य, धुनि. उत्तम मध्यम नीच ।।
[शब्द रसायन. प्र० प्रकाश. प्रथम संस्करण. जानकीनाथ सिंह 'मनोज' पृ० २]

आचार्य देव के लक्षणा के उदाहरण और उस पर उनकी टिप्पणी देखकर तो यही प्रतीत होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण छन्द में लक्षणा स्वीकार कर ली है, जब कि लक्षणा पद गत है और वाक्य में होती है।[1]

आचार्य सोमनाथ

आचार्य सोमनाथ का कविता काल सं० १७९० से १८१० तक माना जाता है। इन्होंने सं० १७९४ में 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में इन्होंने पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष आदि सभी विषयों का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी, सुजान विलास और माधव-विनोद नाटक ग्रन्थ इनके लिखे हुए हैं। रस पीयूषनिधि की छठी तरङ्ग में इन्होंने शब्द-शक्ति का निरूपण किया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए इन्होंने गद्य का भी आश्रय लिया है। विषय का प्रमुख आधार ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' 'साहित्य-दर्पण और कुलपति का 'रस-रहस्य' हैं।

सोमनाथ ने भी कुलपति की तरह ही काव्य-पुरुष की कल्पना की है।[2]

शब्द और अर्थ का भेद करते हुए इन्होंने बताया है कि जिसे सुना जाए उसे शब्द कहते हैं और जिसे चित्त द्वारा ग्रहण किया जाए उसे अर्थ कहते हैं।[3]

इन्होंने वाणी को दो वर्गों (१) ध्वनिमय और (२) अक्षरमय में विभक्त किया है। ध्वनिमय के अन्तर्गत—इन्होंने ताल, मृदङ्ग, डफ, ढोलक और तंत्री को माना है और अक्षरमय के अन्तर्गत ग्रन्थों को स्वीकार किया है।[4] वे कहते हैं कि अक्षर अथवा अक्षरों से शब्द की रचना होती है। अक्षरों से बने हुए शब्द और उनके अर्थ दोनों ही तीन-तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक तथा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य।

उपर्युक्त विवेचन में केवल वाणी का भेद ही सोमनाथ की मौलिक उद्भावना है शेष काव्य-प्रकाश के अनुसार ही निरूपित किया गया है।

शब्द-शक्ति—

इन्होंने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना।

---

१. ......देव ने संपूर्ण छन्द के अर्थ में लक्षणा मान ली है जो कि—साधारणतः संभव नहीं होती। [देव और उनकी कविता (उत्तरार्ध) १९४९. डा० नगेन्द्र. पृ० १३७

२. [क] जीव ज्ञान फिरि होत है प्रथम निरखयहि देह। (रसपीयूषनिधि ६।१३)
[ख] व्यंग्य प्राण अरु अंग सब शब्द अर्थ पहिचानि। (,, ६।६)

३. सुनिए श्रवननि शब्द समानो समुझैं चित्त अर्थ वह जानो। (वही ६।१४)

४. ... ... (वही ६।१५)

अभिधाः—

शब्द का ठीक-ठीक अर्थ जिसके द्वारा जाना जाए उसे अभिधा-वृत्ति कहते हैं।[१]

रीति, सामर्थ्य, शक्ति, व्यापार और व्यवहार इसी के अपर नाम हैं। वाचक शब्द और वाच्य अर्थ इसी शक्ति से सम्बन्धित हैं। वाचक वे शब्द होते हैं जो बिना किसी की सहायता के अर्थ प्रकट कर देते हैं- जैसे चन्द्र शब्द के सुनते ही चन्द्र का ज्ञान हो जाता है।[२] इसी अर्थ को वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ भी कहते हैं।

लक्षणा—

सोमनाथ के लक्षणा के सम्बन्ध में शास्त्र सम्मत तीनों तत्वों—(१) मुख्यार्थ-बाध (२) मुख्यार्थ-योग (३) रूढ़ि तथा प्रयोजन का उल्लेख किया है।[3] आचार्य मम्मट की तरह ही इन्होंने लक्षणा के सात भेद किए हैं—रूढ़ा लक्षणा और ६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा। इन भेदों के स्वरूप इन्होंने मम्मट के अनुसार ही दिए हैं, उदाहरण इनके अपने हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत स्वच्छ है।

व्यंजना—

वे व्यंजना शक्ति द्वारा ज्ञात अर्थ को व्यंग्य कहते हैं और इस अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को व्यंजक। इनके अनुसार व्यंजक शब्द उसे कहते हैं जो कहे हुए अर्थ से अधिक अर्थ बताए। वही अधिक अर्थ व्यंग्य कहा जाता है जो रसिकों को आनन्द प्रदान करता है।[४]

आचार्य कुलपति की तरह सोमनाथ ने भी व्यंजना के दो प्रमुख भेद बताए हैं (१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला। फिर लक्षणा मूला के दो भेद बताये

---

१. या अक्षर को यह अरथ ठीकहि यह ठहराय।
जानि परै जातें सु वह अभिधा वृत्ति कहाय॥ (वही ६।२०)

२. बिनु सहाय अर्थहिं कहै सो वाचक सुख कन्द।
चंद शब्द यों सुनत ही परखि लीजिए चंद॥ (वही ६।१८)

३. मुख्यारथ को छोड़ि कै पुनि तिहिं के ढिंग और।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और॥
कविन द्विविधि यह लीनी मान। रूढ़ प्रयोजनवती बखान॥
(र. पी. नि. ६।२४, २५)

४. अधिक कहै कहि अर्थ को व्यंजक शब्द सु जानि।
× × × ×
समुझि लीजिए अर्थ पुनि और बीज हू होय।
रसिकन को सुखदानि अति व्यंग्य कहावत सोय॥ [र० पी० नि० ६।३७]

हैं (१) गूढ़ व्यंग्या (२) अगूढ़ व्यंग्या। सोमनाथ ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परानुसार ही इसका वर्णन किया है। अभिधामूला व्यंजना के प्रसङ्ग में जब किसी स्थल पर अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ वक्ता को अभीष्ट होता है और उसका कारण संयोगादि में से कोई एक होता है, किन्तु इस प्रसंग में सोमनाथ ने संयोगादि की चर्चा ही यहाँ नहीं की है ? [1]

संयोगादि द्वारा अनेकार्थक शब्द के नियत एकार्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यंजना का विषय नहीं है, बल्कि सीमित अर्थ की प्रतीति ही इस व्यंजना का विषय है।

आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों में व्यंजकता मानी है। सोमनाथ की अभिधामूला और लक्षणा मूला व्यंजना आचार्य विश्वनाथ की शाब्दी व्यंजना के अंतर्गत आ जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने व्यंजना के दो भेद माने हैं—(१) शाब्दी-व्यंजना और (२) आर्थी-व्यंजना। सोमनाथ ने इस प्रसंग में आचार्य मम्मट का अनुसरण किया है—मम्मट ने व्यंजक अर्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए वक्तादि दस विशिष्टताओं का उल्लेख किया है—वक्ता, काकु, वाक्य और समय का उल्लेख सोमनाथ ने भी इस प्रसंग में किया है। इस व्यंजना प्रकार को विश्वनाथ ने आर्थी व्यंजना माना है। सोमनाथ ने इसके समस्त क्षेत्र को तीन भागों में बाँटा है (१) वाच्यार्थ से (२) लक्ष्यार्थ से (३) व्यंग्यार्थ से—व्यंग्यार्थ की प्रतीति। [2]

सोमनाथ का शब्द शक्ति निरूपण व्यंजना को छोड़कर शेष शास्त्रानुमोदित है। व्यंजना शक्ति का स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया गया है। इस स्थल पर व्यंजक शब्द और व्यंग्य अर्थ के लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं। इनसे व्यंजना का बोध नहीं होता है। अभिधामूला व्यंजना का स्वरूप न तो लक्षण से, न ही उदाहरण से स्पष्ट हुआ है। संयोगादि प्रसंग में केवल चार का दस के बदले में उल्लेख किया गया है। गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या का उल्लेख लक्षणा के प्रसंग में न करके व्यंजना के प्रसङ्ग में किया गया है।

सोमनाथ ने विषय को संक्षिप्त और सारयुक्त बनाने का प्रयास किया है। भाषा की सरलता और सुबोधता, विषय-निरूपण की पर्याप्तता तथा उदाहरणों

---

१. **बहु अर्थ के जहँ शब्द में इक अर्थ की प्रतीति।**
वह अभिधा मूल व्यंग्य है समुझौ अति करि प्रीति ॥

[र० पी० नि० ६।४४]

२. **त्रिविधि अर्थ तें व्यंग्य जो होत सु कहत बनाय।** [र० पी० नि० ६।४७]

की विशुद्धता और सरसता के कारण यह प्रकरणअपनी एक विशिष्ट उपादेयता सिद्ध करता है।

आचार्य भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास का कविता काल सं० १७८५ से १८०७ तक माना जाता है। इनके अब तक रस सारांश, छंदोर्ण व पिंगल, काव्य-निर्णय, शृङ्गार निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण, भाषा छंद-प्रकाश, शतरंज-शतिका और अमर-प्रकाश ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। काव्यांगों के निरूपण में दासजी ने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का रीतिकालीन अन्य आचार्यों से विस्तृत निरूपण किया है।[1]

काव्य निर्णय के द्वितीय उल्लास, पदार्थ-निर्णय में शब्द-शक्ति का भी निरूपण किया गया है। निरूपण का प्रमुख आधार 'काव्य-प्रकाश' है।

पद और शब्द शक्ति—

भिखारीदास ने तीन प्रकार के पदों की गणना की है—(१) वाचक, (२) लाक्षणिक, (३) व्यंजक।[2] भिखारीदास के अनुसार काव्य-शक्तियों का विवरण इस प्रकार है:—अभिधा शक्ति:—भिखारीदास ने वाचक, वाच्य और अभिधा शक्ति की परिभाषा एक स्थान पर ही दे दी है।

वाचक शब्द चार प्रकार के हैं—जाति—जैसे यदुनाथ; यदृच्छा—जैसे कान्ह; गुण—जैसे श्याम; और क्रिया—जैसे कंसारि।[3]

वाचक शब्द से जो अर्थ ज्ञात होता है वह वाच्यार्थ कहलाता है।[4]

---

१. हि० सा० का० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २४१

२. पद वाचक अरु लाच्छनिक व्यंजक तीन विधान।　　(का० नि० २।१)

३. वाचक—जाति, यदिच्छा, गुन, क्रिया, नाम जु चारि प्रमान।
सब की संज्ञा जाति गनि, वाचक कहें सुजान।।
जाति नाम जदुनाथ अरु, कान्ह जदिच्छा धारि।
गुन ते कहिए स्याम अरु, क्रिया नाम कंसारि।।
(का० नि० २।२,३)

४. वाच्यार्थ—ऐसे शब्दन्ह सौं फुरै संकेतित जो अर्थ।
ताको वाच्यारथ कहैं, सज्जन सुमति समर्थ।।　　(वही २।५)

अभिधा शक्ति वह है जो किसी शब्द के अनेक अर्थों में से प्रसंग प्राप्त अर्थ विशेष का बोध करा देती है।[1]

मोर-पक्ष को मुकुट सिर, उर तुलसी-दल माल।
जमुना तीर कदम्ब ढिग, मैं देख्यौ नन्दलाल।।

(का० नि० २।२१)

यहाँ प्रसंग सम्बद्ध होकर पक्ष, दल, तीर आदि का एक अर्थ नियत हो गया है। यहाँ 'दास' भ्रमवश अभिधा के स्थान पर अभिधा मूला व्यंजना का उदाहरण दे गए हैं। इसी प्रसंग में १४ नियन्त्रक कारणों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं।

जाति का उदाहरण जदुनाथ और क्रिया का उदाहरण कंसारि अशुद्ध भी हैं।

लक्षणा-शक्ति—भिखारीदास लक्षणा-शक्ति के तीन तत्वों में से केवल दो की चर्चा करते हैं—

(१) मुख्यार्थ बाध।

(२) रूढ़ि और प्रयोजनवती।

तीसरे तत्व 'मुख्यार्थ योग' की चर्चा इन्होंने नहीं की है।[2] किन्तु इनके उदाहरणों से यह प्रतीत नहीं होता कि उन्हें यह तीसरा तत्व अभीष्ट नहीं था।

लक्षणा के भेदोपभेद गिनाते हुए दासजी ने एक साथ ही चार नाम—(१) उपादान, (२) लक्षण-लक्षणा, (३) सारोपा और (४) साध्यवसाना गिना दिया है।[3] इन भेदों के उदाहरण कुछ तो मम्मट सम्मत हैं और कुछ स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र उदाहरणों में उपादान लक्षणा का उदाहरण—'पिचकारी चलती' दिया गया है।[4] इसमें स्वयं सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आरोप किया गया है, जिसकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। साध्यवसाना का उदाहरण—'सेज-कृसानु' इन्होंने दिया है जो

---

१. **अभिधा-शक्ति—अनेकार्थहू शब्द में, एक अर्थ की व्यक्ति।**
तेहि वाच्यारथ को कहैं, सज्जन अभिधा-शक्ति।।
जामैं अभिधा-शक्ति करि, अर्थ न दूजो कोइ।
वहै काव्य कीन्हैं बनै, नातौ मिश्रित होइ।।
(का० नि० २।६,२०)

२. **मुख्य अर्थ के बाध तें, शब्द लाच्छनिक होत।**
रूढ़ि औ प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत।। [का० नि० प्र० सं० २।२२]

३. **उपादान इक जानिये, दूजी लच्छित ठान।**
तीजी सारोपा कहैं, चौथी साध्यवसान।। [का० नि० प्र० सं० २।२७]

४. **पिचकारी चलती घनी जहँ तहँ उड़त गुलाल। [का० नि० प्र० सं० २।३०]**

सारोपा का उदाहरण है। इस तरह के उदाहरणों से भ्रम ही अधिक पैदा होता है। इस सन्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है—"इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं-कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे उपादान लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है।"[१]

व्यंजना—इसका निरूपण करते हुए इन्होंने कहा है कि जिस शब्द के द्वारा 'सूधो' अर्थ के अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति हो उसे व्यंजना कहते हैं।[२] इस प्रसंग में इन्होंने लक्ष्यार्थ की चर्चा नहीं की है। व्यंजना जन्य अर्थ को व्यंग्यार्थ और जिस शब्द से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे वे व्यंजक कहते हैं।[३] व्यंजना के महत्व को स्वीकार करते हुए इन्होंने सहज भाव से कहा है कि—वाचक और लक्षक भाजन रूप हैं और व्यंजक जल रूप है।[४] उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बताया है कि—जल के बिना रीता घड़ा जिस प्रकार बेकार है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ बेकार है।[५] पर वे इस सत्य को भी स्वीकार करते हैं कि व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पर आश्रित होता है। इसके आगे भेदोपभेद की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया है कि—अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना अनेकार्थक शब्द के उस अर्थ को भी व्यक्त करती है जो संयोगादि के द्वारा अवाच्य घोषित किया जा चुका है किन्तु दास इस स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके,[६] पर यह सत्य है कि इसके स्वरूप से वे परिचित थे।[७]

---

१. वैरिन कहा बिछावती फिरि-फिरि सेज-कृसान। [का० नि० प्र० सं० २।]
हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृ०

२. सूधो अर्थ जु बचन को, तेहि तजि और बैन।
समुझि परै तेहिं कहत हैं, शक्ति व्यंजना ऐन॥ का० नि० २।४३

३. व्यंजन व्यंजक जुक्त पद, व्यंग्य तासु जो अर्थ।
ताहि बुझावै की सकति, है व्यंजना समर्थ॥ का० नि० २।४२

४. वाचक लच्छक भाजन रूप हैं व्यंजक को जल मानत ज्ञानी। का० नि० २।४१

५. भाजन लाइय नीर विहीन। न आइ सके, बिन भाजन पानी। का० नि० २।४१

६. सब्द अनेकारथन बल, होइ दूसरे अर्थ।
अभिधामूलक व्यंग्य तेहि, भावत सुकवि समर्थ॥ का० नि० २।४४

७. भये अपत कै कोप जुतहि, कैं बैरो यहि काल।
मालिन आजु कहै न क्यों, वा रसाल को हाल॥ (का० नि० २।४५)

२. प्रयोजनवती लक्षणा के गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या नामक दो भेद आचार्य मम्मट ने किए हैं ।

इनका लक्षण दास ने बताया है कि—कवि सहृद जिसको समझें वह गूढ़ा और जिसे सभी समझ सकें वह अगूढ़ा-व्यंजना है ।[1]

आचार्य भिखारीदास के शब्द-शक्ति निरूपण में अभिधा तथा लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना को अधिक महत्व दिया गया है । अभिधा और लक्षणा को घट तथा व्यंजना को जल बता कर उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है । हिन्दी के दास से पहले के आचार्य अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण नहीं प्रस्तुत कर सके थे । इन्होंने प्रथम बार, इसका उदाहरण प्रस्तुत किया । भ्रान्तियों के कारण यह प्रकरण सर्वथा ग्राह्य नहीं है, क्योंकि जाति वाचक और क्रिया वाचक शब्दों के उदाहरण शुद्ध नहीं हैं । उपादान लक्षणा तथा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण भी शुद्ध नहीं हैं । इन्होंने संयोग-वियोग आदि नियंत्रकों को अभिधा में स्थान न देकर अभिधा मूला व्यंजना में स्थान दिया है । इससे इनकी अभिधा वृत्ति का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो गया है ।

आचार्य प्रतापसिंह

आचार्य प्रतापसिंह का कविता काल सं० १८८० से १९०० तक था । इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' तथा 'काव्य विलास' हैं । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त जयसिंह प्रकाश, श्रृङ्गार-मंजरी, अलंकार-चिन्तामणि, काव्य-विनोद और जुगल नख-शिख ग्रन्थों की रचना भी इन्होंने की है । रसराज, रत्न-चन्द्रिका एवं बलभद्र नख-शिख की टीका भी इन्होंने लिखी हैं ।

प्रतापसिंह रचित 'काव्य विलास' के द्वितीय विलास में शब्द-शब्दियों की चर्चा की गई है । इसके अतिरिक्त व्यांग्यार्थ कौमुदी के दूसरे, चौथे, पाँचवे, आठवें और नवें पद्यों में व्यंजना सम्बन्धित विषय की चर्चा की गई है ।

प्रतापसिंह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विचारव्यक्त करते हुए कहते हैं कि—जिसे हम कानों से सुनते हैं वह शब्द कहलाता है और जिसे चित्त से समझते हैं वह अर्थ । श्रव्य शब्दों का सम्बन्ध वर्णों के साथ है, अतः वे वर्णात्मक कहलाते हैं । यही वर्णात्मक शब्द विभक्ति-युक्त होकर वेद-पुराण-ग्रन्थों के रचना-आधार बनते हैं । शब्द शास्त्र के अनुसार ये शब्द तीन प्रकार के हैं—रूढ़, योगिक और योग

---

१. कवि सहृद जाकहँ लखैं, व्यांग्य कहावत गूढ़ ।
जाको सब कोई लखत, सो पुनि होय अगूढ़ ।। (का० नि० २।४७)

रूढ़ि । काव्य की वृत्ति के अनुसार भी तीन हैं—वाचक, लक्ष्यक और व्यंजक । इन शब्दों के अर्थ क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहलाते हैं ।[1]

शब्द-शक्ति—

इनके मतानुसार वृत्ति (शब्द-शक्ति) तीन प्रकार की है—शक्ति, (अभिधा) लक्षणा और व्यंजना । इनके द्वारा शब्द से अपने-अपने अर्थ का बोध होता है ।[2]

अभिधा शक्ति—इसके सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि—"शब्द का वह व्यापार अभिधा कहलाता है जिसके द्वारा मुख्य अर्थ की प्रतीति होती है और इस अर्थ का बोध कराने वाले शब्द वाचक कहलाते हैं । इस शक्ति के द्वारा वाचक शब्द से जिस वाच्यार्थ का बोध होता है, उसका आधार—ईश्वरेच्छा है ।"[3]

अभिधा शक्ति से सम्बद्ध वाचक शब्दों का संकेत चार रूपों में प्राप्त होता है—जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य ।[4] इनके सम्बन्ध में प्रतापसिंह ने जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे भ्रामक हैं । इन्होंने जाति का उदाहरण 'क्षत्री' से दिया है । 'क्षत्री' शब्द जाति विशेष (ब्राह्मण-क्षत्री) के रूप में यदि स्वीकार किया हो तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि वे इसे समझते ही नहीं थे ।

---

१. श्रवण सुने ते अर्थ है समुझे चित्त सु अर्थ ।
वर्णात्मक धुन्यात्मक द्वै विधि कहत समर्थ ।।
वेद पुराण विभक्ति युक्त वर्णात्मक सो जानि ।
रूढ़ सुजौगिक दूसरो जोगरूढ़ त्रै मानि ।।
वाचक लक्षक व्यंजकों कवित्त वृत्ति में तीन ।
समुझि ग्रन्थ प्राचीन मत बरणत सुकवि प्रवीन ।।
वाचक ते वाच्यार्थ कहि, लक्षक ते लक्ष्यार्थ ।
तीन भाँति जो जानिये, विंजक ते विंग्यार्थ ।। (का० वि० २।१,२,५,११)

२. जहाँ शब्द में रचित है निज अर्थहिं को बोध ।
शक्ति लक्षणा व्यंजना वृत्य तीन विधि सोध ।। (का० वि० २।६)

३. मुख्यार्थ प्रतिपाद्य शब्दस्य व्यापारो अभिधा अर्थ ।
वाचक तासो कहत है जे कवि सुमति समर्थ ।।
जो पद सों ऐसे अरथ अभिधा व्योहार ।
जो इच्छा जगदीश की सु है शक्ति निरधार ।। का० वि० २।७,१०

४. क्षत्री आदिक जाति कहि पाठक क्रिया बषानि ।
शुक्लादिक गुण जानिये संज्ञा द्रव्य सुजान ।। का० वि० २।६

तात्पर्य वृत्ति—इसके सम्बन्ध में कुलपति के आधार पर इन्होंने भी कह दिया—"चौथी तात्पर्यारथ कहत हैं," चौथी शब्द नाहि ये विजना वृत्ति के नजीक मानत है।"[१] यहाँ इतना ही कह देना यथार्थ होगा कि तात्पर्य वृत्ति को इन्होंने व्यंजना में अन्तर्भुक्त कर दिया है जो किसी प्रकार भी संभव नहीं है।

लक्षणा शक्ति :—

जब कोई शब्द वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त नहीं कर पाता और तत्सम्बद्धित किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करता है तो उसे लक्षक (लाक्षणिक१) कहते हैं।[२]

लक्षणा के भेदोपभेदों के निरूपण में इन्होंने साहित्य दर्पण का आश्रय लिया है, पर उसे पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं कर सके हैं। प्रतापसाहि का यह प्रसङ्ग थोड़ा विभिन्न और कुछ अंश तक अव्यवस्थित है। इन्होंने रूढ़ा और प्रयोजनवती के बाद गौणी और शुद्धा को स्थान दिया है और इनके बाद उपादान लक्षणा, लक्षण-लक्षणा, सारोपा तथा साध्यावसाना को। इससे विषय प्रतिपादन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

प्रतापसाहि में 'धर्मगत' के साथ 'धर्मिगत' का नाम नहीं लिया है। फलगता लक्षणा[3] के इन्होंने आठ भेद बताए हैं। ये आठों प्रकार 'धर्मगत' और 'धर्मिगत' के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं, इस प्रकार फलगता लक्षणा के कुल सोलह भेद हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने लक्षणा-मूला व्यंजना को शुद्ध व्यंजना के अन्तर्गत लिया है। इसके दो भेद गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या किए गए हैं। वास्तव में यह प्रयोजनवती लक्षणा के ही भेद हैं जिसके आधार पर बत्तीस प्रकार की हो जाती है।[४]

फिर इन्होंने लक्षणा के ८० भेद इस प्रकार किए हैं—

रूढ़ अष्टविधि भेद कहि, फल द्वात्रिशति जानि।
दोऊ मिलि फिर लक्षणा चालिस भेद बषानि॥
पदगत बहुरो वाक्यगत जब ये द्विविध गनाय।
अस्सी भेद तऊ लक्षणा कहत सकल कविराय॥

का० वि० २।३५, ३६

व्यंजना—काव्य विलास और व्यंग्यार्थ कौमुदी में व्यंजना का इन्होंने उल्लेख इस प्रकार से किया गया है :—

---

१. काव्य-विलास, प्रतापसिंह, २।११ तिलक

२. अर्थ न लक्षक सो बनत गहि समीप ते जोइ।
होइ लक्षणा ते प्रकट लक्ष्यारथ कहि सोइ॥ का० वि० २।१२

३. फलगता लक्षणा वास्तव में मम्मट आदि द्वारा वर्णित प्रयोजनवती लक्षणा ही है।

४. फलगत त्यों ही धर्मगत ये जब दुबिध बनाय।
द्वा-त्रिशति तब लक्षणा भेद तहाँ ठहराय॥ का० वि० २।३४

जब शब्द में अर्थ की अधिक प्रवृत्ति होती है तो वहाँ अत्यधिक चमत्कार से व्यंजना वृत्ति होती है।[1]

वाचक के सन्मुख रहने पर जब अन्तर अर्थ चमत्कार के साथ निकलता है तो उसे समर्थ व्यंग्य कहते हैं।[2]

जहाँ शब्द से अनेक अर्थ की प्रतीत हो वहाँ 'तिय कटाक्ष' की तरह व्यंजना होती है।[3]

व्यंग्यार्थ कौमुदी में व्यंजना के क्षेत्र को अभिधा की अपेक्षा अधिक व्यापक बताया गया है किन्तु यहाँ लक्षणा की चर्चा नहीं की गई है। काव्य विलास में लक्षा से लक्षणा ही अभिप्रेत है।[4] इनमें यदि यही तात्पर्य है तो भी इससे विश्वनाथ सम्मत व्यंजना स्पष्ट नहीं होती है। अभिधा आदि शक्तियों के विरत हो जाने पर जिस अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं। पर यहाँ 'तिय कटाक्ष' कहकर यह सिद्ध कर दिया है कि इसके मर्म को वे समझते थे। वास्तव में व्यंग्यार्थ अनेक गूढ़ भावों से परिपूर्ण होता है।

व्यंजना के दो प्रमुख भेद हैं—(१) शाब्दी और (२) आर्थी। १—इनके अनुसार शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—(१) लक्षणा मूला, (२) अभिधा मूला।

लक्षणा मूला की चर्चा लक्षणा के प्रसङ्ग में इन्होंने की है और इनका अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण भी शिथिल है—

शब्द जु नाना अर्थ वाचक यन्त्रित होइ।
जोगादिक अनुकूल ते अर्थ नेम कहि सोइ॥ का० वि० २।४३

इनके द्वारा शब्दी व्यंजना का शुद्ध उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया गया है। संयोगादि के उदाहरणों को इन्होंने व्यंजना का उदाहरण बताया है।

आर्थी व्यंजना—वक्ता, बोद्धव्य आदि दस विशिष्टताओं से जिस शक्ति द्वारा

---

१. **जहाँ शब्द में अर्थ की होति जो अधिक प्रवृत्ति।**
चमत्कार अतिसै तहां जानि व्यंजना वृत्ति॥ व्यं०, कौ० ४

२. **वाचक के सन्मुख रहे अन्तर और अर्थ।**
चमत्कार निकसै जहाँ कहि सो व्यंग्य समर्थ॥ व्यं० कौ० ८

३. **जहाँ शब्द से अर्थ बहु अधिक-अधिक दरसाय।**
तिय कटाक्ष लौं व्यंजना कहत सकल कविराय॥ व्यं० कौ० ९

४. **अभिधा लक्षा व्यंग्य जहँ अर्थ बोध पर होइ।**
वही वृत्ति सो व्यंजना शब्द अर्थ गत होइ॥ का० वि०२।४२

व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वह आर्थी व्यंजना कहलाती है।[1]

इन्होंने प्रतिभा नामक वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है किन्तु प्रख्यात संस्कृत काव्य शास्त्रों में इसका उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। साथ ही साथ इन्होंने इसका लक्षण उदाहरण भी नहीं प्रस्तुत किया है, जिससे समझने में अस्पष्टता बनी रहती है। इसी तरह विलासादि नामक एक अन्य वैशिष्टय का भी इन्होंने उल्लेख किया है। इसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं प्रतीत होता है—

इमि विलसनि हुलसनि हसनि इमि विहसनि सुख बैन।
गनी धनी सोभा सनी बनी बनी छवि ऐन। का० वि० २।६८

किन्तु उपर्युक्त विलास हुलास हँसी आदि को यदि नायिका के हृदयगत भाव मान लें तो इन्हें चेष्टा वैशिष्ट्य कहना अधिक उचित होगा।

आचार्य विश्वनाथ की तरह इन्होंने आर्थी व्यंजना को तीन वर्गों में विभक्त किया है :—(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य। अर्थों से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

वाचक लक्षक व्यंजकों व्यंग्य सबन ते जानि।
वाच्य लक्ष्य अरु व्यंग्य ये क्रम ते कहहु बखानि।

निष्कर्ष—प्रतापसाहि ने अपेक्षाकृत सबसे अधिक कुलपति के ग्रन्थ का अनुकरण किया है। जिससे कुलपति के दोष इनकी मान्यता में भी आ गए हैं। जाति और क्रिया के उदाहरण, लक्षण लक्षणा तथा लक्षणा मूला व्यंजना के दो-दो भेद, और शाब्दी अभिधा मूला के उदाहरण का अभाव—इस बात की परिपुष्टि करते हैं। लक्षणा के भेदों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने साहित्य दर्पण का अनुकरण किया है, पर इसे वे व्यवस्था नहीं प्रदान कर सके हैं। उदाहरण अवश्य सरस हैं। उदाहरण इन्होंने कवित्त, सवैयों में प्रस्तुत कर व्यर्थ प्रसङ्ग को विशालता प्रदान कर दी है।

"रीति-कालीन आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन"

हिन्दी के इन छहों आचार्यों ने शब्द-शक्तियों का निरूपण किया है किन्तु इनमें से किसी ने भी व्यंजना की स्थापना के लिए 'वादियों' के खण्डन का प्रयत्न नहीं किया है। यह शास्त्रीय विषय बड़ा जटिल और गम्भीर है, अतः तत्कालीन अपरिपक्व गद्य-पद्य के द्वारा इसे ठीक ढङ्ग से कह सकना असम्भव प्राय ही था।

शब्द शक्ति सम्बन्धी जितनी सामग्री इन आचार्यों ने प्रस्तुत की है उसका

---

१. **वक्ता श्रोता काकु पुनि वाच्य अन्यसनिधि होइ।**
देश काल प्रस्ताव पुनि वैशिष्टादिक सोइ।
प्रतिभा अरु पुनि चेष्टा ये थल व्यंग्य बखानि।
बोधत आरथी व्यंजना कवि कुल सकल बखानि॥ का० वि० २।२७, ५८

वे यथावत्, शुद्ध और व्यवस्थित प्रतिपादन नहीं कर सके हैं। सभी आचार्यों ने गूढ़ और अगूढ़ भेदों को लक्षणा के स्थान पर लक्षणा मूला व्यंजना के प्रसङ्ग में उल्लेख किए हैं। दास को छोड़कर अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना का यथार्थ उदाहरण किसी ने नहीं प्रस्तुत किया है। इन्होंने संयोगादि प्रतिबन्धकों के उदाहरणों को ही व्यंजना का भेद मान लिया है। सोमनाथ और प्रतापसाहि ने कुलपति के ग्रन्थ से पर्याप्त सहायता ली है। विषय व्यवस्था की दृष्टि से कुलपति और सोमनाथ का स्थान श्रेष्ठ है। इतना यहाँ और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है—कि प्रायः मौलिकता का श्रेय इनमें से किसी को भी नहीं दिया जा सकता है।

शब्द-शक्ति और उसकी अर्थ-शक्ति के सम्बन्ध में आधुनिक मत

भाषा विज्ञान की दृष्टि से—

पिछले पृष्ठों में इस बात का दिग्दर्शन यत्‌किंचित कराया जा चुका है कि शब्द और उसकी अर्थ शक्तियों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय शास्त्रों और विशेष रूप से काव्याचार्यों ने क्या कहा है। इसके साथ ही इस विषय में आधुनिक विद्वानों का मत जान लेना भी अत्यन्त समीचीन होगा। आधुनिक विद्वानों ने जिन नवीन विद्याओं का प्रपंच विस्तार किया है उनमें भाषा विज्ञान का इस विषय से सर्वाधिक सम्बन्ध है क्योंकि भाषा-विज्ञान भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए भाषा के जिन तीन मूल तत्वों—ध्वनि, रूप और अर्थ का सविस्तार विवेचन करता है वे मूल रूप से शब्द और अर्थ ही हैं।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'अर्थ-विचार' करते हुए विद्वानों ने अर्थ के बढ़ने, घटने, मिटने आदि व्यापारों की व्याख्या की है। इस विवेचन में प्रमुख रूप से शब्द के अर्थापकर्ष, अर्थापदेश, अर्थोत्कर्ष, अर्थ का मूर्तीकरण तथा अमूर्तीकरण, अर्थ संकोच, अर्थविस्तार, रूपक, अनेकार्थक, समास और नामकरण को स्थान दिया गया है। वास्तव में भिन्न-भिन्न कारणों से अर्थ में जो विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं का इस रूप में उल्लेख किया गया है। अर्थ की ये सभी दशाएँ सामाजिक प्रचलन से सम्बन्धित हैं। यहाँ पर संक्षिप्त रूप में इन्हीं पर विचार किया जा रहा है:—

अर्थापकर्षः—समाज प्रचलन में किन्हीं कारणों से जब अच्छे अर्थ वाले शब्द बुरे अर्थ ग्रहण कर लेते हैं तो कालान्तर में वही उनका मुख्यार्थ हो जाता है। अर्थ के इस नए क्षेत्र की शोध सप्रयोजन की जाती है, इसीलिए यह शोध अपनी प्रथमावस्था में लक्षणा-शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होता है, जैसे:—गुरु और राजा शब्द साहित्यिक भाषा में आज भी अपना सम्माननीय अर्थ रखते हैं, पर वाराणसी क्षेत्र में गुण्डों तथा बदमाशों के लिए इनका प्रयोग होने लगा है। गुरु और राजा के मुख्यार्थ से गुण्डा अथवा बदमाश का बोध नहीं होता है वरन् यह अर्थ लक्ष्यार्थ ही है। धीरे-धीरे ये शब्द अपने लक्ष्यार्थ में ही स्थित हो जाएँगे और यहीं इनका मुख्यार्थ हो जाएगा।

अर्थापदेश:—समाज प्रचलन में लोग अपवित्र, अशुभ और अमङ्गल सूचकता का बुरापन दूर करने के लिए सुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं, इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ गिर जाता है जैसे:— स्वर्गवासी, दुकान बढ़ाना, दिया बढ़ाना आदि । स्वर्ग-वासी का मुख्यार्थ मरना नहीं था पर अप्रियता को मिटाने के प्रयोजन से इसका प्रयोग किया गया । वर्तमान समय में 'मरना' ही मुख्यार्थ हो गया है । इसी प्रकार बंद करने अथवा बुझाने को अपशकुन समझ कर बढ़ाना शब्द प्रयोग किया जाता है जब कि बंद करने का मुख्यार्थ बढ़ाना नहीं है । प्राथमिक अवस्था में बढ़ाने का लक्ष्यार्थ ही बन्द करना या बुझाना रहा होगा वही कालान्तर में मुख्यार्थ में परिणित हो गया है ।

अर्थोत्कर्ष:—भाषा में शब्दों का उत्कर्ष भी होता रहता है, जैसे:— साहस, कपड़ा मुग्ध आदि । साहस का एक दिन संस्कृत भाषा में अर्थ था—हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि पर आज हिन्दी भाषा में 'साहस' अपने इन सभी अर्थों को छोड़ चुका है । साहस को नवीन अर्थ प्रदान करने का कार्य लक्षणा शक्ति का ही है पर आज यह शब्द अपने लक्ष्यार्थ को ही मुख्यार्थ बना चुका है । इसी प्रकार कर्पट तथा कप्पट से कपड़ा और मुग्ध शब्द भी अपने मुख्यार्थ जीर्ण वस्त्र तथा मूढ़ अर्थ का त्याग कर चुके हैं । इनका वर्तमान अर्थ भी लक्षणा के सोपान से होकर ही आया है और आज वही लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ हो गया है ।

अर्थ संकोच:—प्रारम्भिक अवस्था में कुछ शब्दों का अर्थ बड़ा व्यापक था पर व्यवहार में आने पर कालान्तर में उनका अर्थ संकोच हो जाता है, जैसे:—संस्कृत भाषा का मृग शब्द । वैदिक युग में इसका मुख्यार्थ था पशु मात्र पर आज इसका अर्थ हिरण हो गया है । यह परिवर्तन आकस्मिक तो है नहीं, धीरे-धीरे कालान्तर में हुआ है । यह अर्थ परिवर्तन सप्रयोजन हुआ है और इनका लक्ष्यार्थ ही आज मुख्यार्थ बन गया है ।

अर्थ विस्तार:—लोक व्यवहार में शब्दों का विशेष अर्थ सामान्य अर्थ ग्रहण कर लेता है, जैसे—श्री गणेश मधुर शब्द, मार खाना आदि । श्री गणेश का प्रयोग पूजन में, मिठाई के स्वाद के लिए मधुर और रोटी आदि के लिए खाना का प्रयोग होता था । लक्षणा शक्ति के द्वारा क्रमशः इनको प्रारम्भ, सुन्दर, सहना अर्थ प्रदान किया गया है और वे ही प्रसंग विशेष में मुख्यार्थ हो गए हैं ।

रूपक:—जब हम कहते हैं कि—'वह गधा कहाँ है ।' अथवा आज कमल मुरझाया क्यों है ।'[1] तब हमारा ध्यान लक्ष्यार्थ पर ही होता है । इन वाक्यों में गधा का लक्ष्यार्थ मूर्ख और कमल का लक्ष्यार्थ मुख मण्डल है ।

---

१. भाषा विज्ञान, डा० श्यामसुन्दरदास, पं० सं०, पृ० २५६ ।

अनेकार्थकता:—जब एक शब्द दूसरे अर्थ में आने लगता है तब यह आवश्यक नहीं होता कि वह अपना पहला अर्थ छोड़ दे। इस तरह कभी-कभी एक शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होने लगता है जैसे—'धातु' शब्द व्याकरण, वैद्यक और खनिज-शास्त्र में अलग-अलग अर्थों का बोध कराता है। प्रारम्भ में इस अनेकार्थ के ग्रहण के पीछे लक्षणा का हाथ रहा होगा।

नामकरण:—इसके अन्तर्गत शब्द-शक्ति का पूरा विचार आ जाता है।[1] जब कोई नाम किसी वस्तु के लिए प्रचलन में आता है और उसमें अपेक्षित संकेतग्रह होने लगता है एवं फिर कालान्तर में उसकी शक्ति घटती अथवा बढ़ती है तो यह समस्त क्रिया कलाप शब्द-शक्तियों के माध्यम से होता है। पीछे शब्द-शक्तियों का पर्याप्त विवेचन हो चुका है। अतः उसी का पुनः पुनरावर्तन करना यहाँ उपर्युक्त नहीं प्रतीत होता है।

समास:—समास रचना भी अर्थ के आधार पर ही होती है। समास पद रचना में जब हम कलमुहाँ, पेटपोंछना, काम चोर आदि शब्दों द्वारा अपने विचार व्यक्त करते हैं तब इनका लक्ष्यार्थ ही दृष्टि में रहता है। यद्यपि वे लक्ष्यार्थ प्रचलन की विशेषता के कारण मुख्यार्थ हो गए हैं।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से विद्वानों ने विचार करते हुए बतलाया है कि—शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार होता है। यदि उसके और कोई अर्थ होते हैं तो वे उस समय गायब रहते हैं, अन्यथा मनुष्य शब्दों का व्यवहार कर ही न सके। इस पर भी सम्बन्ध तत्वों की भाँति अर्थ भी अपने सम्बन्धियों के साथ मनुष्य के अन्तःकरण में जुड़ा रहता है।

इस विवेचन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वाक्य में दो तत्व—(१) अर्थ तत्व और (२) सम्बन्ध तत्व होते हैं। इन दोनों में अर्थ तत्व ही प्रधान है। सम्बन्ध तत्व का कार्य है विभिन्न अर्थ तत्वों का आपस में सम्बन्ध दिखला देना। 'राम ने रावण को बाण से मारा।' इसमें चार अर्थ तत्व हैं—राम, रावण, वाण और मारना। वाक्य बनाने के लिए इन चारों अर्थ-तत्वों में सम्बन्ध तत्व की आवश्यकता पड़ेगी, अतः यहाँ चार सम्बन्ध तत्व भी हैं। 'ने' राम का सम्बन्ध दिखलाता है इसी प्रकार को, 'से' रावण और बाण का सम्बन्ध दिखलाते हैं। मारना से मारा पद बनाने में सम्बन्ध तत्व इसी में मिल गया है।

शब्द स्थान भी कभी-कभी सम्बन्ध-तत्व का काम करता है। जैसे—

---

१. यदि पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय तो नामकरण के भीतर शब्द-शक्ति का पूरा विचार आ जाता है। [भाषा-विज्ञान, डा० श्यामसुन्दरदास, पं० सं०, पृ० २५८].

राज-सदन = राजा का घर।
सदन-राज = घरों का राजा।
ग्राममल्ल = गाँव का पहलवान।
मल्लग्राम = पहलवानों का ग्राम।

उपर्युक्त शब्दों में जो अर्थ परिवर्तन हुआ है वह शब्दों के विशेष स्थान के कारण हैं।

कभी-कभी कोई भी सम्बन्ध तत्व न लगाकर शब्दों को ज्यों का त्यों छोड़ देना भी सम्बन्ध-तत्व का बोधक होता है। जैसे 'We go. They go.

संसार की कई भाषाओं में भी स्वतन्त्र शब्द भी सम्बन्ध तत्व का कार्य करते हैं। हिन्दी के सारे परसर्ग या कारक चिन्ह (ने, को, से, पर, में, का, की, के) इसी वर्ग में आते हैं।

केवल स्वरों में परिवर्तन से भी कभी-कभी सम्बन्ध तत्व प्रकट होता है।

कुछ ध्वनियों के द्विरावृत्त से भी सम्बन्ध तत्वों का काम लिया जाता है। यह द्विरावृत्ति मूल शब्द के आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थानों पर पाई जाती है।

सम्बन्ध तत्व और अर्थ तत्व का सम्बन्ध पूर्ण संयोग अथवा अपूर्ण संयोग होता है। भाषा में संबन्धतत्व द्वारा प्रमुखतः काल, लिंग, पुरुष, वचन तथा कारक आदि की अभिव्यक्ति होती है।

पाश्चात्य और भारतीय आलोचकों के अनुसार—

पश्चिम के आधुनिक आचार्यों ने भी शब्द की विशिष्ट अर्थ वत्ता पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनमें से कुछ प्रमुख विचार यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। डॉ० आइ० ए० रिचार्डस ने शब्द की विभिन्न अर्थ प्रक्रियाओं का विवेचन अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में किया है। इनके मतानुसार अर्थ की चार प्रक्रियाएँ हैं, इन्हीं के आधार पर उन्होंने अर्थ के भी चार प्रकार—वाच्यार्थ (Sense), भावनायें (Feeling), काकु (Tone) और इच्छा (Intention) स्वीकार किए हैं।[1] वाच्यार्थ से उनका अभिप्राय यह था कि प्रत्येक उक्ति किसी न किसी तात्पर्य को लेकर चलती है, यह 'तात्पर्य' अर्थ का प्रथम तत्व है। वस्तु या परिस्थिति की चर्चा करते समय हमारे मन में कोई न कोई भावना रहती है, इसका मतलब यह नहीं कि भावना सदैव उद्‌भूत ही रहती है। कुछ अवस्थाओं में भावना नहीं उद्‌बुद्ध होती पर सामान्य अवस्थाओं में तो भावना अवश्य पाई जाती है।

---

1. "For our purpose here a division into four types of Function four kinds of Meaning, will suffice."

—'Practical Criticism' P. 181

प्राय: विशिष्ट श्रोता के प्रति तथा विशिष्ट अवसर के लिए वक्ता विशिष्ट प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करता है। ऐसे प्रसङ्ग में श्रोतृ भेद और प्रकरण भेद से स्वर में भी भेद होता है, इसे ही उन्होंने काकु के नाम से अभिहित किया है। प्रत्येक उक्ति में वक्ता का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही प्रयोजन अर्थ प्रतीति में प्रमुख कार्य करता है।

"शब्द अर्थ का प्रतीक मात्र है, उसमें उस भाव के बोध कराने की पूर्ण-क्षमता नहीं होती है।"[1] अरस्तू ने साक्षात् वाचक एवं लक्षक शब्दों का भेद 'रिटोरिक्स' की तृतीय पुस्तक के द्वितीय परिच्छेद में किया है। उनका कथन है कि—"साधारण प्रयोग में शब्द साक्षात् अर्थ में, और गद्यात्मक शैली में लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति लाक्षणिक प्रयोग के द्वारा बातचीत करता है, मुख्यार्थ में शब्दों का प्रयोग करता है, एवं साधारण प्रयोग के शब्दों का व्यवहार करता है।[2] अरस्तू के इन्हीं शब्दों को हम वाचक तथा लक्षक शब्द कह सकते हैं।

ऑग्डन और रिचर्ड्स का मत भी शब्द और शब्दशक्ति के सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—"शब्द और अर्थ में प्रतीकात्मक सम्बन्ध है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द उस अर्थ का प्रतीक मात्र है और उसमें पूर्ण भाव-बोध कराने की क्षमता नहीं है,[3] जो किसी विशेष वस्तु के प्रति उत्पन्न होता है। शब्द अर्थ का वहन करते हैं। इसका एक दृष्टान्त उनके मतानुसार प्रस्तुत है जो शब्द की इस अर्थ वहन्-शक्ति स्पष्ट करता है। "यदि हम कहें 'माली दूब काट रहा है' तो घटना और स्थिति को दृष्टि में रखकर विचार करने पर हम पायेंगे कि 'दूब' को माली नहीं अपितु 'यन्त्र' काटता है। यह सब कुछ जानने पर भी हम कहते हैं कि—'माली दूब काट रहा है। इसी तरह यह जानते हुए कि शब्द का साक्षात् सम्बन्ध भाव से है फिर भी कहते यही हैं कि—शब्द घटनाओं का उल्लेख करते हैं और तथ्यों

---

1. "Words as every one knows, 'mean' nothing by themselves, although the belief that they did was equally universal."
—"The Meaning of Meaning" Ch. I P. 9-10
2. "Words however of ordinary use and in their original acceptions and Metaphors, ard alone available in the style of prose, a proof that these are the only words which all person employ, for every body carrieson conversation by means of Metaphors, and words in their primary sense."—
Aristotle : Rhetoric : B- III. Ch. II Para 6. Page 209.
3. "Words, as every one knows, 'mean' nothing by themselves; although the belief that they did···was equally universal."—'The Meaning of Meaning'. Ch. 1. P. 9.10

का वहन करते हैं। [१] इस प्रकार शब्द, भाव, एवं वस्तु में दो प्रकार के सम्बन्ध स्थिर हुए—पहला शब्द तथा भावों में, दूसरा भाव तथा वस्तु में। भाव तथा शब्द का आकस्मिक सम्बन्ध है। इस बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि—'इस पर विशेष महत्व देना अनावश्यक होगा कि 'कुत्ता' शब्द तथा गलियों में घूमते हुए पशु विशेष में कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। इनमें सम्बन्ध केवल यह है कि जब हम उस पशु-विशेष का बोध कराना चाहते हैं, तो इस शब्द का प्रयोग करते हैं। [२] इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी भाव का बोध कराने के लिए चाहे जिस प्रतीक का प्रयोग करलें। ऑग्डन और रिचर्ज्स, जहाँ एक संबद्ध पदार्थ के लिए दूसरे संबद्ध पदार्थ का प्रयोग किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं। [3] लक्षणा के सम्बन्ध में आइ० ए० रिचर्ड्स का कथन है कि—"लाक्षणिकता एक 'अर्द्ध गूढ़-ढंग' है जिसके द्वारा बहुत से तत्व अनुभव की परिधि में आ जाते हैं। [४]

पाश्चात्य विद्वान व्यंजना को अलग शब्द शक्ति के रूप में नहीं मानते, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीयमान अर्थ की महत्ता को वे भी स्वीकार करते

---

1. "But just we say that the gardener mows the lawn when we know that it is the lawn mower which actually does the cutting, so though we know that the direct relation of symbols record events and communicate facts."—The Meaning of Meaning–Ch. I. P. 9.
2. It may appear unnecessary to insist that there is no direct connection between say 'dog' the word, and certain common objects in our streets, and that the only connection which holds in that which consists in our using the word when we refer to the animal—Ibid. Ch. 1. Page 12.
3. "Metaphor, in the most general sense, is the use of one reference to a group of things between which a given relation holds, for the purpose of facilitating the discrimination of an analogous relation in another group."—The Meaning of Meaning Ch. X P. 213.
4. Metaphor is a semi surruptitious method by which a great varicty of elements can be wrought in to the fabric of experience.

   —Principal of literary criticism. Ch. XXII Page 240.

हैं। कवि अपने वर्णन को तोड़-मोड़कर रख सकता है, ऐसा वर्णन कर सकता है जो तार्किक दृष्टि से वर्ण्य विषय से कोई सम्बन्ध न रक्खे। वह लाक्षणिकता तथा अन्य ढंग से भावों के लिए ऐसे विषयों को प्रकाशित कर सकता है, जो तार्किक दृष्टि से सर्वदा असंगत हों। वह तार्किक असंगति का समावेश कर सकता है, चाहे वह तार्किक दृष्टि से सर्व साधारण और मूर्खतापूर्ण हो। इनका प्रयोग वाणी की अन्य प्रक्रियाओं के लिए अथवा स्वर (काकु) की संगति बैठाने के लिए, या अपनी अन्य अभिव्यंजना को अग्रसर करने के लिए कर सकता है। यदि इन लक्षणों में उसकी सफलता प्रमाण रूप में वर्तमान है तो कोई भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकता।[१]

इस प्रसंग में यहाँ एक बात कहनी अनावश्यक नहीं प्रतीत होती है कि लक्षणा का विवेचन इन सबकी अपेक्षा अरस्तू का अधिक सक्षम है। अतः इस प्रसंग में अरस्तू को उद्धृत करना विशेष संगत प्रतीति होता है। अरस्तू-जाति से व्यक्तिगत, व्यक्ति से जातिगत, व्यक्ति से व्यक्तिगत तथा साधर्म्यगत चार प्रकार की लक्षणा मानते हैं। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान्-व्यक्ति से व्यक्तिगत और साधर्म्यगत लक्षणा को ही स्वीकार करते हैं।[२] जाति से व्यक्तिगत लक्षणा को समझाते हुए वे कहते हैं कि लाक्षणिक शब्द किसी जाति के वाच्यार्थ का बोध कराता है किन्तु वाच्यार्थ में घटितन होने से व्यक्तिबोध (लक्ष्यार्थ) स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति से जातिगत लक्षणा को समझाते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि—'जहाँ विशिष्ट से सामान्य का बोध हो।' व्यक्ति से व्यक्तिगत लक्षणा को उन्होंने उस प्रसंग में स्वीकार किया

1· A poet must destort his statement, he may make statements which have logically nothing to do with the subject under freatment, he may by metaphor and otherwise, present subject for thought which are logically quite irrelevent, he may Perpetrate logically nonsense, be as frivial and as silly, logically as it is possible to be, all in the interest of the others function of his language to esepress feeling or adjust tone or furt her his other intention. If his success in these other aims justify him, no reader can validlys ay any thing against him.

—Practical criticism, P. P. 187-88.

2. Aristole understands metaphor in more extended sense than we do, for we only consider the third and forth of the kinds inumerated by him, as metaphors. —Foot note 7, poetics. Ch. XXI. P. 452. (Tr. Thiodore Buchley)

है—'जहाँ विशिष्ट अर्थ के लिए दूसरे विशिष्ट अर्थ के वाचक का प्रयोग किया जाए।' अरस्तू की लक्षणा का अन्तिम और महत्वपूर्ण भेद 'साधर्म्यगत लक्षणा है जिसे हम अपनी की गौणी लक्षणा कह सकते हैं। हमारी गौणी लक्षणा का रूपक और अतिशोयक्ति से प्रकट होती है किन्तु अरस्तू की लक्षणा की परिधि में सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का बीज है। ''जहाँ प्रथम वाचक का द्वितीय वाचक से ठीक वही सम्बन्ध होता है, जो तृतीय का चतुर्थ से; ऐसी अवस्था में द्वितीय का प्रयोग चतुर्थ के लिये अथवा चतुर्थ का द्वितीय के लिए किया जाता है।[1] यही अरस्तू की सधर्म्यगत लक्षणा है।

× × × ×

आधुनिक काल में शब्द शक्ति पर लिखने वाले—कन्हैयालाल पोद्दार, जगन्नाथ प्रसाद भानु, लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु, बिहारीलाल भट्ट, रामदहिन मिश्र और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। पोद्दार जी ने 'काव्य-कल्पद्रुम' के प्रथम तीन स्तबकों में शब्द शक्तियों की चर्चा की है। उनके समस्त विवेचन का आधार काव्य प्रकाश ही है, यहाँ तक कि—उदाहरण भी 'काव्य प्रकाश' से अनूदित हैं। इस ग्रन्थ का महत्व यही है कि इसमें शब्द-शक्ति के आवश्यक तत्वों का निरूपण स्पष्ट रूप से किया गया है। जगन्नाथ प्रसाद भानु का 'काव्य-प्रभाकर', लाला भगवान दीन का 'व्यंग्यार्थ मंजूषा', तथा मिश्रबन्धुओं के 'साहित्य पारिजात' का आधार भिखारीदास का काव्य निर्णय है, इसके अतिरिक्त बिहारीभट्ट का 'साहित्य-सागर' 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' और 'रसगंगाधर' से प्रभावित है। इनके ग्रन्थ के पंचम तरंग में शब्द-शक्तियों (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना) के साथ ही तात्पर्य वृत्ति का भी उल्लेख है। रामदहिन मिश्र ने भी 'काव्य-दर्पण' में शब्द-शक्ति का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का मुख्याधार ग्रन्थ काव्य-प्रकाश है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि शब्द शक्तियों के भेदोपभेद के उदाहरण आधुनिक कविता से दिए गए हैं।

आचार्य शुक्ल ही आधुनिक-युग के एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने रस, अलंकार एवं शब्द-शक्ति आदि के सम्बन्ध में मौलिक उद्‌भावनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार शुक्लजी ने साहित्य की चिन्तन-सरणि को आगे बढ़ाया है। शुक्लजी ने अभिधा के द्वारा ही काव्य की 'रमणीयता' को संभव माना है, इसके लिए उनकी आलोचना

---

1. But I call it analogous, when the relation of the second term to the first is similar to that of the fourth to the third, for then the fourth is used instead of second or the second instead of the fourth. —Poetics, Ch. XXI. P. 452

भी की गई है। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्लजी रस को काव्य का चरम लक्ष्य स्वीकार करते हैं। अतः कहना पड़ेगा कि प्रकारान्तर से वे रस-व्यंजना को काव्य की आत्मा मानते हैं। अभिधा को काव्य का चमत्कार-विधायक मानने में उनका कुछ आन्तरिक उद्देश्य प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि—वे वस्तुव्यंजना तथा उहात्मक अलंकार व्यंजना की रूढ़ परिपाटी के विरोधी थे। इसके अतिरिक्त वे तत्कालीन छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य के भी विरोधी थे।

आचार्य शुक्ल के 'शब्द-शक्ति' सम्बन्धी विचार उनके ग्रन्थ 'रस—मीमांसा में हैं। इस विवेचन में प्रत्यक्षतः उनकी मौलिकता लक्षित होती है।

शुक्लजी ने प्राचीन अलंकारिकों की रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि- इनमें सांकर्य भी पाया जाता है और प्रयोजनवती लक्षणा रूढ़ि भी हो सकती है। इस प्रकार उन्होंने रूढ़ि-प्रयोजन-वती 'लक्षणा का तीसरा भेद प्रस्तुत किया, जिसके उदाहरण ये हैं—'सिर पर क्यों खड़े हो', 'वह उनके चंगुल में है'।[१]

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने वाक्य लक्षणा मानी है। प्रसिद्ध पद्य—'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' में वे वाक्य लक्षणा बतलाते हैं। इस सम्बन्ध में शुक्लजी का मन्तव्य यह है कि—यहाँ वाक्यगत लक्षणा न होकर व्यंजना है। आपने बड़ा उपकार किया' इस वाक्य से—'आपने मेरा उपकार किया है' यह अर्थ लक्षणा-गम्य नहीं है, वस्तुतः यह व्यंजना ही है यदि इसके साथ वक्ता 'आपने मेरा घर ले लिया' यह भी कहे तो लक्षणा हो सकेगी।[२] आगे वे विपरीत लक्षणा के संबन्ध में शंका करते हैं—"अब प्रश्न होता है कि उस स्थिति में जबकि किए गए अपकार का कथन शब्दों द्वारा न होगा केवल दोनों व्यक्तियों के द्वारा मन ही मन समझ लिया जायगा तब क्या लक्षणा होगी ?"[३]

साहित्य-दर्पणकार की प्रयोजनवती उपादान गौणी सारोपा-लक्षणा के उदाहरण—'एते राजकुमाराः गच्छन्ति' के सम्बन्ध में शुक्लजी ने कहा है कि—इस वाक्य में लक्षणा 'राजकुमाराः' पद में है, 'एते' में नहीं। रसमीमांसा के सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इस पर आपत्ति की है, उनका कथन है कि वस्तुतः 'एते' आरोप को बतलाता है। अतः 'एते राजकुमाराः' सबका सब लाक्षणिक है।[४]

---

१. रस मीमांसा पृ० ३७५. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
२. रस मीमांसा पृ० ३७३, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
३. वही पृ० ३७६, आचार्य पं० रामचन्द्र शुल
४. वही पृ० ३७९ (पाद टिप्पणी), आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

किन्तु वास्तविकता यह है कि—'एते' पद जाते हुए लोगों का मुख्य वृत्ति (अभिधा) से बोधक है, अतः उसे लाक्षणिक मानना भ्रमात्मक प्रतीत होता है। इसलिए कहना पड़ेगा कि शुक्लजी का ही मत ठीक है।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के सम्बन्ध में शुक्लजी ने श्लेष तथा शाब्दी व्यंजना का वह भेद स्वीकार किया है जिसे ध्वनिवादी मानते थे। उनका कथन है—"जहाँ दूसरे अर्थ का बोध कराना भी इष्ट होता है, वहाँ श्लेष अलंकार होता है, पर जहाँ दूसरे अर्थ की यों ही प्रतीतिमात्र होती है, वहाँ अभिधा मूलक शाब्दी व्यंजना होती है'।

इस प्रथम अध्याय के अवान्तर भगों में यह भली भाँति स्पष्ट किया जा चुका है कि शब्द और उसके अर्थ को लेकर भारतीय और विदेशी आचार्यों ने किस प्रकार अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। यह विषय साहित्य शास्त्र का तो एक प्रमुख विषय ही रहा है भारतीय-दर्शन की विविध शाखाओं और व्याकरणशास्त्र में भी इस विषय का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। न्यायशास्त्र ने शब्द को ज्ञान प्राप्त करने का एक विशेष साधन अथवा प्रमाण माना है। अतः शब्दबोध की प्रक्रिया समझाते हुए उन्हें शब्द और उसके अर्थ पर विचार करना पड़ा है। मीमांसा दर्शन का मुख्य कार्य ही वेद के वाक्यों की अनेक प्रकार से व्याख्या करना रहा है।[1] अतः मीमांसा दर्शन के आचार्यों ने भी इस विषय का पर्याप्त मात्रा में सूक्ष्म विवेचन किया है। हमारा व्याकरण शास्त्र केवल शब्दों की रूप-सिंद्धि ही नहीं करता अपितु इस स्थूल कार्य से आगे बढ़कर वाक्य रचना और शब्दार्थ विज्ञान पर भी विचार करता है। साहित्येत्तर इन सभी आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति को नहीं माना है। व्यंजना का काम वे अभिधा और लक्षणा से ही चलाते रहे हैं। साहित्यशास्त्र वालों को इन सबका खण्डन करके व्यंजना की स्थापना करनी ही पड़ी है। अन्य शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा से चाहे काम चल जाए पर साहित्य-शास्त्र में व्यंजना की पृथक् स्वतन्त्र स्थिति मानना परमावश्यक है। अतः काव्यादि का विवेचन करने में साहित्य शास्त्र वालों का मत ही अन्तिम रूप से ग्राह्य कर लिया गया है। शब्द और उसके अर्थ को लेकर पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने भी विचार किया है। आधुनिक भाषा विज्ञान भी शब्द और उसके अर्थ पर अपने निजी शास्त्रीय ढङ्ग से विचार करता है और साथ ही साहित्य शास्त्रियों के शब्दार्थ निरूपण को भी ज्यों का त्यों मान लेता है।[2] इन सभी मतों पर एक साथ विचार करते हुए शब्द और उसकी शक्ति को लेकर जो सर्व सम्मत रूप उपलब्ध होता है उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

---

१. निगमवाक्यानाम न्यायैः सहस्त्रेण विवेक्त्री मीमांसा।" राजशेखर-काव्य मीमांसा,

२. देखिए—भाषाविज्ञान ले० बाबू श्यामसुन्दर दास, छठा प्रकरण

रूप रचना और अर्थ द्योतकता की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के होते हैं:—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़। जो शब्द अपनी व्युत्पत्तिगत विशेषता पर ध्यान दिए बिना ही वस्तु विशेष के लिए प्रचलित हो जाते हैं वे रूढ़ शब्द कहलाते हैं जैसे :—घट, नर, गज आदि। जो शब्द अपनी प्रकृति, प्रत्यय के योग से तज्जन्य अर्थ का बोध कराते हैं वे यौगिक शब्द होते हैं जैसे :—षट्पद अर्थात् छः पैरों वाला भ्रमर। जो शब्द अपने व्युत्पत्तिगत अर्थ को बताते हुए भी किसी विशेष पदार्थ में ही रूढ़ हो जाते हैं वे योग-रूढ़ कहलाते हैं जैसे :—पंकज। यद्यपि कीचड़ से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु पंकज है, परन्तु यह शब्द केवल कमल का ही बोधक रह गया है। इसलिए अपने-यौगिक अर्थ को प्रकट करता हुआ भी यह शब्द वस्तु विशेष में रूढ़ हो जाने के कारण योग रूढ़ है।

प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का बोध कराता है। शब्द में अर्थ प्रकाशन की इस क्षमता को विद्वानों ने उसकी शक्ति अथवा व्यापार कहा है। यह शब्द व्यापार अथवा शक्ति तीन प्रकार की होती है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ विद्वानों ने तात्पर्य नामकी चौथी वृत्ति भी मानी है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में तात्पर्यवृत्ति का कोई मूल्य नहीं माना गया है और फलस्वरूप साहित्य-शास्त्रियों ने दूसरों के मत प्रदर्शन के रूप में ही उसका सामान्य उल्लेख करके उसे छोड़ दिया है।

ऊपर बताए हुए तीनों शब्द व्यापारों की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) वाचक (२) लाक्षणिक और (३) व्यंजक। अभिधा शक्ति सम्पन्न शब्द वाचक कहलाता है। लक्षणा व्यापार के अनुसार अर्थ बोध कराने वाले लाक्षणिक कहलाते हैं। व्यंजना व्यापार के द्वारा अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द व्यंजक कहलाते हैं। वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों से उपलब्ध होने वाले अर्थ क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहलाते हैं।

अभिधा व्यापार के द्वारा अर्थबोध कराने वाले वाचक शब्द वे होते हैं जो सीधे-सीधे अपने संकेतित अर्थ का बोध करा देते हैं। मूल रूप में प्रत्येक शब्द किसी अर्थ की ओर संकेत करता है। कोई शब्द किसी अर्थ की ओर क्यों संकेत करने लगा इसे जानने का कोई साधन नहीं है। इसी कारण विद्वानों ने इस संकेत को ईश्वर संकेत शक्ति कहा है। शब्द का यह संकेत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (संज्ञा) के रूप में होता है। कुछ विद्वान शब्द का संकेत ग्रह केवल जाति के रूप में ही मानते हैं। नैयायिकों ने इसी संकेतग्रह को जाति विशिष्ट व्यक्ति के अर्थ में माना है और बौद्धों ने संकेतग्रह अतद्व्यावृत्ति के रूप में ही माना है।

जब अभिधाजन्य वाच्यार्थ के घटित न होने पर उसी से सम्बन्ध कोई दूसरा अर्थ लिया जाता है और उस दूसरे अर्थ के ग्रहण में कोई रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष होता है तब वहाँ लक्षणा होती है। लक्षणा वस्तुतः एक आरोपित व्यापार है।

जहाँ कोई अर्थ विशेष उस प्रकार के प्रयोग की परम्परा के कारण रूढ़ हो जाता है

वहाँ यदि लक्षणा के अन्य आवश्यक तत्व भी हों तब वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है जैसे—कुशल शब्द वस्तुतः कुशा लाने वाले का द्योतक रहा। परन्तु धीरे-धीरे यह शब्द कुशा उखाड़ने में अपेक्षित विवेचकत्व आदि गुणों को लक्षित करने में रूढ़ हो गया। रूढ़ि के अतिरिक्त कभी-कभी किसी विशेष प्रयोजन से भी लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। ऐसी लक्षणा प्रयोजनवती लक्षणा कहलाती है जैसे—'बम्बई बिल्कुल समुद्र में ही बसा है' वाक्य में प्रयोजनवती लक्षणा है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि बम्बई नगर तट के उस भाग पर बसा है जो कि समुद्र से बिल्कुल मिला है। यहाँ प्रयोजन यह है कि बम्बई में जलवायु की शीतलता, आर्द्र पवन का संचार तापमान की समरसता आदि विशेषतायें प्रत्यक्ष अनुभव में आते हैं। लक्षणा का यह प्रयोजन सदा व्यंग्य ही रहता है। लक्षणा उसकी प्रतीति नहीं करा सकती। अभिधा से तो वह अर्थ दूर का नाता भी नहीं रखता है, दूसरे एक बात और भी है कि अभिधा और लक्षणा दोनों ही एक बार अपना कार्य करके शान्त हो जाती हैं। उसी प्रसंग में दुबारा आगे बढ़कर अर्थ बोध कराने की क्षमता उनमें नहीं होती। अतः प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही होती है। रूढ़ा लक्षणा में व्यंग्य नहीं होता प्रयोजनवती लक्षणा का यह व्यंग्य कहीं गूढ़ होता है और कहीं अगूढ़।

लक्षणा शक्ति में अर्थाभिव्यक्ति की अनेकानेक भंगियाँ आ जाती हैं। आचार्यों ने छः प्रकार की लक्षणा में इन सब का समावेश कर लिया है। कहीं लक्षणा अपनी सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का ग्रहण कर लेती है और कहीं मुख्यार्थ का बिल्कुल परित्याग कर देती है। पहली स्थिति में उपादान लक्षणा और दूसरी स्थिति में लक्षण लक्षणा होती है। लक्षणा के इन्हीं दोनों, उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा भेदों को, साहित्यदर्पणकार ने अजहत् स्वार्था और जहत् स्वार्था कहा है।

लक्षणा में जो आरोप व्यापार कहा गया है उसकी मात्रा की दृष्टि से भी लक्षणों के दो भेद हो जाते हैं (१) सारोपा और (२) साध्यवसाना। सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ विषय और विषयी (आरोप का आधार और आरोपित किया जाने वाले धर्म) दोनों की सत्ता अलग अलग बनी रहती है जैसे 'मुख चन्द'। जहाँ विषयी विषय का पूर्णतया निगरण कर लेता है वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है जैसे :—

अद्‌भुत् एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग॥

राधा के रूप वर्णन वाले इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। इस अलंकार के मूल में साध्यवसाना लक्षणा ही होती है। यहाँ कमल, गज सिंह आदि उपमानों ने शरीर के अंगों का जो कि उपमेय हैं पूर्णतया निगरण कर लिया है। यहाँ उपमान पक्ष विषयी है और उपमेय पक्ष विषय। अतः यहाँ साध्यवसाना लक्षणा मानी जाती है।

लक्षणा में विषयी और विषय का जो परस्पर सम्बन्ध रहता है उसकी दृष्टि से भी लक्षणा दो प्रकार की होती है—शुद्धा और गौणी। जहाँ विषय और विषयी

में परस्पर धर्म्म साम्य या सादृश्य होता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है और जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त अन्य प्रकार सम्बन्ध—जैसे कार्य कारण भाव सम्बन्ध, तात्कर्म्य, तादर्थ्य, अवयवावयवि सम्बन्ध होते हैं वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। अभी ऊपर सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के जो उदाहरण दिखाये जा चुके हैं। वे वस्तुतः गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना के ही हैं।

'घी ही आयु है' और 'लीजिये, आयु पीजिए' दोनों वाक्य क्रमशः शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना के उदाहरण हैं। यहाँ आयु और घी में कार्यकारण भाव सम्बन्ध हैं। इस प्रकार लक्षणा के कुल छः भेद आचार्यों ने माने हैं। वे इस प्रकार के हैं :—(१) उपादान लक्षणा (२) लक्षण लक्षणा (३) गौणी सारोपा (४) गौणी साध्यवसाना (५) शुद्धा सारोपा और (६) शुद्धा साध्यवसाना।

व्यंजना

अभिधा और लक्षणा शक्ति के असमर्थ हो जाने पर शब्द जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है उसे व्यंजना कहते हैं, जैसे—'गंगा में घोष है।' इस वाक्य में गंगा में घोष कहा गया है किन्तु गगा में घोष हो नहीं सकता इसलिए मुख्यार्थ का बाध करके गंगा में का लक्ष्यार्थ गंगा तट ग्रहण किया जाता है। परन्तु इस वाक्य के कथन का प्रयोजन शीतत्व, और पावनन्त की प्रतीति कराने में लक्ष्यार्थ भी असमर्थ है। इसलिए शीतत्व तथा पावनत्व की प्रतीति जिस शक्ति द्वारा होती है उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं।

अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ शब्द के द्वारा ही अपना काम करती हैं, पर व्यंजना शक्ति शब्द के अतिरिक्त कभी-कभी अर्थ के द्वारा भी अपना व्यापार करती है। इसी से व्यंजना शाब्दी और आर्थी–दो प्रकार की मानी गई है। जहाँ शब्द के द्वारा व्यंजना व्यापार होता है उसे शाब्दी व्यंजना कहते हैं। शाब्दी व्यंजना भी दो प्रकार की मानी गई है—अभिधा मूला और लक्षण मूला।

अभिधा-मूला शाब्दी व्यंजना का स्वरूप निरूपण करने के पूर्व यह विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि बहुत से शब्द अनेकार्थक होते हैं। अनेकार्थक शब्दों के सभी अर्थ उनके वाच्यार्थ ही होते हैं। कोष आदि में उन सभी का उल्लेख होता है। किसी प्रयोग में वे किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, इसका निर्णय संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि चौदह अर्थ नियंत्रक हेतु करते हैं। इस प्रकार शब्दों का अर्थ नियंत्रित हो जाने के पश्चात्, यदि उनसे किसी व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति हो जाए तो वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यजना होती है।

"चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥"[1]

---

१. बिहारी सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ २८२ दोहा—१८२

इस दोहे में 'वृषभानुजा का अर्थ वृषभानु की लड़की राधा' तथा 'हलधर के बीर' का 'बलराम के भाई कृष्ण' है। प्रकरण में यही अर्थ ठीक बैठता है। यह वाच्यार्थ प्रकरण से निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मुख्यार्थ नहीं हो सकता है, तो भी इन शब्दों से परिहास की व्यंजना होती है। राधा, वृषभ की बहिन अर्थात् गाय हैं और कृष्ण हलधर (बैल) के भाई अर्थात् बैल हैं। गाय-बैल की अच्छी जोड़ी बनी है। यदि इन दोनों शब्दों में से किसी एक को हटा कर उनका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख दें तो मुख्यार्थ तो बना रहेगा पर यह परिहास नहीं रह जाएगा। इस प्रकार यहाँ व्यंजना शब्द पर आश्रित है और अभिधा द्वारा व्यंग्यार्थ भी निकल आता है, इसी से यहाँ अभिधामूला व्यंजना हुई। इन दोनों शब्दों में श्लेष नहीं है क्योंकि आचार्यों के अनुसार श्लेषालंकार में दोनों अर्थ मुख्य होने चाहिए और यहाँ एक ही अर्थ प्रधान है। दूसरा अर्थ तो केवल सूचित होता है। अतः इस दोहे में श्लेषालंकार नहीं शाब्दी व्यंजना है।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन व्यंग्य रहता है। जिस प्रयोजन को सूचित करने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वस्तुतः वह (प्रयोजन अथवा व्यंग्य) जिस शक्ति से प्रतीत होता है उसे लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं। जैसे 'बम्बई बिल्कुल समुद्र में बसा है'—इस वाक्य में 'समुद्र में' लाक्षणिक पद है। इस कथन में जल-पवन की आर्द्रता व्यंजित करना वक्ता को अभिप्रेत है। समुद्र में शहर बस नहीं सकता है इसलिए मुख्यार्थ का बाध हो गया और लक्षणा से समुद्र तट अर्थ ग्रहण किया गया है। इसी लक्षणा में आश्रय लेकर व्यंजना प्रयोजन को व्यंजित करती है। प्रयोजनवती लक्षणा के सभी प्रयोगों में प्रायः कुछ-न-कुछ इसी तरह व्यंग्य होता है इसे ही लक्षणा मूला व्यंजना कहते हैं।

जहाँ अर्थ के द्वारा व्यंजना अपना व्यापार करती है उसे आर्थी-व्यंजना कहते हैं। आर्थी व्यंजना आचार्यों ने तीन प्रकार की मानी है—वाच्यार्थ संभवा, लक्ष्यार्थ सभवा और व्यंग्यार्थ संभवा। जब सहृदयों को काव्य भावना परिपक्व बुद्धि काव्य-रसिकों को—आपाततः प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त यथा स्थान अथवा यथा संभव जो एक अन्य अर्थ—वक्तृ, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और अन्य विधि आदि के वैशिष्टय के कारण प्रतीत हुआ करता है, वहाँ जो व्यंजना होती है वह अर्थ की ही व्यंजना हुआ करती है।

जब वाक्य के वाच्यार्थ से किसी अन्य अर्थ की व्यंजना होती है तो उसे वाच्य संभवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे—यदि कोई सासु अपनी पतोहू से कहे कि 'सन्ध्या हो गई है' तो पतोहू समझ जाएगी कि 'दीप जलाना चाहिए' इस वाच्यार्थ में दीप जलाने की इच्छा छिपी हुई है। इस प्रकार यह वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का व्यंजक हुआ और वाच्यार्थ द्वारा घटित होने के कारण व्यंजना वाच्य सम्भवा हुई। यदि इस

वाक्य में सन्ध्या के अन्य पर्यायवाची शब्द भी रख दें तो भी व्यंजना बनी रहेगी, क्योंकि वह शब्द पर नहीं अर्थ पर आश्रित है।

जहाँ लक्ष्य अर्थ में व्यंजना होती है, वह लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना कहलाती है। जब कोई अध्यापक अपने अयोग्य छात्र के संरक्षक से कहता है कि बालक आपकी देख-रेख में पर्याप्त उन्नति कर चुका है। इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। विपरीत लक्षणा से इसका लक्ष्यार्थ ग्रहण होता है कि बालक पहले से अधिक अवनत हो गया है इससे मैं बहुत अप्रसन्न हूँ। इससे लक्ष्यार्थ से श्रोतृ वैशिष्ट्य द्वारा यह व्यंग्य सूचित होता है कि संरक्षक ही बड़ा अयोग्य है। यह व्यंग्य अभिप्राय लक्ष्यार्थ के द्वारा सूचित होता है। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ सम्भवा आर्थी व्यंजना है। जहाँ लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है वहाँ लक्षणा मूला शाब्दी व्यंजना भी होती है क्योंकि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन होता है उसके लिए शाब्दी व्यंजना होती है और जो दूसरा व्यंग्य लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है उसके लिये आर्थी व्यंजना होती है। पहली व्यंजना प्रयोजन को और दूसरी अन्य अर्थ को प्रकट करती है।

जहाँ एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ को सूचित करता है, तब उस अर्थ के व्यापार को व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। विद्रोही आधी रात को जेल पर आक्रमण करके अपने साथियों को छुड़ाने का निश्चय कर चुके हैं। उनमें से एक कहता है, "देखो अष्टिमी का चन्द्र डूब चुका है, वायु की गति भी मन्द हो गई है।" इन वाक्यों के वाच्यार्थ से यह व्यंग्य सूचित होता है कि अँधेरा हो गया है, चारों ओर सन्नाटा छा गया है। इस व्यंग्यार्थ से अन्य श्रोता विद्रोहियों के लिए एक और व्यंग्य की प्रतीति होती है कि इस समय आक्रमण कर देना चाहिए। इस प्रकार जब एक व्यंग्य से दूसरे व्यंग्य की उत्पपत्ति होती है तो वह व्यंग्य संभवा आर्थी व्यंजना कहलाती है। व्यंजना का संक्षिप्त स्वरूप निरूपण इसी प्रकार है।

वास्तव में शब्द-शक्ति का यह विज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अभिधावृत्ति द्वारा वाच्यार्थ के किन-किन कोणों का संस्पर्श हो जाता है अथवा शब्द का संकेतग्रह किस-किस प्रकार का होता है, यह एक महत्वपूर्ण विवेचन की बात है। भाषा द्वारा मन के अभिप्रेत अर्थ को उसी रूप में ठीक-ठीक ग्रहण कराने का प्रयास ही इस विवेचन का प्रवर्तक है। इसके बिना हमारी बोध वृत्ति को सही दिशा नहीं मिलती है। इसके बिना समस्त ज्ञान-विज्ञान का विनमय और उत्कर्ष साधन असम्भव है। मनोगत भावों को वाणी द्वारा प्रकट करने में वचन की भंगिमाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। ये टेढ़ी सीधी भंगिमाएँ एक ओर तो चमत्कार उत्पन्न करती हैं और दूसरी ओर अर्थ का बिम्ब-ग्रहण करके गोचर प्रत्यक्षीकरण में सहायक होकर कल्पना व्यापार को तीव्रता प्रदान करती हैं। इनके द्वारा उत्पन्न किया हुआ चमत्कार हमारे सौन्दर्य बोध को परितृप्त करके कलात्मक आनन्द की उपलब्धि की ओर ले जाता है। शब्द की ये सभी वक्र अर्थ भंगिमाएँ लक्षणा के अन्तर्गत आ जाती हैं। लक्षणा इसीलिए

साहित्य के लिए अधिक उपादेय है। इसके प्रयोग से काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। इसी वाङ्मय चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य को काव्य का सर्वस्व मान कर वक्रोक्तिवादी आचार्यों ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व माना है। पाश्चात्य साहित्याचार्यों ने भी भाषा की—विशेष रूप से काव्य भाषा की—लाक्षणिक भंगिमा को विशेष महत्व दिया है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में लाक्षणिक चपलता बहुत अधिक है।[1] इसी विशेषता के कारण उन भाषाओं में अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार उपलब्ध होते हैं। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विस्तार पर यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो रीतिकाल के मध्य में ही कवियों का ध्यान भाषा के इस सौष्ठव की ओर गया था। घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि रीति मुक्त कवियों ने अपनी काव्य भाषा में लक्षणा के रुचिर प्रयोग किए हैं। इस गुण के कारण ही उनकी कविता मुगल दरबार की 'नाजुक खयाली' वाली उर्दू और फारसी कविता से टक्कर ले सकी। रीति बद्ध कवियों ने भी लक्षणा के शास्त्रीय प्रयोगों द्वारा अपना इष्ट साधन किया है। हिन्दी का आधुनिक छायावादी युग तो लक्षणा को अत्यन्त मुखर बना कर ही आत्माभिव्यक्ति करता है यदि सच पूछा जाए तो लक्षणा के कारण ही छायावादी काव्य ने हिन्दी को एक अभूतपूर्व भाषा गत् संपत्ति दी है। आधुनिक हिन्दी गद्य का जो नवीन विकास हो रहा है उसमें भी धीरे-धीरे लाक्षणिक प्रयोग आते जा रहे हैं। इन्हीं सब बातों से स्पष्ट है कि काव्य के क्षेत्र में लक्षणा-शक्ति का कैसा महत्व है।

अभिधा और लक्षणा शब्द से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सम्बन्ध बनाए रख कर अपना कार्य करती हैं परन्तु कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं जबकि एक ऐसे अर्थ की भी प्रतीति होती है, जिसका शब्द से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। काव्य में तो बहुधा ऐसा ही होता है। व्यंजना इसी प्रकार के ध्वनि रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है जो न तो वाच्यार्थ होता है न तो लक्ष्यार्थ ही। भाव-वाङ्मय के लिए व्यंजना अत्यन्त उपयोगी है। व्यंजना के बिना कवि कर्म की उत्कृष्टता तो क्या प्रतिष्ठा ही नहीं होती। व्यंग्यार्थ से रहित चित्रादि काव्य अधम काव्य माने जाते हैं।[2] व्यंग्य काव्य ही उत्तम काव्य माना जाता है।[3] काव्य में केवल शब्द को प्रधान बना कर भाव और रस के वर्णन का निषेध है। वस्तुतः ऐसा हो भी नहीं सकता। कवि अपनी रस सृष्टि करते समय समुचित शब्दों और व्यापारों के द्वारा उपयुक्त संकेत देकर पाठकों के भावक कल्पना-व्यापार को जगा देता है और पाठक भी अपनी क्षमता के अनुसार रस की गहराइयों में व्यंजना की डोरी पकड़ कर निमग्न

---

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी सा० इति०, सं० परि० सं० २००२, पृ० २०७,
२. शब्द चित्रं वाच्य चित्रम व्यंग्य त्ववरम् स्मृतम्। का० प्र० १ प्र० का० ५
३. इदमुत्तम् मतिसायिनी व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः। का० प्र० प्र० का० ४

हो जाता है। लक्षणा केवल आर्थिक-चमत्कार उत्पन्न करती है और व्यंजना रस-भाव प्रपंच का विस्तार करती है। काव्य में इसकी इतनी उपयोगिता देखकर ही आनन्द वर्द्धनाचार्य, अभिनव गुप्त मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अनेक प्रकार के विद्वानों से शास्त्रार्थ करके व्यंजना की प्रतिष्ठा की।

साहित्य में लक्षणा के विविध प्रयोग और उसका महत्व

भाषा में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। शब्दों का नव-प्रयोग विशेष प्रयोजन लेकर होता रहता है। इस नव-प्रयोग को लक्षणा व्यापार ही प्रोत्साहित करता है। कालान्तर में जब नव-प्रयोग एक निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तो वह शब्द अभिधेय हो जाता है। अतः लक्षणा का व्यापार चिर-नवीन है। उदाहरण के लिए लम्बोदर शब्द को लीजिए एक दिन यह भाषा में लक्षणा-व्यापार से प्रोत्साहित हुआ नव-प्रयोग रहा होगा, किन्तु आज यह गणपति के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसी तरह लक्षणा व्यापार सर्वदा नव-प्रयोग करता है और कालान्तर में वही प्रयोग अभिधेय होकर अभिधा का शब्द भण्डार भरते रहते हैं। वास्तव में लक्षणा व्यापार सर्वदा नए अर्थ की खोज में रहता है। इस प्रकार शब्द को नया अर्थ देकर बदले हुए परिवेशों को अधिक प्रभा विष्णु बनाता है। लक्षणा-शक्ति द्वारा कथ्य सापेक्ष्य हो जाता है, संवेदन संकेतित सौन्दर्य को नया आयाम मिल जाता है, प्रतिविम्ब प्रस्तुत हो जाते हैं, अनुभूतियों का तीव्रावेग के साथ विस्तार होता है, विशिष्ठ्य अर्थ बोध की सारणि बनती है और सादृश्य के माध्यम से उपमेय का उपमान पर पूर्णारोप होता है। जब काव्य की रमणीयता में अभिधा व्यापार से गतिरोध उत्पन्न हो जाता है उस गतिरोध का अति क्रमण कर लक्षणा काव्य की रमणीयता को सहृदय जनों को प्राप्त कराती है। उदाहरण के लिए बाबू मैथिली शरण गुप्त की इन पंक्तियों को लीजिए।

जीकर हाय ! पतंग मरे क्या ?

इस पंक्ति में 'जीकर' और 'मरे' शब्दों के कथन में विरोधाभास का चमत्कार है। मरे शब्द का मुख्यार्थ बाध होने पर ही प्रसंगानुकूल सम्बन्धित आशय जन्य अर्थ विरह-वेदना जन्य कष्ट भोगना प्राप्त होता है जो सहृदय के अन्तर के भावों में संवेदन पैदा करता है। इससे आगे बढ़ कर क्षणिक मृत्यु पीड़ा को सह्य तथा उत्सर्ग सम्मत मानना और विरह जन्य वेदना, घुटन और तड़पन को असह्य बताना भी कवि को अभिप्रेत है। यह अर्थ गौरव प्राप्त करना अभिधा की शक्ति के बाहर है। अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा ही काव्य की रमणीयता को प्रस्तुत करने में समर्थ होती है।

अर्थ स्रोत की दृष्टि से लक्ष्यार्थ भावातिरेक जन्य प्रयोग है। लक्षणा में अर्थ की प्रकृति विशिष्ट, अस्थिर और इरारूढ़ होती है। इसका आकर्षण भावात्मक होता है। आशय का गम्भीर प्रभाव इसके द्वारा प्रतिपादित होता है। वाक्य योजना के

अन्तर्गत शब्दों के मुख्यार्थ का बदलना न बदलना ही लक्षणा और अभिधा के बीच की सीमा रेखा है। कभी-कभी वाच्यार्थ संक्षिप्त होकर लक्षणा की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। सम्भवतः विस्तृत आशय को संक्षिप्त शब्दावली में प्रस्तुत करना भी लक्षणा की परिधि में आता है। अतः ऐसी अवस्था में अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ एक ही अर्थ की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अविकसित-विकसित अवस्थाओं के द्योतक माने जा सकते हैं। उदाहरण लीजिए—सारा रनिवास रो रहा है। यहाँ यदि पद को विकसित कर दिया जाए तो लक्षणा का प्रभाव समाप्त हो सकता है—'रनिवास के सभी लोग रो रहे हैं।' इस पद में लाक्षणिकता नहीं रही।

लक्षणा का क्षेत्र पद-गत होता है। लक्षणा किसी वाक्य के विधेयांश में होती है। [वाक्य के कुछ पद विधेय और कुछ पद उद्देश्य होते हैं। जो हमारा अभीष्ट है—वह विधेयांश है और जो अभीष्ट सिद्धि के लिए प्रयोग में आया है वह उद्देश्यांक होता है।] काव्य में लक्षणा की पृष्ठ भूमि में प्रयोजन रहता ही है, किन्तु 'प्रयोजन' रूप निमित्त लाक्षणिक शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता और वास्तव में यह प्रयोजन ज्ञात हो इसी एक उद्देश्य से उस (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमान तथा स्मृति का विषय नहीं होती, अतएव उसका ज्ञान केवल शब्द से ही होता है। काव्य में लक्षणा का आधार भूत प्रयोजन व्यंजन-व्यापार से ही ज्ञात होता है। इस प्रकार लाक्षणिक शब्दों के लक्ष्यार्थ ने काव्य में महती श्री-वृद्धि की है।

द्वितीय अध्याय

रीति ग्रंथकार कवियों की कृतियों में लक्षणा के प्रयोग

हिन्दी साहित्य में चिन्तामणि के पश्चात् जिस साहित्यिक दृष्टिकोण की रूप रेखा सुनिश्चित हुई वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसकी एक निश्चित साहित्यिक पृष्ठ भूमि है। उस साहित्यिक दृष्टिकोण के अन्तस्तत्व प्राकृत; संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी के भक्ति काव्य में विकसित होते रहे हैं और वही पैतृक दाय के रूप में रीतिकालीन कवियों को प्राप्त हुए हैं। रीतिकालीन काव्य जिस मुक्तक परम्परा को लेकर चला है उसका प्रथम ग्रन्थ हाल कृत 'गाथा सप्तशती' है। यह प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है और इसकी रचना ईसा की पहली शती में हुई थी।[1] इसके अतिरिक्त संस्कृत में 'अमरु-शतक' 'आर्यासप्तशती' भर्तृहरि का 'श्रृङ्गार शतक' विह्लण की 'चौर पंचाशिका' आदि ग्रन्थ भी इसी परम्परा में आते हैं। हिन्दी का रीति काव्य इन ग्रन्थों की श्रृङ्गार मुक्तक परम्परा से पूर्णतया प्रभावित है। यदि ध्यान से देखा जाय तो हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास के साथ ही इन रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ भी हो जाता है। हिन्दी साहित्य के आरम्भिक युग में वीर गीतों और प्रबन्धों की परम्परा रही है। इन वीर रसात्मक रचनाओं में भी रीति के श्रृङ्गारिक तत्व बराबर पाए जाते रहे हैं। सच तो यह है कि आदि काल के चारणों और कवियों ने वीर रस के निष्पादन की आधार भूमि श्रृङ्गार रस को ही बनाया है। वीरता के कार्य में नायक की प्रवृत्ति किसी न किसी नायिका को लेकर ही हुई है। रीति काव्य की श्रृङ्गारिकता का विद्यापति में अपार वैभव भरा पड़ा है। प्रेमाख्यानकार सूफी कवियों के काव्य प्रबन्ध में आने वाले मख-शिख, बारह-मासा, षड्ऋतु वर्णन आदि के प्रसंग भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। कृपा राम की 'हित तरंगिणी' तो एक शुद्ध रीति-ग्रन्थ ही है। हिन्दी के अमर महाकवि सूरदास की रचनाओं में भी रीति के विविध अङ्गों और उपांगों का सन्निवेश है। तुलसीदास कृत 'बरवै रामायण,' रहीम का बरवै नायिका भेद' नन्ददास की 'रस मंजरी,' केशव की 'रसिक प्रिया' तथा 'कवि प्रिया' और सेनापति का 'कवित्त रत्नाकर' ग्रन्थ भी इसी कोटि में आते हैं। उपर्युक्त सभी ग्रन्थ रीति काल से पूर्व लिखे गए हैं, यही परम्परा विकसित होती हुई रीति काल के ग्रन्थों में एक सुनिश्चित और व्यवस्थित रूप में उपलब्ध होती है।

---

१. सं० सं० की रूप रेखा, ले० पाण्डेय तथा व्यास, सप्तम् सं० पृ० ३४०

विवेच्य विषय के अनुसार सम्पूर्ण रीतिकाल को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी में वे ग्रन्थ रखे जा सकते हैं जिनमें रीति के सभी अंगों का वर्णन किया गया है जैसे—चिन्तामणि का 'कविकुल कल्पतरु' तथा 'काव्य विवेक', कुलपति मिश्र का 'रस रहस्य', देव का 'काव्य रसायन', सूरति मिश्र का काव्य सिद्धान्त, श्रीपति का 'काव्य-सरोज', दास का 'काव्य-निर्णय', सोमनाथ का रस-पीयूष निधि, और प्रतापसाहि का 'काव्य-विलास।' इन ग्रन्थों में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, रस भाव, ध्वनि, नायक, अलंकार, शब्द शक्ति, रीति, गुण, दोष, पिंगल आदि सभी कुछ व्यवस्थित रूप से निरूपित किया गया है। उपर्युक्त सभी विद्वान रीति शास्त्र के प्रकांड पण्डित थे। किन्तु उस समय गद्य का विकास न होने के कारण वे विषय को स्पष्ट नहीं कर सके। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है:—

"ये प्राय: सभी रीति शास्त्र के गम्भीर पण्डित थे, उनका अध्ययन बड़ा व्यापक था। दुर्भाग्यवश इनको तर्कोपयोगी गद्य का माध्यम उपलब्ध नहीं था, इसलिए ये जटिलताओं को स्पष्ट नहीं कर सके।"[1]

दूसरी श्रेणी में उन ग्रन्थों की गणना की जा सकती है जिनका विषय श्रृङ्गार है और उनमें मुख्य रूप से नायिका भेद का वर्णन किया गया है। इस तरह के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—केशवदास की 'रसिक प्रिया' मतिराम का 'रसराज' सुखदेव का 'रस रत्नाकर' और 'रसार्गव', देव का 'भाव विलास' और 'भवानी विलास' दास का 'रस-निर्णय', बेनी प्रवीन का 'नव रस-तरंग' पद्माकर का जगविनोद आदि। इन ग्रन्थों में रस के साथ रस के स्थायी, संचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का वर्णन किया गया है किन्तु प्रमुख रूप से श्रृङ्गार के ही विभिन्न अङ्गों का विस्तार से निरूपण किया गया है। इन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्व दिया गया है नायिका-भेद को, क्योंकि नारी के रूप और स्वभाव भेदों के वर्णन में इन कवियों की विशेष रुचि थी।

तीसरी श्रेणी में 'चन्द्रालोक' और कुवलयानन्द के आधार पर लिखे गए अलंकार ग्रन्थ आते हैं। इसका आरम्भ करनेस के श्रुति भूषण तथा कर्णाभरण से हुआ है। तत्पश्चात् महाराज जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण', सूरति मिश्र का 'अलंकार माला', रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', भूपति का 'कण्ठाभूषण' शम्भूनाथ मिश्र का 'अलंकार दीपक' ऋषिनाथ का 'अलंकार मणि मंजरी' बैरीसाल का 'भाषा-भरण' नाथ हरि नाथ तथा महाराज रामसिंह के रचे हुए 'अलंकार दर्पण' तथा पद्माकर का पद्माभरण आदि ग्रन्थ इसी परम्परा में आते हैं। इस शैली से हट कर

---

१. **रीति काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, तृ० सं० पृ० १३५,**

कुछ आलंकारिक उदाहरणों को अधिक महत्व देते हुए अलंकार ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। इस शैली के अन्तर्गत—मतिराम का 'ललित-ललाम', भूषण का 'शिवराज-भूषण', रघुनाथ का 'रसिक मोहन', दूलह का 'कविकुल कण्ठाभरण', दत्त का 'लालित्यलता' और ग्वाल का रसिकानन्द हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में अलंकार निरूपण किया गया है। इन ग्रन्थों में अर्थालंकार का विशद विवेचन है, पर शब्दालंकार के सम्बन्ध में लेखकों की रुचि रमती हुई नहीं जान पड़ती है। अधिकतर लोगों ने तो शब्दालंकारों का उल्लेख करना भी उपयुक्त नहीं समझा है। यहाँ तक कि अनुप्रास प्रेमी पद्माकर तक ने इनका उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण संस्कृत का ग्रन्थ चन्द्रलोक है जिसके अनुकरण पर ये ग्रन्थ निर्मित हुए हैं। चन्द्रालोक में भी शब्दालंकार उपेक्षित से हैं।

उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के उपलब्ध ग्रन्थों में लक्षणा-शक्ति के प्रयोग जो हुए हैं उनका विवेचन करना ही इस अध्याय का उद्देश्य है। अतः आगे क्रमशः इन ग्रन्थों के लाक्षणिक प्रयोगों की चर्चा की जा रही है।

रीति काल-पूर्व कवियों के रीति ग्रन्थों में लक्षणा के प्रयोग

"चन्द वरदायी"

हिन्दी के आदि काल में कोई रीति ग्रन्थ नहीं लिखा गया। आदि काल तो वीर गीतों और वीर गाथाओं का युग था। वीर-गाथाओं के कवियों की कृति में—विशेषकर 'चन्दबरदाई' के पृथ्वीराज रासो में काव्य-रीति के प्रति निश्चित रूप से सावधानी बरती गई है। कथा के मार्मिक प्रसंगों पर जहाँ कवि की कल्पना ने पंख फैलाया है, वहाँ अलंकारों का सहारा लेना ही पड़ा है। ऐसे प्रसंगों के श्रृङ्गार-चित्रों में बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे रीति में जकड़ कर प्रस्तुत किए गए हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र अपना मत व्यक्त करते हैं कि—"पृथ्वीराज रासो के श्रृङ्गार-चित्रों में अनेक चित्र ऐसे मिल जाते हैं जिनमें रूप के उपमानों को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति से जकड़ कर उपस्थित किया है जैसा रीति युग में हुआ है।"[१] उपमा और उत्प्रेक्षा के बड़े सफल प्रयोग 'रासो' कार ने प्रस्तुत किए हैं। षटऋतु आदि प्रसंगों के वर्णन के अवसर पर तो रूपक और उत्प्रेक्षा की बाढ़ सी आ गई है, कहीं-कहीं श्लेष की अद्भुत छटा भी दिखाई पड़ती है। रूपक, परिकरांकुर, समासोक्ति और अतिशयोक्ति में 'लक्षणा' की शक्ति परिव्याप्त होती है। अतः ऐसे प्रसंग जो रीति-काव्य की प्रारम्भिक श्रृङ्खला के समान 'रासो' में प्राप्त हैं, उन्हें यहाँ उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

---

१. **रीति-काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० १७१, तृ० सं०।**

"हिय अयन मयन तिसंथयउ । भज गहन गहन निरंथयउ ।"[१]

इसमें 'हिय-अयन' पद लाक्षणिक है। इस पद में हिय उपमेय और अयन उपमान है। कवि ने उपमेय पर उपमेय का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है। इसका आधार साहृश्य है। इसमें गौणी सारोपा लक्षणा है।

"रोमाली वम नीर निघ्घ वरये गिरि डंग नारायते ।"[२]

"इसमें 'रोमाली वन' लाक्षणिक पद है। इस पद में रोमावली उपमेय और वन उपमान है। आधार साहृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है। इसमें गौणी सारोपा लक्षणा है।

"शिशिरे सर्वरि वारणे च विरहा मम हृदय विद्दारये ।
मा कांत मृगवध्य, सिंह गमने किं देव उब्बारये ।"[३]

इसमें 'मृग' तथा 'सिंह' लाक्षणिक पद हैं। मृग, विरह का और सिंह, पृथ्वीराज (कांत) का उपमान है। इन पदों में कवि ने उपमानों के माध्यम से ही भाव का बोध कराया है।

"कुच कंज परसन अंजली । मुष मउष दोष कलक्कली ।"[४]

इसमें 'कुच कंज' तथा 'मुष तउष' लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में कुच एवं मुख उपमेय हैं और कंज तथा मयूख उपमान हैं। उपमेय का उपमान पर आरोप करके कवि ने बिंब को स्पष्ट एवं संवेदनीय बना दिया है।

"नयन्न बान बंकुरे । स्रवन्न मुक्ति तारये ।"[५]

इसमें 'नयन्न बान' तथा 'मुक्ति तारये' लाक्षणिक पद हैं। इनमें नयन तथा मोती उपमेय हैं और बाण एवं तारे उपमान हैं। इनका आधार साहृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

'रासोकार' पृथ्वीराज संयोगिता के प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर कहता है—

---

१. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार, पृ० २५६ प० सं० ११।१७, १८।
२. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार, पृ० २४९ प० सं० १४।१।
३. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार, पृ० २५० प० सं० १४।३, ४।
४. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार, पृ० २५६ प० सं० ११।१५, १६.
५. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार, पृ० १२२, प० सं० २४।१०,११

"कुंजर उप्पर सिंघ सिंघ ऊपर दो पव्वय।
पव्वय ऊपर भृङ्ग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय॥
ससि उप्पर इक्क कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड सद्ध कंद्रप्प बयट्ठौ।
अहि मयूर महि उप्परह हीर सरस हेमन जर्यो।
सुर भुवन छंडि कविचन्द कहि तिहि घोषै राजन परयौ।"[1]

कुंजर, सिंह, पव्वय, भृङ्ग, ससि, कीर, मृग, अहि एवं मयूर आदि का क्रमशः लक्ष्यार्थ जानु, कटि, कुच, कुचकोर, मुख, नासिका, दृग भौंह तथा वेणी आदि है। इन पदों का उपमेय वर्तमान नहीं है। इनका आधार सादृश्य है। इसलिए समस्त पदों में गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

"उभय कनक सिभ भ्रिग कंठीव लीला,
पुनरपि पुहुप पूजा वदति रति विप्पराज।
उरसि मुत्तिहारं मध्धि घंटीय सबदं
मुगत्ति सुकल वल्ली नंग रंग त्रिवल्ली।"[2]

इसमें 'कनक सिभ', 'मुगत्ति सुकल वल्ली' तथा 'अनंग रंग त्रिवल्ली' लाक्षाणिक पद हैं। ये सभी पद क्रमशः गंगा के कुच और गंगा के उपमान हैं। एकात्म्य का आधार सादृश्य एवं गुण साम्य है। सुन्दर मुक्ति की वल्ली एवं अनंग रंग त्रिवल्ली गंगा के विशेषण हैं जो यहां उपमान की तरह प्रयुक्त हैं। इसलिए इनमें साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

किन्तु इस प्रकार ढूँढ़ने पर कहीं भी दो चार पद रीति के अवश्य मिल जायेंगे। अतः इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों में रीति-तत्व खोजना कुछ विशेष प्रयोजन नहीं रखता। अप्रस्तुत-विधान तो कवि कर्म की विशिष्टता ही है। इस प्रकार जहाँ भी काव्य लिखा गया होगा वहाँ उस काव्य में लाक्षणिक प्रयोग भी हुए होंगे क्योंकि बिम्ब विधायकता और भाव में संवेदनशीलता उत्पन्न करना लक्षणा का ही कार्य है।

'विद्यापति'

"हिन्दी में वास्तव में सबसे पहले कवि विद्यापति हैं, जिनमें रीति संकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। रीति-काव्य की श्रृङ्गारिकता का तो विद्यापति में अपार वैभव ही है। रीतियों का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के श्रृङ्गार-चित्र

---

१. पृथ्वीराज रासो, कनवज्ज समय पृ० १७४६, ना० प्र० सभा काशी।
२. पृथ्वीराज रासउ, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रथमबार पृ० ८४ पद १२।१,२

सभी अलंकृत हैं और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है।"[१]

संस्कृत-साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ कवि 'जयदेव' के मधुर शृङ्गार वर्णन की परम्परा को कवि विद्यापति ने हिन्दी में विकसित किया। मैथिल कोकिल की काकली में मत्त-शृङ्गार की गूँज सर्वत्र वर्तमान हैं। कीर्तिलता, कीर्तिपताका, पदावली इनकी प्रमुख रचनायें हैं किन्तु इस प्रबन्ध में विशेष रूप से विद्यापति पदावली का उल्लेख किया जा रहा है। 'पदावली' के अध्याययों की व्यवस्था रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा अधोलिखित रूप में की गई है। प्रथम अध्याय वन्दना से प्रारम्भ होता है, तत्पश्चात क्रमशः वयः सन्धि, नखशिख, सद्यः स्नाता, प्रेम-प्रसङ्ग, दूती, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी संभाषण, अभिसार, छलना, माना, मान-भंग, वसंत, विरह, भावोल्लास, प्रार्थना और नचारी तथा विविध अध्यायों में पदावली का वर्गीकरण किया गया है। इन अध्यायों का वर्गीकरण ही साक्षी है कि 'पदावली' की रचना में नायिका भेद का पृष्ठाधार वर्तमान है। इसीलिए पदावली की गणना रीतिकाल पूर्व कवियों के रीति-ग्रन्थ के रूप में यहाँ की जा रही है।

काव्य में अर्थ को गौरवान्वित करना प्रायः काव्यकार का प्रमुख धर्म होता है। अर्थ गौरव की प्राप्ति के लिए कवि को शब्द-शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। कल्पना की उड़ान काव्य को अलंकृत करती हुई अभिव्यक्ति की नवीन झाँकियाँ प्रस्तुत करती हुई, सरिता की तरह प्रवाहित होने लगती है। 'पदावली' में भी इस प्रक्रिया का अपार वैभव भरा पड़ा है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के मतानुसार—"इनकी (विद्यापति) उपमाएँ अनूठी और अछूती हैं। इनकी उत्प्रेक्षाएँ कल्पना के उत्कृष्ट विकास के उदाहरण हैं। रूपक का इन्होंने रूप खड़ा कर दिया है। स्वभावोक्ति से इनकी सारी रचनायें ओत-प्रोत हैं। श्रुत्यानुप्रास इनके पदों का स्वाभाविक आभूषण है। प्रधान काव्यगुण—प्रसाद और माधुर्य—इनके पद-पद से टपकते हैं।"[२] अतः इस प्रकरण में पदावली में लक्षणा शक्ति के प्रयोग की ओर संकेत किया जा रहा है।

कामिनी के वयः सन्धि में स्थित नेत्रों की अवस्था का एक शब्द चित्र प्रस्तुत करते हुए विद्यापति जी कहते हैं—

'स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल।'[३] इसका मुख्यार्थ है कि दोनों नेत्रों ने कानों की तरफ का मार्ग ले लिया, किन्तु लक्ष्यार्थ है—'कटाक्ष करने लगे'। अथवा विशाल हो गये हैं। अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है।

नारी के कान्ति-युक्त शरीर का भूतल पर स्थान निर्धारित करते हुए कवि कहता है—

---

१. रीति-काव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० १७१
२. विद्यापति की पदावली, कवि परिचय, पृ० ४८, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०
३. विद्यापति की पदावली वयः सन्धि ३।४।९, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०

"धरनिए चाँद कएल परगास।"[1] यहां शरीर उपमेय का नाम तक नहीं लिया गया है बल्कि उपमान से ही अर्थ व्यक्त कर दिया गया है। यहां पर सादृश्य सम्बन्ध है। अतः गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

शैशव-यौवन के मिलन काल में नारी की मनः स्थिति का एक शब्द-चित्रण लीजिये—

"दुहु पथ हेरइत मनसिज गेल।"[2] इसका मुख्तार्थ है कि दोनों को पथ में देखते हुए कामदेव ने गमन किया। किन्तु 'गेल' का लक्ष्यार्थ है कि बाला के शरीर में कामदेव प्रविष्ट हुआ। अतः यहाँ लक्षण लक्षणा हुई।

'कुच-विकास' को कवि अभिव्यक्त करता है—

"किछु-किछु उतपति अंकुर भेल।"[3] यहां अंकुर मुख्यार्थ अपने साथ अन्यार्थ कुच को भी ग्रहण करता है। अतः लक्ष्यार्थ हुआ कुंचाकुर। इसलिए यहाँ उपादन लक्षणा है।

एक दूसरा प्रतीक देखिए—"रोपल घट ऊचल कए ठाम।"[4] यहाँ 'घट' सादृश्य के आधार पर स्तन के लिए ग्रहीत है। अतः लक्ष्यार्थ हुआ उच्च वक्षस्थल पर घट रूपी दो स्तनों की ब्रह्मा ने स्थापना की है। इसलिए यहाँ पर गौणी साध्य-वसाना लक्षणा है।

नेत्र कटाक्ष की चंचलगति का शब्द चित्र देखिए—"खने खन नयन कोन अनुसरइ।"[5] 'कोन अनुसरई' का लक्ष्यार्थ है कटाक्ष करने लगे हैं। इसलिए यहाँ लक्षण लक्षणा हुई।

इसी प्रकार का एक दूसरा चित्र देखिए—

"जुगल सैल-सिम हिमकर देखल एक कमल दुइ जोति रे।
फुलल मधुरि फुल सिंदुर लोटाएल पाँति बइसल गज मोती रे।"[6]

यहाँ क्रमशः 'जुगल सैल', 'हिमकर', 'कमल' और 'दुइ जोति' का लक्ष्यार्थ स्तन, मुख, मुख तथा नेत्र है। आधार सादृश्य है। अतः गौणी साध्यवसाना लक्षणा हुई। 'पाँति' शब्द का मुख्यार्थ पंक्ति है, किन्तु अन्यार्थ दन्त है अतः लक्ष्यार्थ हुआ दन्त-पंक्ति। इसलिये इसमें उपदान लक्षणा है। फिर दन्त-पंक्ति को गजमोती कहा गया है। आधार सादृश्य है। अतः इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा हुई।

---

१. **विद्यापति की पदावली वयः सं० ४।४।६, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**
२. **विद्यापति की पदावली, वयः सं०, २।६।११, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**
३. **विद्यापति की पदावली, वयः सं० ८।७।१२, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**
४. **विद्यापति की पदावली, वयः सं०, ८।७।१२, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**
५. **विद्यापति की पदावली, वयः सं०, १।६।१४, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**
६. **विद्यापति की पदावली, नखशिख, २,१३।२२, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०**

"कनक-कमल माझ काल भुजंगिनि
स्रीयुत खंजन खेला।"[१]

यहाँ 'कनक-कमल' का लक्ष्यार्थ मुख और 'काल-भुजंगिनि' का लक्ष्यार्थ आँखें ग्रहीत है। आधार सादृश्य है। इसलिए गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

"नाभि विवर सयँ लोम-लतावलि भुजगि निसास पियासा।
नासा खगपति चंचु भरम भय कुच गिरि संधि निवासा॥"[२]

यहाँ 'लोम-लतावलि भुजगि' में सादृश्य आधार है और उपमेय उपमान दोनों वर्तमान हैं। इसी प्रकार 'नासा खगपति चंचु' और 'कुचगिरि' शब्द भी हैं। अतः सर्वत्र गौणी सारोप लक्षणा है।

इसी प्रकार सर्वत्र लक्षणा शक्ति का व्यापार पदावली में व्याप्त है। इससे पदावली के शब्दों में अद्‌भुत् अर्थवत्ता आई है।

जायसी

लक्षणा के प्रयोगों का जो वैशिष्टच आदिकाल में उपलब्ध होता है और जिसकी परम्परा उपलक्षण प्रणाली से चन्द्र बरदायी और विद्यापति में दिखाई जा चुकी है, वह आगे चलकर धीरे-धीरे और भी व्यापक होती गई है। एक ओर तो जायसी आदि सूफी प्रेमाख्यानकार कवियों में उसका उपयोग मिलता है और उनके काव्य की शोभा बढ़ाता है तथा दूसरी ओर ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त कवियों में भी इसका उपयोग मिलता है और वहाँ यह उनकी वाणी के प्रभाव को तीव्रतर बनाता है। सन्त कवियों की भाषा का लाक्षणिक दृष्टि से विवेचन आगे यथा-स्थान किया जाएगा। यहाँ सूफी कवियों में सर्व प्रमुख जायसी के द्वारा किए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का यत्-किंचित दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

जायसी कृत पद्मावत एक मसनवी शैली का प्रबन्ध काव्य हैं। प्रबन्ध-काव्य का क्षेत्र विषय वस्तु की दृष्टि से बड़ा व्यापक होता है। पद्मावत की यथा वस्तु भी प्रबन्ध काव्योचित विस्तार से युक्त है। नखशिख, बारहमासा, षट्‌ऋतु वर्णन के प्रसंगों को देखकर यह प्रतीत होता है कि कवि रीति के प्रति अवश्य सतर्क था। भावना के क्षेत्र में कवि हृदय की 'प्रेम पीर' तो सारे विश्व की 'प्रेम पीर' सी प्रतीत होती है।[3]

'पद्मावत' में अन्योक्तियों और समासोक्तियों के माध्यम से जो अप्रस्तुत के

---

१. विद्यापति की पदावली, नखशिख, ४।१५।२४, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०
२. विद्यापति की पदावली, नखशिख, ६।१५।२४, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, च० सं०
३. जायसी ग्रन्थावली आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तृ० सं०, पृ० १९८
"उसकी 'प्रेम परि' तो सारे विश्व की 'प्रेम पीर' सी लगती है।"

लिए प्रस्तुत और प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत विधान किया गया है वह समस्त हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का अनूठा है। ऐसे प्रसंगों में वाणी का ऐश्वर्य एवं विस्तार लक्षणा शक्ति के द्वारा ही संपादित होता है। इस प्रस्तुत-अप्रस्तुत के सुन्दर समन्वय के सम्बन्ध में डॉ० शम्भूनाथसिंह का मत द्रष्टव्य है:—

"प्रस्तुत को प्राकृतिक अप्रस्तुतों द्वारा व्यक्त करने या स्पष्ट करने की प्रवृत्ति जायसी में बहुत अधिक मिलती है। उदाहरणार्थ उन्होंने पद्मिनी को कमल और चन्द्र, रतनसेन को भौंरा, सूर्य और चन्द्रमा और अलाउद्दीन को सूर्य रूप में माना है और इन्हीं अप्रस्तुतों के आधार पर रूपक खड़े किए गए हैं।"[1]

कवि ने पद्मावत के वर्णन में प्रतीकों का अधिक सहारा लिया है जिससे रूपक की छटा अपने आप उसकी शैली को गौरवान्वित करती है। वियोग काल के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन तथा विरह ताप के वेदनात्मक स्वरूप को अत्यन्त विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। इस सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है:—

"इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदना के स्वरूप में है परिमाण निर्देश के रूप में नहीं है।"[2]

रूपक और अतिशयोक्ति के मूल में लक्षणा का ही ऐश्वर्य समाहित रहता है। अतः यहाँ इस कथन की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं। इस विषय की अधिक चर्चा चतुर्थ अध्याय में की जाएगी। अतः यहाँ अति संक्षेप में इस विषय का उल्लेख किया जा रहा है।

"खरग धनुक, चक बान दुइ, जग-मारन तिन्ह नावँ।
सुनि कै परा मुरुछि कै (राजा) मो कहँ हए कुठावँ॥"[3]

'खरग,' 'धनुक' और 'चक बान दुइ' लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमश; उपमान हैं नासिका, भ्रू, पुतली और कटाक्ष के। इन उपमेयों के प्रतीति कवि ने उपमानों के माध्यम से कराई है। इस प्रकार बिंब की संप्रेषणीयत में वृद्धि हुई है और वह अधिक संवेदनीय हो गया है। इन पदों में साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

"सुभर सरोवर नयन वै मानिक भरे तरंग।
आवत तीर फिर वहीं काल भौंर तेंहि संग॥"[4]

'मानिक भरे तरंग' लाक्षणिक पद है। इसमें मानिक (लाल डोरे) उपमेय और तरंग उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप

---

१. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डॉ० शम्भूनाथसिंह, प्र० सं०, पृ० ४४७.
२. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, त्रिवेणी से उद्धृत, सं० कृष्णानन्द, पृ०. ४१.
३. पद्मावत, नखशिख खण्ड, सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० पृ० ४२, प० ३
४. पद्मावत, नखशिख खण्ड, सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० पृ० ४३, प० ५

करके बिंब को स्पष्टता एवं संवेदनीयता प्रदान की गई है। इस पद में सारोपा गौणी लक्षणा है। मानिक पद में लक्षण लक्षणा भी है क्योंकि इसको मुख्यार्थ का बोध हो गया है। यह आंख के लाल डोरों के लिए प्रयुक्त है।

"अभी अधर अस राजा सब जग आस करेइ।
केहि कहँ कवँल विगासा, को मधुकर रस लेइ ॥[1]

'कँवल' तथा 'मधुकर' लाक्षणिक पद है। कँवल और मधुकर उपमान हैं पद्मावती और रतन सेन के। यहाँ कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय का बिंब संप्रेषणीय बनाया है। इनका आधार सादृश्य है। इन पदों में साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

"हिया थार, कुच कञ्चन लारू।
कनक कचोर उठे जनु चारू ॥"[2]

'हिमाधार' तथा 'कुच कंचन लारू' लाक्षणिक पद हैं। इनमें हिया एवं कुच उपमेय हैं और थार तथा कंचन लाड़ू उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है।

इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा जायसी ने बिंबों को संप्रेषणीय एवं संवेदनीय बनाया है तथा शब्दों को अर्थ का नया आयाम दिया है। इसी प्रकार अन्य प्रेमाख्यानकार कुतुबन मंझन आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं में लक्षणा-शक्ति का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

कृपाराम

चन्द बरदाई, विद्यापति, जायसी आदि कवियों के काव्य से यह सर्वथा प्रतीत होता है कि उन्हें रीतिशास्त्र का पूर्वरूपेण ज्ञान था और उनके समय में रीति-ग्रन्थों का प्रचार बहुत कुछ हिन्दी में भी था। कृपाराम की 'हिततंरगिणी' इस अनुमान को पुष्ट करती है। 'हित तरंगिणी' का रचना काल सम्वत् १५९८ है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत द्रष्टव्य है।

"इन्होंने (कृपाराम) संवत् १५९८ में रस रीति पर हित तरंगिणी नामक ग्रन्थ दोहा में बनाया। रीति या लक्षण ग्रन्थों में यह बहुत पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियों ने बड़े छन्दों के विस्तार में शृंगार रस का वर्णन किया है पर मैंने 'सुघरता' के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगों ने भी रीतिग्रन्थ लिखे थे जो अब नहीं मिलते हैं।"[3]

'हित तरंगिणी' शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण नायिका भेद विस्तार के

---

१. पद्मावत, नखशिख खण्ड, सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० पृ० ४४, प० ८
२. पद्मावत, नखशिख खण्ड, सं० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० पृ० ४६, प० १५
३. हि० सा० इति०, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० स० २००२, पृ० १७१

साथ स्वच्छ लक्षणों और उदाहरणों से युक्त, साफ-सुथरी भाषा में सूक्ष्मतिसूक्ष्म भेदों के सहित निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ की शैली अधिकतर वर्णनात्मक है पर स्थान-स्थान पर विवेचनात्मक भी है। भिन्न-भिन्न नायिका भेदों के समन्वय और संगठन का प्रयास भी इसमें लक्षित होता है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है—

"वह (हित तरंगिणी) रीति का लक्ष्य-ग्रन्थ भी नहीं व्यक्त रूप से लक्षण-ग्रन्थ है, जिसमें सम्पूर्ण नायिका-भेद अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है।"[1]

इस ग्रन्थ में नायिका-भेद वर्णन के प्रसंग में जहाँ कवि प्रतिभा लौकिक आनन्द को अलौकिक बनाने की चेष्टा में रत हुई है वहीं अर्थाभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होती हुई चमत्कार युक्त हो जाती है।

हित तरंगिणी से यहाँ पर कुछ लाक्षणिक प्रयोग उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

सुरतांत नायिका का एक चित्र प्रस्तुत करते हुए कृपाराम कहते हैं—

"ऐसे ढार ढरे सखी नौल बधू सो लाल।
कुम्हिलानी वा सेज पैं अजौं परी बेहाल॥"[2]

कुम्हिलानी पद लाक्षणिक है। कुम्हिलाना का शब्दार्थ मुरझाना है जो पुष्प का धर्म है। यहाँ नायिका के लिए कुम्हिलाना का प्रयोग किया गया है। पहले इस प्रयोग में कवि का आशय पुष्प की सुकुमारता का नायिका पर आरोपित करना था किन्तु अब यह प्रयोग अति प्रसिद्ध हो रूढ़ हो गया है और प्रायः सभी कवियों ने नायिका के पक्ष में इसका प्रयोग किया है।

"होत भोर रति सदन ते चली चोर गति ठानि।
लरखराति लज्जित हिएँ लखि गुरजन ठकुरानि॥"[3]

इस दोहे में चली चोर-गति लाक्षणिक पद है। यह एक मुहावरा है। इसका अभिप्राय है छिपकर चलना जिससे कोई उसकी इस सुरतांत अवस्था को देख न सके।

---

१. रीति काव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, तृ० सं० १६५६, पृ० १७३

२. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर, प्रथम बार सं० १६५२, पृ. १२, पद ३६

३. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर, प्रथम बार सं० १६५२, पृ० १५, पद ५३

"लोक लाज कुल पति सकुच डारी गहि के कूप।
अंग अंग हुलसी प्रिया लखि मोहन को रूप॥"[1]

डारी गहि के कूप यह एक मुहावरा है। इसका अभिप्राय है कि लोकलाज, कुल और पति के संकोच को नायिका ने त्याग दिया है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा :—

"छिन रोवै छिन में हँसे छिन में बहु बतराइ।
गहें मौन छिन में बधू छिन दृग जल उफनाइ॥"[2]

इसमें 'उफनाइ' लाक्षणिक पद है। 'उफनाइ' का शब्दार्थ है, उबाल आना जो दूध का धर्म है। किन्तु यहाँ आँसू के पक्ष में इसका प्रयोग हुआ है। इस तरह उफनाइ पद का अर्थ ग्रहीत होता है आँखों में आँसू भर आए।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"लोचन चपल कटाक्ष सर अनियारे विषपूरि।
मन मृग बेधें मुनिन के जग जन सहित बिसूरि॥"[3]

इसमें 'कटाक्ष सर' और 'मन मृग' दोनों पद लाक्षणिक हैं। इनमें क्रमशः कटाक्ष तथा मन उपमेय और सर एवं मृग उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कटाक्ष को सर कह कर कटाक्षों में जो वशीभूत करने अथवा शिकार बनाने की शक्ति है उसको व्यक्त किया गया है और इसी प्रकार मन को मृग कहकर मन को वशीभूत होने की क्षमता प्रदान की गई है। यही अर्थ जन्य चमत्कार यहाँ है।

"गए रूसि जदुपति सखी निरखि उदधि सों मान।
बड़वानल तें विषम उर उपजो विरह कृशान॥"[4]

—'विरह कृशान' लाक्षणिक पद है। उपमेय विरह और उपमान कृशान दोनों पद में हैं। आधार सादृश्य है। विरह को कृशान कह कर विदग्धता में वृद्धि की गई है। यही अर्थ में चमत्कार है।

---

१. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर, प्रथम बार सं० १९५२, पृ० २८, पद ६३

२. हित तरंगिणी, स० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० बा० सं० १९५२, पृ० ६१, पद १९२

३. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० बा० सं० १९५२, पृ० २८ पद ६६

४. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० बा० सं० १९५२, पृष्ठ ५६ पद १६५

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :—

"बिनु रितु कैसे पाइए चम्पकली सुविचार।
जन जन कर बिहरति सखी मदन सताई नारि ॥"[1]

इसमें 'चम्पकली' लाक्षणिक पद है। चम्पकली उपमान है यहाँ उपमेय नायिका का नाम नहीं लिया गया है। आधार सादृश्य है। चम्पकली शब्द से ही नायिका का संकेत करके अर्थ में चमत्कार पैदा किया गया है। सहृदय जन चम्पकली का नायिका अर्थ ग्रहण कर लेते हैं जब कि जन साधारण चम्पकली अर्थ ही ग्रहण करते हैं, इस तरह भाव गोपन भी एक सीमा तक हो जाता है।

"घुने बाँस की बाँसुरी डारि चले नँदलाल।
लेहु कनक की नग जटित मो घर धरी रसाल ॥"[2]

इसमें 'कनक' पद लाक्षणिक हैं। कनक की नग जटित बाँसुरी रूप युक्त लावण्यमयी नायिका का उपमान है। आधार सादृश्य है। इसी तरह घुने बाँस की बाँसुरी भी पूर्व नायिका का उपमान है। इसका आधार भी सादृश्य है।

कृपाराम के इन लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता अधिक है साथ ही प्रयोग मँजे हुए तथा व्यवस्थित हैं। मुहावरों का स्वाभाविक प्रयोग इनकी अभिव्यंजना–कौशल की दक्षता और लोक रुचि के प्रति जागरूकता के परिचायक हैं। इनकी अप्रस्तुत योजना परम्परा से अवश्य जकड़ी हुई है, पर सौन्दर्य के प्रतिपादन में वह शिथिल नहीं है। इनके काव्य का वर्ण्य विषय जीवन के विविध क्षेत्रों को स्पर्श नहीं करता, बल्कि श्रृङ्गारिक भावनाओं को ही अभिव्यक्त करता है।

'सूरदास'

भगवान कृष्ण की कमनीय केलि भूमि व्रज-मण्डल के परम भागवत् महाकवि सूरदास ने भाव-विभोर होकर काव्य के माध्यम से जो रस निर्झरणी प्रवाहित की वह अपनी मधुरिमा, लोकोत्तर आस्वाद और हृदय स्पर्शिता में अनुपम है। अपने उपास्य राधा-कृष्ण के पारस्परिक श्रृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव दशाओं का चित्रण करते हुए उन्होंने अपने काव्य-स्वर की मधुरिमा से व्रज के करील-कुन्जों, तमाल-तरुओं और यमुना-कूलवर्ती प्रदेश को आप्य-यित कर दिया। सूर-सागर और साहित्य लहरी उनकी अनुपम रचनाएँ हैं।

'सूर-सागर' श्रीमद् भागवत् का अनुवाद है। इसका मुख्य विषय सगुण-भक्ति है। उसके दशम् स्कन्ध में भगवान कृष्ण और राधा का चरित्र कवि कर्म की पूरी निपुणता के साथ वर्णित किया गया है। एक ओर तो वात्सल्य और श्रृङ्गार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिस्थितियों के वर्णन से भाव पक्ष को अत्यन्त रमणीय रूप में प्रस्तुत

---

१. हित तरंगिणी, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र. बा. सं० १९५२, पृष्ठ २३, पद ३६
२. ,, ,, ,, ,, ,, पृ० २४ पद ४०

किया गया है और दूसरी ओर कला पक्ष की चारुता सिद्धि के लिए रीति के अङ्गों और उपाँगों का रसानुगुण सन्निवेश भी किया गया है। सूर की रचनाओं में अलंकारों तथा अन्य रीति-तत्वों की परम्परागत योजना है। शास्त्रीय नायिका भेद का आधार भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। साहित्य-लहरी में तो दृष्टिकूटों के रूप में चित्र-काव्य प्रणाली और शाब्दिक चमत्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में पाई जाती है।[1] वचन भंगिमा का असाधारणत्व उत्पन्न करने के लिए सूरदासजी ने लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी पर्याप्त ध्यान रखा है। साहित्य-लहरी में रीति-सामग्री अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ पर साहित्य-लहरी से कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

एक लक्षणा का उदाहरण लीजिए—

"देखि सखि, साठ कमल इक जोर।
बीस कमल परघट दिखियत है, राधा नन्द किसोर॥
सोरह कला संपूरन मोह्यो, व्रज अरुनोदय भोर।
तामैं सखी द्वैक मधु लागि रहे, चितवत चारि चकोर॥"[2]

इन पंक्तियों में प्रयुक्त साठ कमल, बीस कमल, मधु और चकोर सभी उपमान हैं, उपमेय का पता नहीं है। अतः ये सभी लक्षित अर्थ की ओर संकेत करते हैं। बीस कमल का लक्षित अर्थ है—प्रिया तथा कृष्ण के चार चरण-कमल, चार कर कमल, चार नेत्र कमल, दो मुख कमल, दो हृदय कमल, दो नाभि कमल और प्रिया जी के दो उरोज कमल। यही बीस प्रकट कमल हैं। दर्पण और यमुना में प्रतिबिंबित होकर यही साठ हो जाते हैं। 'मधु' का लक्ष्यार्थ अधर है और चकोर का लक्ष्यार्थ नेत्र है। इसलिए यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा परिलक्षित हो रही है क्योंकि सर्वत्र सादृश्य आधार है।

कलहांतरिता नायिका का एक शब्द चित्र प्रस्तुत करते हुए एक स्थल पर 'सूरदास' कहते हैं—

"धर्म-सुत के अरि-सुभावहिं तजत सिर धरि पानि।"[3]

---

१. "उनके (सूरदास) चित्रों में अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिका भेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नहीं छोड़ा।...... साहित्य-लहरी दृष्टि कूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति-अन्तर्गत अलंकार परम्परा में आता है।"

[रीतिकाल की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, तृ० सं० पृ० १७३]

२. सूर के सौ कूट सं० चुन्नीलाल शेष द्वि० आवृ० पद सं० १२ पृ० ८४।

३. सूर के सौ कूट, पद २१ पृ० १०२ सं० चुन्नीलाल शेष, द्वि० आ० सं० २०१६

इस पंक्ति में 'तजत सिर धरि पानि' एक लोकोक्ति है। जिसका लक्ष्यार्थ है भविष्य में ऐसा कार्य नहीं होगा। इसमें निरूढ़ा लक्षणा है। दूसरा चित्र कलहांतरिता का लीजिए जिसमें नायक को बुलाने के लिए प्रिया सखी से कह रही है—

"सारंग चरन, सुभग-कर-सारंग, सारंग नाम बुलावहु।"[1]

'सुभग-कर-सारंग' में सारंग उपमान और कर उपमेय दोनों साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। इनका आधार सादृश्य है। अतः गौणी सारोपा लक्षणा का वैभव प्रतिपादित है। तीसरे 'सारंग' का मुख्यार्थ भ्रमर है लक्ष्यार्थ भ्रमर वृत्ति वाले नायक की ओर संकेत करता है। यह सम्बन्ध सादृश्य के आधार पर है। इसलिए गौणी साध्यवसाना लक्षणा का सौन्दर्य दर्शनीय है।

आलंवन विभाव में नख-शिख के वर्णन का एक सुन्दरतम पद देखिए—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंध करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर, गिरिवर, गिर पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक मृगमद काग।
खंजन, धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति-और.और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियो सुधा-रस मानौं अधरन के बड़ भाग॥"[2]

सम्पर्ण पद में नायिका के अंग-उपमानों का ही वर्णन है। इस पद में नायिका के शरीर को ही 'वाटिका'-रूप में स्वीकार कर लिया गया है। बाग, कमल, क्रीड़त, सिंघ, सरवर सर, गिरवर गिर, कंज, कपोत, अमृत फल, पुहुप, पल्लव, सुक, पिक, मृगमद काग, खंजन, धनुष, चन्द्रमा और मनिधर नाग का लक्ष्यार्थ क्रमशः शरीर, चरण, गति, कटि, नाभि, दो कर कमल, दो कुच कमल एवं एक मुख कमल और नायक के दो कर कमल। इसका आधार सादृश्य है। इसमें सात कमल एवं दो कमल केवल उपमान रूप में ही वर्णित हैं। इसलिए गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

दूती द्वारा विरह-निवेदन का एक अलंबन वर्णन प्रस्तुत है—

"राधे, नैन किधौं री बान।
यौं मारैं ज्यों मुरछि परै धर, क्यौं करि राखै प्रान॥
खग पर कमल, कमल पर कदली, कदली पर हरि ठान।
हरि पर सरवर, सर पर कलसा, कलसा पर ससि भान॥

---

१. सूर के सौ कूट, पद २२ पृ० १०४ सं० चुन्नीलाल शेष, द्वि० आ० सं० २०१६
२. सूर के सौ कूट, पद २३ पृ० १०६ सं० चुन्नीलाल शेष, द्वि० आ० सं० २०१६

ससि पर बिंब, कोकिला ता बिच, कीर करत अनुमान।
बीच-बीच दामिनि दुति उपजत, मधुप-जूथ असमान ।।
तू नागरि सब गुनन उजागरि, पूरन कला निधान।
सूर श्याम तव दरसन कारन, व्याकुल परे अजान ।।"[१]

खग, कमल, कदली, सरवर, कलस, ससि, बिंब, कोकिल, कीर दामिनि, मधुप-जूथ, और आसमान सभी पद उपमान हैं। इनका लक्ष्यार्थ क्रमश: हंस गभनि, चरण, जान्हु, नाभि, कुच, मुख, अधर वाणी, नासिका, दंत पंक्ति, काले घुँघराले बाल तथा भाल है। इनका आधार सादृश्य है। गौणी साध्यवसाना लक्षणा परिव्याप्त है।

इन दृष्टि कूटों में सूर की अद्भुत प्रतिभा का परिचय मिलता है। सर्वत्र रूपकाति शयोक्ति रूपक, परिकरांकुर, श्लेष तथा यमंक अलंकारों की छटा दर्शनीय है। किन्तु इन पदों में प्रायः दो तिहाई पदों में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का स्वाभाविक एवं सहज रूप हमारे सामने उपस्थित होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास की विलक्षण प्रतिभा रूपकाति शयोक्ति में आकर निखर पड़ी है। रूपकाति शयोक्ति के मूल में वर्तमान रहती है।

'गोस्वामी तुलसीदास'

गोस्वामी तुलसीदास के बरवै रामायण में भी 'रीति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इन बरवै छन्दों में अलंकार योजना भी साभिप्राय: प्रतीत होती है। समस्त आलंकारिक वर्णनों में भी गोस्वामी जी के उपास्य भगवान राम ही आलंबन के रूप में रहते हैं, लौकिक नामक-नायिका नहीं। गोस्वामी जी के 'बरवै रामायण' के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का मत द्रष्टव्य है—

"सूर के उपरान्त तुलसी-कृत 'बरवै रामायण' पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है, उसके अनेक बरवै प्रायः अलंकारों के उदाहरण से लगते हैं।"[२]

'बरवै रामायण' के अधोलिखित बरवै ऐसे हैं, जिनसे रीति का प्रभाव स्पष्ट होता है।

"चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरें जब कुंभिलाइ ।।"[३]
'सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेल पहिरावौं चंपक होत ।।"[४]

---

१. सूर के सौ कूट, पद ३९ पृ० १४३ सं० चुन्नीलाल शेष, द्वि० आ० सं० २०१६
२. रीति काव्य की भूमिका, डॉ नगेन्द्र पृ० १७३
३. बरवै रामायण, बालकाण्ड, पद १२
४. बरवै रामायण, बालकाण्ड, पद १३

"उठीं सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन ।
सिय रघुवर के भए उनींदे नैन ।।"[1]
"का घूँघट मुख मूदहु अवला नारि ।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ।।"[2]

इसी प्रकार के अनेक पद हैं जिनमें रूप वर्णन, विरह वर्णन आदि प्रसंगों यह बात प्रकट होती है कि गोस्वामी जी भी रीति की तरफ सावधान थे ।

इस प्रकरण में 'बरवै रामायण' के उन पदों का उल्लेख किया जा रहा है जिनमें लक्षणा शक्ति के प्रयोग हुए हैं । राम के पौरुष की एक झाँकी गोस्वामी जी प्रस्तुत करते हैं—

"नृप निरास भए निरखत नगर उदास ।
धनुष तोरि हरि सब कर हरेउ हरास ।।"[3]

इस पद में आया हुआ 'हरास' शब्द अवधी कोश के आधार पर साधारण ज्वर का अर्थ संकेत करता है । किन्तु यहाँ पर उसका लक्ष्यार्थ चिन्ता ग्रहण किया गया है । अतः शुद्धा लक्षण-लक्षणा का प्रयोग है ।

श्रीराम के पद-कमल से सम्बन्धित एक अभिव्यक्ति को देखिए—

"कमल कंटकित सजनी कोमल पाइ ।
निसि मलीन यह प्रफुलित नित दरसाइ ।।"[4]

उपर्युक्त पद की भाँति ही यहाँ 'प्रफुलित' पद प्रयुक्त हुआ है । इसका प्रयोग चरण के संदर्भ में किया गया है, जबकि प्रफुल्लित होना पुष्प का धर्म है । इसका लक्ष्यार्थ शोभा की अभिवृद्धि है । इसलिए लक्षण-लक्षणा यहाँ व्याप्तमान है ।

गीतावली के उत्तर काण्ड में ऐसे कई स्थल हैं जहाँ नख-शिख वर्णन प्राप्त हो जाता है । इन वर्णनों में गोस्वामी जी ने मर्यादिता के दृष्टि कोण में अपनी सामान्य गंभीरता भी यत् किंचित शिथिल कर दी है । इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है—

"पर उत्तरकाण्ड में जाकर सूर पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गम्भीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है । जिस रूप में राम को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है । सूर सागर में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला भूलते हैं, होली खेलते हैं वही करते राम भी दिखाए गए

---

१. बरवै रामायण वति० पद १९
२. बरवै रामायण, बालकाण्ड, पद १७
३. बरवै रामायण, बालकाण्ड पद १६
४. बरवै रामायण, बालकाण्ड पद २६

हैं। इतना अवश्य है कि—सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्य-भाव ही प्रकट होता है। राम की नख-शिख शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर बहुत से पदों में लगातार चला गया है। सरयू तट के इस आनन्दोत्सव को आगे चल कर रसिक लोग क्या रूप देंगे, इसका ख्याल गोस्वामी जी को न रहा।"[1]

चलिए गीतावली के उस प्रकरण को देखें जिसको लेकर आचार्य शुक्ल के मन में भावी रसिकों के प्रति संदेह हुआ था—

"सो समौ देखि सुहावनो नवसत सँवारि सँवारि।
गुन-रूप-जोबन-सींव सुन्दरि चलीं झुण्डन झारि॥
हिंडोल-साल विलोकि सब अंचल पसारि-पसारि।
लागीं असीसन राम सीतहिं सुख-समाजु निहारि॥
झूलहिं झुलावहिं, ओसरिन्ह गावैं सुहो, गौंडमलार।
मंजीर नूपुर-बलय-धुनि जनु काम-करतल-तार॥
अति मुचत स्रमकन मुखनि, विथुरे चिकुर, विललुत हार।
तम तड़ित उडुगन अरुन विधु जनु करत व्योम-विहार॥"[2]

हिंडोला झूलने वाली नारियों के सम्बन्ध में गोस्वामी जी का एक कथन सुनिए—

राम के नख-शिख वर्णन का एक प्रसंग लीजिए—

"नाभी सर, त्रिवली निसेनिका, रोमराजि सैवल-छवि पावति।
उर मुकतामनि-माल मनोहर मनहु हंस-अवली उड़ि आवत॥"[3]

'नाभि सर', 'त्रिबली निसेनिका' एवं 'रोमराजि सैवल छवि' इन पदों में उपमान और उपमेय दोनों साथ-साथ वर्तमान हैं। इनका आधार साहृश्य है। अतः तीनों पदों में गौणी सारोपा लक्षणा है।

इसी प्रसंग का एक दूसरा शब्द चित्र देखिए—

"भौंहैं बंक मयंक-अंक-रुचि, कुंकुम रेख भाल भलि भ्राजति।"[4]

'भौंहैं बंक मयंक-अंक-रुचि' [चन्द्रमा के श्याम चिह्न रूपी बाँकी भृकुटियाँ] इस पद में आरोप्य एवं आरोप्य माण दोनों हैं। इनका आधार साहृश्य है। इस पद में गौणी सारोपा लक्षणा वर्तमान है।

इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'रीति' का आग्रह जाने-अनजाने काव्य में प्रकट होने लगा था। इन पदों में शोभा के साथ ही साथ अर्थ भी

---

१. गीतावली, पृ० ४०९, दशम् संस्करण।
२. गीतावली, पृ० ४१०, दशम् संस्करण।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ११७.
४. गीतावली, पृ० ४१३, दशम् संस्करण

गौरवान्वित हुआ था। शब्द शक्तियाँ विशेषकर लक्षणा के प्रयोग भी इन पदों में किए गए हैं। किन्तु इन पदों के आधार पर 'तुलसी' को रीति-काव्य की सीमा में नहीं लाया जा सकता है।

'आचार्य केशव'

आचार्य केशव का काव्य-जगत में प्रादुर्भाव रीतिकालीन परम्परा के आरम्भ होने के ५०-६० साल पहले हुआ था। इनकी 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' पूर्ण रूपेण रीति-ग्रन्थ ही हैं। इन ग्रन्थों में अलंकार तथा रस का विवेचन किया गया है। हिन्दी के ये प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने पाण्डित्यपूर्ण शैली में हिन्दी में अलंकार और रस का निरूपण किया है। यहाँ इनके कुछ लाक्षणिक प्रयोग संक्षेप रूप में दिए जा रहे हैं।

'रसिक-प्रिया':—

"खंजन हैं मन रंजन 'केशव' रंजन नैन किधौं मति जीकी।
मीठी सुधा कि सुधाधर की दुति दंतनि की किधौं दाड़िम ही की।
चंद भलो मुखचंद किधौं सखि सूरति काम की कान्ह की नीकी।
कोमल पंकज कै पद पंकज प्रानपियारे कि मूरति पी की॥"[1]

'मुखचन्द' तथा पदपंकज पद लाक्षणिक हैं। मुख एवं उपमेय हैं और चन्द तथा पंकज उपमान है। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"केहरि कपोत करि केर मृग मीन फनि,
सुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो है।
मृदुल मृनाल बिंब चंपक मराल वेलि,
कुंकुम दाड़िम कहँ दूनो दुख दीनो है।[2]

'केहरि', 'कपोत', 'करि', 'मृग', 'मीन', 'फनि', 'सुक', 'पिक', 'कंज', 'खंजन' 'मृनाल', 'बिंब', 'चंपक' और 'दाड़िम' सभी नारी अवयव के उपमान हैं। उपमानों के द्वारा ही कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है। इनका आधार सादृश्य है। क्रमशः इनके उपमेय हैं— कटि, ग्रीवा, गति, आंख, चोटी, नाक, वाणी, मुख, नेत्र, भुज, अधर, शरीर और दाँत। इस प्रकार इन पदों में गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

---

१. केशव ग्रन्थावली खण्ड १, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं०, पृ० ४६ पद सं० २२।
२. केशव-ग्रन्थावली खंड १ सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं० पृ० ८५ प० सं० २२।

'कवि-प्रिया:'—

"बदन चंद लोचन कमल, बाहु बीसनी जानि ।
कर पल्लव अरु भ्रू लता, बिंबाधरनि बखानि ।।"[१]

'बदन चंद', 'लोचन कमल', 'बाहु बीसनी' (कमल नाल), 'कर पल्लव' और 'भ्रूलता' लाक्षणिक पद हैं। इनमें क्रमश: बदन, लोचन, बाहु, कर तथा भ्रू उपमेय हैं एवं चंद, कमल, बीसनी, पल्लव और लता उपमान हैं। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके विंब को संप्रेषणीय बनाया है। इनका आधार सादृश्य है। प्रत्येक पद में गौणी सारोपा लक्षणा है।

"सोने की एक लता तुलसी बन क्यों बरनौं सुनि बुद्धि सकै छ्वै ।
'केसवदास' मनोज मनोहर ताहि फले फल श्रीफल से द्वै ।
फूल सरोज रह्यो तिन ऊपर रूप निरूपत चित्त चलै च्वै ।
तापर एक सुवा सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै ।।"[२]

'सोने की लता', 'श्रीफल', 'सरोज', 'सुवा' और बालक खंजन लाक्षणिक पद हैं। सभी पद उपमान हैं नारी के शरीर, उरोज, मुख, नासिका और नेत्र के। कवि ने उपमानों के माध्यम से उपमेयों के विंब को संवेदनीय बनाया है। इनका आधार सादृश्य है। इन पदों में गौणी साध्यवसाना लक्षणा है। इनके अतिरिक्त 'बुद्धि सकै छ्वै' 'फूल' और 'चित्त चलै च्वै' पद भी लाक्षणिक हैं। बुद्धि का छू सकना तथा चित्त का चूना असम्भव है। अत: इनका लक्ष्यार्थ क्रमश: बुद्धि गम्य नहीं है, विकसित होना और द्रवीभूत होना है। इन पदों में शुद्धा लक्षण-लक्षणा की शक्ति निहित है।

उपर्युक्त उदाहरण रीतिकाल से पूर्व कवियों के रीति ग्रन्थों में लक्षणा के प्रयोगों की पुष्टि करते हैं और ऐसे लाक्षणिक प्रयोग आचार्य केशव की कृतियों में पर्याप्त मात्र में पाए जाते हैं।

अब्दुर्रहीम

अब्दुर्रहीम खानखाना का 'बरवै नायिका भेद' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसमें नायिकाओं के भेद का निरूपण किया गया है और साथ ही उसकी विशिष्ट चेष्टाओं और व्यापारों का भी मनोरम वर्णन उपलब्ध होता है। यद्यपि इसमें नायिका भेद के लक्षण नहीं गिनाए गए हैं। फिर भी इसकी गणना रीति-काल पूर्व कवियों के रीति ग्रन्थों में ही की जाती है। बरवै नायिका भेद में सरसता, उक्त वैचित्र्य एवं

---

१. केशव-ग्रन्थावली खंड १, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं० पृ० १८४, पद सं० १३

२. केशव-ग्रन्थावली खंड १, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १८४, पद सं० १८

माधुर्य पग-पग पर मिलता है। रहीम का काव्य-कौशल इन छन्दों में चमक उठा है। इस सम्बन्ध में डॉ० समर बहादुर का मत द्रष्टव्य है—

"रहीम रचित 'बरवै नायिका भेद' रीतिकाल के आदि ग्रन्थों में गिना जाता है। हिन्दी साहित्य को रीति-काव्य लिखने की परम्परा संस्कृत साहित्य से प्राप्त हुई।...... भक्ति-युग के उत्तर काल में इस परम्परा को हिन्दी साहित्य में चलाने का श्रेय जिन कवियों को प्राप्त है, उनमें रहीम का नाम प्रमुख है।"[१]

'रीति-काव्य की भूमिका' में डॉ नगेन्द्र इस परम्परा के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करते हैं कि—"रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'बरवै नायिका भेद', जिसमें विभिन्न नायिकाओं के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए हैं। यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति-ग्रन्थ है। इसमें नायिकाओं के देश भेद भी दिए गए हैं।"[२]

इस ग्रन्थ को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ संस्कृत के काम-सूत्र और नाट्य-शास्त्र को दृष्टिगत रखकर लिखा गया है। इसमें नायक-नायिका के हाव-भावों तथा मनोवृत्तियों का सरस वर्णन है। यह शृङ्गार रस का एक अनूठा काव्य है। इस सम्बन्ध में डॉ० समर बहादुरसिंह कहते हैं कि—

" 'बरवै नायिका भेद' शृङ्गार रस का काव्य है। यह संस्कृत के काम-सूत्र तथा नाट्य शास्त्र के ढङ्ग पर लिखा गया है।"[३]

'बरवै नायिका भेद' बड़ी सरल और स्वाभाविक युक्तियों से ओत-प्रोत है।

कवि के भावोद्गार सीधे-सादे एवं प्रवाह पूर्ण हैं। भावोद्वेगों को व्यर्थ में अलंकृत करने का प्रयास नहीं किया गया है। इस काव्य में व्यंजना शक्ति का प्रभाव अधिक लक्षित होता है, फिर भी लक्षणा का नितान्त अभाव भी नहीं है। यहाँ पर लक्षणा शक्ति से परिव्याप्त कतिपय पदों को उद्धृत किया जा रहा है।

"कवन रोग दुँहु छतिया, उपजे आय।
दुखि दुखि उठै करेजवा, लगि जनु जाय॥"[४]

'रोग' पद का लक्ष्यार्थ यौवन विकास है। इसलिए यहां शुद्ध लक्षण-लक्षणा शक्ति है। 'दुखि दुखि' पद का लक्ष्यार्थ भी इसी प्रकार है, काम-भावना की अज्ञात टीस। अतः यहाँ पर भी शुद्धा लक्षण-लक्षणा शक्ति है। इस पद में 'अज्ञात यौवना' की अज्ञात व्यथा की अभिव्यंजना प्रस्तुत की गई है।

---

१. अब्दुर्रहीम खानखाना पृ० २४६.
२. रीति-काव्य की भूमिका पृ० १७४।
३. अब्दुर्रहीम खानखाना, पृ० २४६।
४. अब्दुर्रहीम खानखाना, बरवै नायिका भेद, पद २

लीजिए, 'मध्यमा' का एक शब्द चित्र—

"ढीलि आँख जल अँचवत, तरुनि सुभाय।
धरि खसकाइ घइलना, मुरि मुसुकाय।।"[१]

'अँचवत' पद का मुख्यार्थ पीना है और वह मुख का धर्म है। आँखें पान नहीं कर सकतीं। इसलिए यहाँ शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

लक्षिता नायिका का एक चित्र देखिये :—

"आज नयन के कोरवा, औरै भाँति।
नागर नेह नवेलिया, मूँदि न जात।।"[२]

'कोरवा का मुख्यार्थ किनारा होता है। यहाँ पर इसका लक्ष्यार्थ 'कटाक्ष' है। अतः यहाँ शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

प्रथम अनुसयाना, भावी संकेत नष्टा नायिका का एक वर्णन प्रस्तुत है:—

'जमुना तीर तरुनि अहिं, लखि भो सूल।
झरि गो रूख बेइलिया, फूलत न फूल।।"[३]

सूल पद में लक्षण-लक्षणा है, क्योंकि 'सूल' का मुख्यार्थ काँटा है और यहाँ पर उसका लक्ष्यार्थ वेदना लिया गया है। यदि ऊपर की पंक्ति में आए हुए 'तरुनि अहिं' शब्द का अर्थ तरुणियों ग्रहण किया जाए तो उसके आधार पर 'फूलत न फूल' का भी लक्ष्यार्थ प्रसन्नता के दर्शन नहीं होते ग्रहण किया जाएगा। इस भाँति इसमें भी शुद्धा लक्षण-लक्षणा होगी।

प्रौढ़ा कलहांतरिता की अभिव्यंजना सुनिए—

''थकिगा करि मनुहरिया, फिरिगा पीय।
मैं उठि तुरत न लाएउँ, हिमकर हीय।।"[४]

'हिमकर' का मुख्यार्थ चन्द्रमा है। किन्तु यहाँ लक्ष्यार्थ प्रियतम ग्रहीत है। इसका आधार सादृश्य है। इसमें उपमान है और उपमेय का तिरोभूत हो गया है। इसलिए इस पद में गौणी साध्यवसाना-लक्षणा है।

इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि—'रीति' के प्रति रहीम अपने काव्य में पूर्ण सजग रहे हैं। इसके साथ-ही-साथ वे शब्द-शक्तियों को भी भली-भाँति पहचानते थे। भाव पूर्व, सहज एवं प्रवाहमय अभिव्यक्ति के कारण बरवै नायिका भेद में अलंकारों की योजना अधिक नहीं हो पाई है। किन्तु व्यंजना शक्ति का सुन्दर

---

१. अब्दुर्रहीम खानखाना, बरवै नायिका भेद पद १३
२. अब्दुर्रहीम खानखाना, बरवै नायिका भेद पद २६
३. अब्दुर्रहीम खानखाना, बरवै नायिका भेद पद ३४, प्र० सं०
४. अब्दुर्रहीम खानखाना, बरवै नायिका भेद पद ५७, प्र० सं०

सरस प्रयोग इनमें पाया जाता है। लक्षणा-मूला व्यंजना जिसका आधार लक्षणा शक्ति है, इसके अनेक उदाहरण बरवै नायिक भेद में खोज निकाले जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त रहीम के अन्य दोहों, मदनाष्टक तथा अन्य फुटकर पदों में रीति और लक्षणा का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। डॉ० नगेन्द्र कहते हैं—"रहीम के अनेक फुटकर शृङ्गार दोनों को भी बड़ी सरलता से रीति-काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।"[1]

'नन्ददास'

नन्ददास की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्ण मध्यकाल में की गई है। इनकी रचनाएँ अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं और साथ ही विरह मंजरी तथा रस मंजरी इनकी कृतियाँ अपने आवरण में उत्तर मध्यकाल की विशेषताओं को संजोए हुए हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इन ग्रन्थों की गणना रीति-काल पूर्व के कवियों के रीति ग्रन्थों में की जा सकती है। रस-मंजरी में नायिका भेद का विशद वर्णन है और इसी के साथ उन्होंने अति संक्षेप में हाव-भाव आदि का भी वर्णन किया है।

नन्ददास जी की 'रस-मंजरी' में लक्षणा का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इनके लाक्षणिक प्रयोगों ने काव्य की चरुता में पूर्ण रूपेण वृद्धि की है। यहाँ उनके कुछ लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

अब ज्ञात यौवना का एक उदाहरण लीजिए—

"सो सुकृती वह निज नख धरिहै। इन कहँ चन्द्रचूड़ जो करिहै॥"[2]

'चन्द्रचूड़' पद का लक्ष्यार्थ 'नखदान' है। अतः यहाँ पर शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

मध्या अधीरा की अवस्था देखिए—

"अधर सुधा सब पिय तुम पियो। नव अनुराग चुचात है हियो॥"[3]

'अधर सुधा' पद में उपमान और उपमेय दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार साहश्य है। इसलिए यहाँ गौणी सारोपा लक्षणा है।

एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है—

"बन मैं श्रीफल बनि गए तुमकौं। काम क्रूर भारत है हमकौं।"[4]

'श्रीफल' पद मात्र उपमान है। इसका उपमेय उरोज यहाँ नहीं है। आधार साहश्य है। अतः इस पद में गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

---

१. रीति-काव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र पृ० १७४, तृ० सं०
२. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १२८, द्वि० सं० २०१४
३. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १२९, द्वि० सं० २०१४
४. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १२९, द्वि० सं० २०१४

प्रौढ़ा धीरा-धीरा का एक उदाहरण लीजिए—

"हँसहिं कपोल सलोल तिया के।"[१]

हँसना धर्म मनुष्य का है, यहाँ कपोल का हँसना कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रसन्नता अभिव्यक्ति के चिन्ह। इसलिए इस पद में शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

परकीया वाग्विदग्धा का कथन सुनिए—

"छिनक छाँह लीजै रस पीजै।"[२]

'रस पीजै' पद का लक्ष्यार्थ है आनन्द कीजिए। इसलिए इस पद में शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

प्रौढ़ा प्रोषित पतिका का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"अंग-अंग महा गरल जिमि चढ़्यौ।"[३]

'गरल' का परिणाम मौत है। किन्तु महा गरल यहाँ मुख्यार्थ छोड़ कर लक्ष्यार्थ प्रकट करता है, जिसका अभिप्राय है अंग-अंग में काम वेदना की व्याप्ति, जो मौत से कम दुखद नहीं है। इसलिए यहाँ शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

प्रोढ़ा कलहांतरिता का कथन सुनिए—

"अलि अदिष्टि नष्ट बड़ कोई। पाई निधि जिहि करतैं खोई॥"[४]

'पाई निधि करतैं खोई' एक मुहावरा है। इसलिए यहाँ निरूढ़ा लक्षणा है।

मध्या उत्कंठिता का एक चित्र लीजिए—

"कै इहिं सखी गई नहिं लैना। कै कछु डरपै पंकज नैना॥"[५]

'पंकज नैना' पद में उपमेय उपमान दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इसलिए गौणी सारोपा लक्षणा यहाँ है।

परकीया उत्कंठिता नायिका की अभिव्यंजना सुनिए—

"सुपिय आज दृग अतिथि न भए।"[६]

"दृग अतिथि न भए" एक मुहावरा है। जिसका अभिप्राय है आज दर्शन नहीं हुए। इसलिए यहाँ पर निरूढ़ा लक्षणा है।

परकीया विप्रलब्धा का एक लक्षण देखिए—

"तिमिरि-महागज हाथनि ठेलै। पति-डर-नाहर पाइन पेलै॥"[७]

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३०, द्वि० सं० २०१४
२. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३०, द्वि० सं० २०१४
३. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३१, द्वि० सं० २०१४
४. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३३ द्वि० सं० २०१४
५. नन्ददास ग्रन्थावली सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३४, द्वि० सं० २०१४
६. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३५, द्वि० सं० २०१४
७. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३६, द्वि० सं० २०१४

'तिमिर-महागज' और 'पति-डर-नाहर' पदों में उपमेय और उपमान दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार सादृश्य है, इसलिए यहाँ पर गौणी सारोपा लक्षणा है।

परकीया अभिसारिका का एक दृश्य प्रस्तुत है—

"जौन मनोरथ रथ तहँ होई। क्यों पहुँचै पिय पैं तिय सोई।।"[1]

'मनोरथ रथ' पद में उपमेय और उपमान दोनों वर्तमान हैं। इसलिए इस पद में गौणी सारोपा लक्षणा है।

परकीया स्वाधीन पतिका का उदाहरण लीजिए—

"मधु बैनी बारिज-बर नैनी। हास विलास रास रस रैनी।।"[2]

इसी प्रकार बारिज-बर नैनी में भी आरोप्य और आरोप्य-माण दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इसलिए इसमें गौणी सारोप लक्षणा है।

परकीया प्रीतम गमनी का कथन सुनिए—

"पन्नग-फन पर मैं पग दिए।"[3]

'पन्नग-फन पर' पग देना। पद लाक्षणिक है। यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है जान-बूझकर कष्ट उठाना। इसी लक्ष्यार्थ में यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

रस-मंजरी में सर्वत्र लक्षणा के प्रयोग पाए जाते हैं। इन प्रयोगों के कारण काव्य में चमत्कार उत्पन्न हो गया है तथा भावों में तीव्रता और बिंबात्मकता आ गई है।

'सेनापति'

सेनापति के लिखे हुए दो ग्रन्थ बतलाए जाते हैं—(१) 'काव्य-कल्पद्रुम' और (२) 'कवित्त-रत्नाकर'। काव्य कल्पद्रुम तो देखने को मिला नहीं अतएव उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। उनका दूसरा ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' है। कवित्त रत्नाकर इनका सबसे पिछला एवं संग्रहीत ग्रन्थ जान पड़ता है। इसमें पाँच तरंगें हैं और कुल ३९४ छन्द हैं जबकि दस छन्दों की पुनरावृत्ति भी हुई है। इस ग्रन्थ को सं० १७०६ में संग्रहीत किया गया था। यह समय रीतिकाल के प्रारंभ में पड़ता है। संभव है कि 'कवित्त रत्नाकर' की कुछ रचनाएँ सं० १७०६ के पूर्व की हों, पर इतना तो सत्य ही है कि इन रचनाओं पर रीतिकाल का प्रचुर प्रभाव है किन्तु रीतिकीलीन परिपाटी—भाव, विभाव अनुभाव आदि के लक्षणों और उदाहरणों का क्रम से वर्णन नहीं किया गया है।

---

१. नन्ददास ग्रन्थावली सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३८, द्वि० सं० २०१४
२. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १३९, द्वि० सं० २०१४
३. नन्ददास ग्रन्थावली, सं० व्रज रत्नदास, पृ० १४०, द्वि० सं० २०१४

दूसरी 'तरङ्ग' में शृङ्गार वर्णन किया गया है। शृङ्गार रस के आलंबन विभाव नायक नायिक हैं। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार नायिकाओं के कुछ भेदों को चुनकर उन्हीं पर कवित्त लिखे हैं। उन्होंने मुख्य रूप से मुग्धा, खण्डिता, वचन-विदग्धा स्वाधीन पतिका, स्वकीया, परकीया आदि के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। कुल मिलाकर परकीया का विशेष चित्रण है, पर इन्होंने स्वकीया के महत्व को भी स्वीकार किया है। उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नख-शिख वर्णन पर भी इस ग्रन्थ में कुछ छन्द मिलते हैं। किन्तु परम्परा से प्रचलित उपमानों का ही अनुकरण है। इनके अतिरिक्त तीसरी तरंग में ऋतु वर्णन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि विरह व्यथा को उद्दीप्त करने के लिये कवि ने ऋतु वर्णन से सहायता ली है।

नायिका-भेद, नख-शिख और ऋतु वर्णन में कवि ने जहाँ अप्रस्तुत विधान किया है अथवा वचन वक्रता का सहारा लिया है, वहाँ लक्षणा के चमत्कार भी दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि इनमें से कुछ प्रसंगों की श्लिष्ट रचना पर कवि का विशेष ध्यान होने के कारण लक्षणा शक्ति का चमत्कार नहीं उत्पन्न हो सका है, फिर भी अनेक ऐसे पद हैं जिनमें स्पष्ट रूप से लक्षणा शक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनमें से कुछ लाक्षणिक प्रयोग यहाँ पर दिये जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा :—

"कहाँ एती चतुराई, पढ़ी आप जदुराई।
अँगुरी पकरि पहुँचा कौं पकरत हौ ॥"[१]

'अँगुरी पकरि पहुँचा कौं पकरत हौ' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—थोड़ा अधिकार पाकर संपूर्ण अधिकार पा लेना। यह मुहावरा अपने इसी लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा :—

"मन लै चलति, रति करति सुहास पन,
बोलति मधुर मानौं सरस सुधाई है ॥"[२]

'लै चलति' तथा मधुर लाक्षणिक पद हैं। मन कोई वस्तु नहीं है जिसे लेकर चला जा सके और वाणी कोई मिठाई नहीं है जो मधुर हो। अतः इनका लक्ष्यार्थ है वशीभूत करना और मृदु बातें।

"लोचन जुगल थोरे थोरे से चपल, सोई सोभा मन्द पवन चलत जल जात की।
पीत है कपोल, तहाँ आई अरुनाई नई ताही छवि कर ससि आभा पात पात की ॥

१. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतुर्थ सं०, पृ० ४१, पद ३०.
२. कवित्त रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं०, पृ० ४१ पद २९.

सेनापति काम भूप सोवत सो जागत है, उज्वल विमल दुति पैयै गात गात की ।
सैसव-निसा अथौत जोवन दिन उदौत बीच बाल बधू झाईं पाई परभात की ।।[1]

'काम भूप सौवत सो जागत है' लाक्षणिक पद है । इसका वाच्यार्थ है—'काम राजा सोकर उठ गया है पर लक्ष्यार्थ है शैशव समाप्त हो गया है और तरुणाई का आगमन हो गया है अर्थात् अन्तर में काम भावना जागृत हो उठी है। इस पद में मुग्धा नायिका का कवि ने बड़ा सुन्दर बिंब प्रस्तुत किया है ।

"मानहु प्रवाल ऐसे ओठ लाल लाल, भुज कंचन मृनाल तन चंपक की माल है ।
लोचन विसाल, देखि मोहे गिरधरलाल, आज तुही बाल तीनि लोक मैं रसाल है ।
तोहि तरुनाई सेनापति बनि आई, चाल चलित सुहाई मानौं मंथर मराल है ।
नैंक देखि पाई मोपै बरनी न जाई तेरी देह की निकाई सब गेह की मसाल है ।"[2]

मसाल पद लाक्षणिक हैं। यहां वाच्यार्थ वाध गया है । इनका लक्ष्यार्थ है—कांतिपूर्ण शरीर । नारी शरीर का मासाल होना असम्भव है ।

गौणी सारोपा लक्षणा :—

"सैसव-निसा अथौत जोबन दिन उदौत,
बीच वाल बधू झाई पाई परभात की ।"[3]

'सैसव-निसा और जोबन दिन लाक्षणिक पद हैं। इनमें सैसव तथा जोबन उपमेय हैं। निसा और दिन उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। चढ़ती हुई युवावस्था पर रात-दिन के मध्य प्रभात-कालीन छटा का आरोप करके कवि ने बिंब को संवेदनीय बना दिया है ।

"बिंब हैं अधर-बिंब, कुन्द के कुसुम दन्त, उरज अनार निरखत सुखकारो हैं ।
राजैं भुज लता, कोटि कंटक कटाक्ष अति, लाल लाल कर किसलय के अनुकारी हैं ।
सेनापति चरन बरन नव पल्लव के, जंघन कौं जुग रंभाथंभ दुति धारी हैं ।
मन तौ मुनिन हू कौं, जो बन-बिहारी हुतौ, सो तौं मृग नैनी तेरे जोबन विहारी हैं ।'[4]

'बिंब है अधर-बिंब', कुन्द के कुसुम दन्त, उरज अनार, भुज लता, कंटक कटाक्ष कर किसलय, चरन बरन नव पल्लव और 'जंघन कौं जुग 'रंभा थंभ' लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं। इनका आधार रूप तथा गुण साम्य है। कवि ने उपमेयों पर उपमानों का आरोप करके बिंबों को अलौकिकता और संप्रेषणीयता प्रदान की है ।

---

१. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं०, पृ० ४० पद २६.
२. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं०, पृ० ४४ पद ४०.
३. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं० पृ० ४०, पद २६.
४. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं० पृ० ३९, पद २५.

"ललौ मन मोहि तातें सूझत न मोहिं सखी, मदन-तिमिर मेरौ जीउ रह्यो दबि है।
सेनापति जीवन अधार बिन घनसार, गंधसार हार बिरहानल कौं हबि है।
लोचन कुमुद नन्द-नन्दन को मुखचन्द, उर अरबिंद ताकौं ऐन मैंन-रबि है।
छाँड़ि दे अपार बार-बार उपचार मेरे ही-तम के हरिबे कौं प्रीतम की छबि है ॥"[1]

'लोचन कुमुद', 'मुख चन्द' और 'उर अरबिंद' लाक्षणिक पद हैं। लोचन, मुख तथा उर उपमेय एवं कुमुद, चन्द और अरबिंद उपमान हैं। इनका आधार साहृश्य है। मदन-तिमिर तथा मैंन रबि भी लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में भी उपमेय उपमान दोनों हैं और इनका आधार भी साहृश्य है। कवि ने उपमानों के सहारे बिंबों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :—

"कालिंदी की धार निरधार है अधर गन,
अलि के धरत जा निकाई के न लेस हैं।
जीते अहिराज, खंडि डारे हैं सिखंडि, घन,
इन्द्रनील कीरति कराई नाहिं ए सहैं ॥
एड़िन लगत सेना हिय के हरष कर,
देखत हरत रति कन्त के कलेस हैं।
चीकने, सघन, अँधियारे ते अधिक कारे,
लसत लछारे, सटकारे तेरे नैन हैं ॥"[2]

केश के लिए कवि ने उपयुक्त उपमान, 'कालिंदी की धार निरधार है अधर' चुना है। इस उपमान से केश राशि के सौंदर्य में व्यापकता आ गई है और कवि उस सौंदर्य को संप्रेषित करने के लिये एक सुन्दर बिंब प्रस्तुत कर सका है। इसका आधार साहृश्य है।

'कवित्त-रत्नाकर' के लाक्षणिक प्रयोगों को देखकर यह प्रतीत होता है कि कवि सेनापति इन प्रयोगों के प्रति सावधान थे। इसीलिये इस ग्रन्थ में पर्याप्त लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं। इनमें स्वाभाविकता तथा शास्त्रीयता दोनों पाई जाती हैं। मुहावरे तथा लोकोक्तियों का तो इनके काव्य में कम प्रयोग हुआ है पर अप्रस्तुत-विधान का पर्याप्त मात्रा में सहारा लिया गया है। ये अप्रस्तुत प्रकृति निरीक्षण तथा लोक अनुभव के परिचायक हैं। ऐसे अप्रस्तुत-विधान जिनमें एकात्म्य साहृश्य के आधार पर स्थापित किया गया है वे सभी लक्षणा शक्ति की श्री वृद्धि करते हैं।

---

१. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं० पृ० ४६, पद ४६.
२. कवित्त-रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, चतु० सं० पृ० ३४ पद ७.

रीतिकालीन रीति-ग्रन्थ और लक्षणा—

रीतिकाल से पहले के कवियों के रीतिग्रन्थों में लक्षणा का प्रयोग दिखाने के पश्चात् यहाँ रीतिकालीन आचार्यों के उन ग्रन्थों में जिनमें रीति के सभी अङ्गों का वर्णन किया गया है, आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को दिखाया जा रहा है। रीतिकाल के प्रमुख आचार्य चिंतामणि, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, भिखारीदास, सोमनाथ और प्रतापसाहि हैं। रीति के सभी अङ्गों का निरूपण करने वाले इनके ग्रन्थ 'कविकुल-कल्पतरु', 'रसरहस्य', 'शब्द रसायन', 'काव्य-सरोज', 'काव्य-निर्णय', 'रसपीयूषनिधि' और 'काव्य-विलास' हैं। इन आचार्यों को काव्य के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करने थे। इन्हीं उदाहरणों में लाक्षणिक प्रयोग पाये जाते हैं। श्रीपति का 'काव्य-सरोज' उपलब्ध नहीं है। इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का यहाँ क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा रहा है। इसके साथ ही इन प्रयोगों की विशेषताओं को भी स्पष्ट किया जा रहा है।

'सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ'

'कविकुल कल्पतरु'

आचार्य चिंतामणि का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविता-काल १७०० के आस-पास ठहरता है। कवि कुल-कल्पतरु, काव्य विवेक, काव्य-प्रकाश, एवं रामायण ग्रन्थ इनके लिखे हुए हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों पर ग्रन्थ लिखे।

आचार्य चिंतामणि हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा के प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने काव्य के सभी अंगों का अपने ग्रन्थ में निरूपण किया है।[1] यद्यपि इनसे ५०-६० वर्ष पूर्व आचार्य केशवदास ने हिन्दी में काव्यांगों का विवेचन कर चुके थे। किन्तु उनकी रचना का आधार संस्कृत के पूर्ववर्ती आचार्य भामह और दण्डी थे, जबकि संस्कृत के उत्तरकाल में आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ आदि ने काव्यांगों का विशद विवेचन किया था। आचार्य चिंतामणि ने इन्हीं आचार्यों का अनुकरण किया। अतः चिंतामणि से प्रवाहित होने वाली रीति परम्परा ही आगे चलकर विकसित हुई। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार—"हिंदी के अलंकार ग्रन्थ अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण का आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रन्थों का मत ग्रहण किया।[2]

इनका 'कविकुलकल्पतरु' ग्रन्थ सं० १७०७ में लिखा गया था। इसमें काव्य के विभिन्न अंगों का विवेचन है। प्रबन्ध के विषय को दृष्टि में रखकर इस ग्रंथ में

---

१. हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखंड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से चली। हि० सा० इति० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २७२.

२. हि० सा० इति., आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २७२.

प्रयुक्त पदों में लक्षणा शक्ति के प्रयोग का स्वरूप आगे दिया जा रहा है। यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि—शब्द शक्ति का विवेचन एक अति दुरूह विषय है। इसकी स्पष्ट एवं सूक्ष्म विवेचना में कतिपय संस्कृत के आचार्य भी भटक गये हैं।"[१] यद्यपि हिन्दी के कतिपय आचार्यों ने ही शब्द शक्तियों के विषय का विवेचन किया है। फिर भी दुख के साथ यह कहना पड़ता है कि प्रायः इनकी धारणा से भ्रान्ति ही पैदा होती है। 'कविकुल कल्पतरु' ग्रन्थ में शब्द शक्तियों के प्रकरण में जो उदाहरण दिए गए हैं, उनके अतिरिक्त अन्यत्र इनके प्रयोग के प्रति स्वाभाविक सतर्कता नहीं है। किन्तु रूप सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति में कवि प्रतिभा जहाँ कहीं बिंब प्रस्तुत करने लगती है वहाँ लक्षणा-शक्ति का प्रयोग दृष्टि-गोचर होता है। इसीलिए सारोपा गौणी लक्षणा के पर्याप्त प्रयोग मिलते हैं। इनके अतिरिक्त लक्षण लक्षणा और साध्यवसाना गौणी के भी कहीं-कहीं प्रयोग मिल जाते हैं। काव्यांगों के विवेचन में कवि प्रतिभा को लक्षण-उदाहरणों की सीमा में आवद्ध रहना पड़ता था इसलिए लक्षणा-शक्ति के प्रयोग के सहज स्वाभाविक रूप विरल ही दिखाई पड़ते हैं। जिन स्थलों पर प्रयोग मिलते भी हैं वे उदाहरण की सीमा में जकड़े हुए हैं। रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के उदाहरण में अथवा नायिका भेद के उदाहरणों के कतिपय प्रसंगों में इनका प्रयोग पाया जाता है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा—

> **"भई अनूपम चोपतनु प्रफुलित नैननि चैन।**
> **अंकुस दै फेरचौ हियौ बाला पन ते मैन॥"** [२]

इसमें 'प्रफुलित' और 'अंकुस' पद लाक्षणिक हैं। प्रफुलित होना पुष्पधर्म है पर यहाँ 'नैननि चैन' के पक्ष में प्रयोग किया गया है। अङ्ग, मुख और नैन के पक्ष में प्रफुलित होना कवि प्रसिद्ध से रूढ़ हो गया है, पर नैननि चैन के पक्ष में प्रफुलित शब्द का अर्थ वाध होता है और आनन्द अर्थ ग्रहण किया जाता है अर्थात् नैनों का आनन्द भी आनन्दित हो गया है।

इसी तरह 'अंकुस' हाथी को दिया जाता है, किन्तु यहाँ हृदय को अंकुस देना कहा गया है। अतः अंकुश का अर्थ वेदना युक्त नियंत्रण ग्रहीत है, यही अर्थ में चमत्कार है।

१. परन्तु ये (शब्दशक्ति और अलंकार) विषय तो हैं ही इतने गम्भीर और सूक्ष्म कि संस्कृत के भी अनेक आचार्य इनमें साफ-साफ नहीं उतर पाए। रीतिकाल की भूमिका, डॉ॰ नगेन्द्र तृतीय सं॰ १९५९ ई॰ पृ॰ १३५

२. कविकुल कल्पतरु, चिंतामणि, सं॰ १८७५ ई॰, पृ॰ ८१ पद २१ हस्त. ना॰ प्र॰ स॰ काशी

सारोपा गौणी लक्षणाः —

"बाल अधर रद उरज छवि बीज फूल फल ऊँट।
वैस संध्य मैं दाड़िमीं लई विचारी लूट ॥"[1]

अधर, रद, उरज, बीज फूल, फल लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः अधर, रद तथा उरज उपमेय हैं और फूल, बीज, फल उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। अधर पर दाड़िम के फूल के रंग का आरोप, दाँत पर बीज का आरोप, एवं उरज पर फल का आरोप कवि ने किया है। इस तरह उपमेय और उपमान के द्वारा 'सधिवेला' के रूप का निखार सहृदय के समक्ष प्रस्तुत किया गया है, यही लक्षणा जन्य चमत्कार है।

"जाहि मिलि नैन कमल खुले हैं कान मुकुत नखत पर वार कै विचारचौ हैं।
परम मधुर मुसक्यानि कौमुँदी सौं बड़ो सुखमा गरब वारि जानि को विडारचौ हैं।
निरखत सबन कौ सब वरखत को हिये हरखत हरि ध्यान निरधारचौ हैं।
चिंतामणि कहैं चख चकोरन को आनन्द मुख चंद राधिका मुकुन्द को निहरचौ हैं"[2]

नैन नील कमल, चख चकोर और मुख चन्द लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान हैं। इनकी ऐकात्म्य कल्पना का आधार सादृश है। नैन में नीलिमा एवं कमल की प्रफुल्लता का आरोप, चख पर चकोर की एकनिष्ठता का आरोप तथा मुख पर चन्द्रमा के सौन्दर्य के आरोप द्वारा कवि रूप बिंब प्रस्तुत करके अर्थ में चमत्कार पैदा करता है।

"काहू को पूरव पुन्य लता सु तौ वेलि अपूरव तू उलही है।
सोने सो जाको स्वरूप सबै कर पल्लव कांति कहा उमही है ॥
फूल हँसी फल हैं, कुच जाहि के हाथ लगै सुकृती सो सही है।
आली कियो सुनिकै बतिया मुसुक्याइ' तिया मुख नाइ रही है ॥[3]

कर पल्लव, लाक्षणिक पद हैं। इसमें कर उपमेय और पल्लव उपमेय है। आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

---

१. कवि कुल कल्पतरु, चिंतामणि, सं० १८७५ ई०, पृ० १२ पद ६२, हस्त० ना० प्र० स० काशी

२. कवि कुल कल्पतरु, चिंतामणि, सं० १८५७ ई०, पृ० ८३ पद ३३, हस्त० ना० प्र० स० काशी

३. कवि कुल कल्पतरु, चिंतामणि, सं० १८७५ ई० पृ० १०२ पद ८५, हस्त, ना० प्र० स० काशी

साध्यवसाना गौणी लक्षणा —

'पूरन मण्डल बेलि के फूल लग्यौ अकलंक मयंक तक्यौ है।
नील सरोज झरै मधु बिंदन लै सर तारका वृन्द सक्यौ है।
डोलत है तिल मूल के पौन बधू की लखे छवि कौन छक्यौ है।
गेह के द्वार मैं काहू महा सुकृती जन को जनु पुन्य पक्यौ है।"[1]

'बेलि के फूल' पद लाक्षणिक है। यह पद कामिनी की विकसित तरुणाई का उपमान है। इस पद द्वारा कामिनी की विकसित पूर्ण तरुणाई का अर्थ व्यक्त करके चमत्कार प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य चिन्तामणि के लाक्षणिक प्रयोग काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में आए हैं। ये प्रसंग अलंकारों और नायिका भेद से सम्बन्धित हैं। उदाहरणों की सीमा में बँधे रहने के कारण इनमें स्वाभाविकता का अभाव है। अप्रस्तुत योजना परम्परा नुमोदित है। समस्त लक्षण उदाहरण परम्परा से जकड़े हैं फिर भी यह सत्य है कि विशाल अप्रस्तुत योजना का स्वरूप जो इनके पूर्ववर्ती कवियों में पाया जाता है उसका भी समुचित उपयोग ये नहीं कर पाए हैं।

'रस-रहस्य'

आचार्य कुलपति मिश्र का रस-रहस्य आचार्य मम्मट के काव्य-प्रकाश का छायानुवाद है। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर गद्य वार्तिक भी दिए गए हैं, इससे यह प्रतीत होता है कि इन्होंने रस-रहस्य को प्रौढ़ काव्यशास्त्र का ग्रन्थ बनाने का प्रयास किया था।[2] शब्द शक्ति निरूपण में प्रायः इन्होंने 'काव्य प्रकाश' के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत कर दिए हैं। इनकी भाषा चलती हुई ब्रजभाषा है, जिस पर इनका अच्छा अधिकार था।

रस अलंकार निरूपण में इनकी काव्य-प्रतिभा निखर गई है। यदि इन्हें लक्षण उदाहरण की सीमा में बँधकर न चलना होता तो निश्चित रूप से इनकी रचना में अधिक सरसता आ गई होती। भावों को संवेदनीय एवं संप्रेषणीय बनाने के लिए जहाँ भी इन्हें अप्रस्तुत विधान करना पड़ा है वहाँ निश्चितरूप से उक्ति में वैचित्र्य आ गया है। उक्ति वैचित्र्य की भाव भंगिमा में लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न करके इन्होंने काव्य गौरव की श्रीवृद्धि की है।

ब्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होने के कारण लोक रुचि में ढले हुए शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग सहज स्वाभाविक रूप से इन्होंने किया है,

---

१. कवि कुल कल्पतरु, चिंतामणि, सं० १८७५ ई० पृ० ३८ पद ११२, हस्त, ना० प्र० स० काशी

२. साहित्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिए स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षणा ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का प्रयत्न करें। हि० सा० इ०, आचार्य शुक्ल, सं० २००२, पृ० २२४।

है और ऐसे प्रसंगों में भी लाक्षणिक प्रयोगों की छटा देखी जा सकती है। यहाँ पर रस रहस्य में आए हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा —

"कोयल कुहुकि दहै जरै पर लौन, भँरन भरयो भौन अब गुंज कान दै सुनौ ॥"[1]

इसमें 'जरे पर लौन देना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है कष्ट पर अधिक कष्ट देना। इसी लक्ष्यार्थ में ही अब यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

शुद्ध लक्षण-लक्षणा—

"प्रेम की झकोरन में झूमि झूमि झुक्यौ मन, झुकि गई भूलि फूलि गयो सब गात।"[2]

'झूमि' पद लाक्षणिक है। झूमना वृक्ष का धर्म है पर यहाँ मन के पक्ष में कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है मन का आनन्दित होना।

"फूले अंग अंग रुचि राजै बहुरंग मानो आवत अनंग संग लीन्हें छबि सों सखे।
अति सरसात गात रस बरसात पिय मौन गहे साहस अपार सिंधु जो नखे।"[3]

इसमें 'फूले' तथा 'रस बरसात' लाक्षणिक पद हैं। फूलना फूल का धर्म है पर यहाँ अङ्गों के पक्ष में प्रयुक्त हुआ है और बरसना बादल का धर्म है जो गात के पक्ष में कहा गया है। अतः इनका लक्ष्यार्थ है प्रसन्नता और आनन्दित करना।

'वारिद की विषधार अपार चहूँ दिशि दामिनि दीन दिखाई।[4]

'विषधार' लाक्षणिक पद है। बादल जल बरसाते हैं, विष नहीं। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है विरहिणी की वेदना को तीव्र करने वाली जलधारा। इस प्रकार कवि ने भाव बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"तरुन तेज तुअ तपन सुभग सोहत मयंक मुख।
चितवनि मंगल रूप बुद्धिमय सभा सदां सुख ॥
गुरु गुरुता मन सहज धाम कवि को कवित्त रस।
राहु शत्रु उर दाहु कोप शनि कियउ आप वस ॥
कर जोरि केतु आगे रहइ नित सेवक सम बपु धरिय।
जगमगइ जगत नृप राम रवि प्रगट नवग्रह वस करिय ॥"[5]

'मयंक मुख', 'चितवनि मंगल', 'मन धाम', 'राहु शत्रु', 'कोप शनि' और

१. रस रहस्य, सं० बलदेव प्र० व ज्वाला प्र० सं० १९५४, पृ० ३९, पद १७
२. रस रहस्य सं० वलदेव प्र० व ज्वाला प्र० सं० १९५४, पृ० २०, पद ४२
३. रस रहस्य सं० वलदेव प्र० व ज्वाला प्र० सं० १९५४, पृ० ९, पद २०
४. रस रहस्य सं० बलदेव प्र० व ज्वाला प्र० सं० १९५४, पृ० २०, पद ४६
५. रस रहस्य सं० वलदेव प्र० व ज्वाला प्र० सं० १९५४, पृ० ८५, पद ४२

'राम रवि' लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय उपमान दोनों वर्तमान हैं। आधार रूप एवं गुण सादृश्य है। मुख पर मयंक के सौन्दर्य का, चितवनि पर मंगल के मांगल्य का, मन पर धाम में आवास का, शत्रु पर राहु के अकारण शत्रुता का, क्रोध पर शनि की भयंकरता का और राम पर रवि की प्रचण्डता एवं व्यापकता का आरोप करके लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

> **"है किधौं नाहि ने संभ्रम माझ सुदेत रहैं रस कौन कली कौ।**
> **जानि परैं जब होइ विकास सखी भलो मानियैं बात भली कौ।**
> **भौंरन के मन भाये करो न डरो सुनि लेहु सिखायौ अली कौ।**
> **आनँद पुंज चकोरन देइ प्रकाश करो किनि कुंज गली कौ।।"[1]**

'भौंरन' 'चकोरन' लाक्षणिक पद हैं। दोनों पद रसिक जनों के उपमान हैं। कथन में गोपनीयता द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है। एक सखी दूसरी सखी के यौवन विकास को देखकर सम्बोधित करती हुई सलाह देती है।

> **"प्रेम पुलकत झलकत जोति अंग अंग दुरैं न दुराये क्यों करत त्यौरतेह के।**
> **अंकुर जग्यो है हुलस्यौ वस्यौ हिये माँझ बेली लहकत ज्यों परस होत मेह के।**
> **मोह सों दुरावति है बातन बनाय करि सुनत है कछु जो कहत लोग गेह के।**
> **फूली फूली फिरै सब बगर बगर अब नगर नगर के नगारे बाजे नेह के।।"[2]**

'अंकुर जग्यो है', 'बेली' लाक्षणिक पद है। दोनों क्रमशः उरोज विकास तथा अभिलाषा के उपमान हैं। उरोजों के विकास के लिये अंकुर और अभिलाषाओं को बेलि का लहराना कहकर दोनों के विकास का मार्मिक विंव प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य कुलपति के लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता अधिक है। इनकी अप्रस्तुत योजना परम्परानुमोदित है। इन्हें काव्यांगों का विवेचन करना था, इसलिए इन्हें लक्षण-उदाहरणों की सीमा में बँधकर रहना पड़ा है। इन सीमाओं में आवद्ध रहने के कारण इन लाक्षणिक प्रयोगों में स्वाभाविकता नहीं आ पाई है। इनके लाक्षणिक प्रयोग उन्हीं स्थलों से प्रायः सम्बन्धित हैं, जिन स्थलों पर इन्होंने रूपक, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों तथा नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

'शब्द-रसायन'

आचार्य देव रीतिकाल के उन आचार्य कवियों में से हैं, जिन्होंने काव्य के सम्पूर्ण अङ्गों का विवेचन किया है। रस, नायिका-भेद तथा अलंकार-निरूपण—भाव-

---

१. रस रहस्य, सं० वलदेव प्र० व ज्वाला प्र०, सं० १९५४, पृ० १५ पद ५

२. रस रहस्य, सं० वलदेव प्र० व ज्वाला प्र०, सं० १९५४, पृ० ३६ पद ३

विलास, भवानी-विलास, कुशल-विलास, रस-विलास सुखसागर-तरङ्ग और सुजान विनोद में मिलता है। देव ने सभी काव्यांगों का विवेचन शब्द-रसायन में किया है। इस ग्रन्थ में ग्यारह प्रकाश हैं। ग्रन्थ के प्रथम एवं द्वितीय प्रकाश में शब्द-शक्तियों का, तृतीय, चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ प्रकाश में रस-नायिका-भेद का, सप्तम प्रकाश में रीति का, अष्टम, नवम प्रकाश में अलङ्कारों का और दशम् तथा एकादश प्रकाश में पिंगल का क्रमिक विवेचन किया गया है। आचार्य देव ने अपने ग्रन्थ शब्द-रसायन में काव्य के सार्वाङ्गों का विवेचन करते हुए जहाँ कहीं भी लक्षणा शक्ति का प्रयोग किया है वही स्थल इस प्रबन्ध के विषय से संबद्ध है। इस ग्रन्थ में शब्द-शक्तियों का विवेचन सर्व प्रथग हुआ है, किन्तु इस स्थल पर प्रथम और द्वितीय प्रकाश को **उद्धृत करना पुनरावृत्ति मात्र होगा, क्योंकि इसका उल्लेख प्रथम अध्याय के 'रीति-कालीन हिन्दी आचार्यों का शब्द-शक्ति निरूपण' शीर्षक के अन्तर्गत हो चुका है।*** अतएव इस स्थल पर रस, नायिका भेद, रीति एवं अलङ्कार-निरूपण के उन प्रसङ्गों का उल्लेख किया जाता है, जहाँ लक्षणा शक्ति का प्रयोग है।

आचार्य देव रस को काव्य का मूल मानते थे, एवं उनके अनुसार 'हरिजस' निमग्न रस आनन्द प्रदान करता है।[1] उन्होंने शृङ्गार, वीर और शांत रसों को ही मुख्य रस माना है शेष रस दो-दो के क्रम से इन्हीं तीनों के आधीन हैं और अन्त में वीर रस तथा शांत को भी शृङ्गार रस का अङ्ग मान कर, शृङ्गार को रसराज स्वीकार किया है।[2] शब्द-रसायन में इन्होंने रसों को देने के बाद वृत्तियों को भी दिया है। तत्पश्चात् शृङ्गार का वर्णन है, इसमें पात्र, नायिका-नायक, दूती, विदूषक एवं पीठमर्द का वर्णन है। देव ने नायिकाओं के स्वकीया और परकीया केवल दो भेद किए हैं, वे परकीया की काफी निन्दा भी करते हैं। आचार्य देव के विचारानुसार शब्दालंकारों में वर्णों की ही विचित्रता रहती है और अर्थ असमर्थ होता है।[3] अर्थालंकारों में उपमा और स्वाभावोक्ति को ही मुख्य मानते हैं।[4] स्वाभावोक्ति

---

* यही शोध प्रबन्ध पृष्ठ

१. "चलत न तब लगि पद छिदे, शब्द, अर्थ, छल, छन्द,
जब लगि लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द।" (शब्द रसायन पृष्ठ २७)

२. तीन मुख्य नवहू रसनि, द्वै द्वै प्रथमनि लीन,
प्रथम मुख्य तिनहून मैं, दोऊ तेहि आधीन। —शब्द रसायन पृ० ३१

३. अलङ्कार जे शब्द के, ते कहि काव्य-सुचित्र,
अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन विचित्र। —शब्द-रसायन पृ० ८४

४. अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव,
सकल अलंकारन विषे, परसत प्रकट प्रभाव। —शब्द-रसायन पृ० ९४

की अपेक्षा उपमा को प्रधान मानते हैं और अन्य अलंकारों के साथ उपमा जोड़ देते हैं। वास्तव में देव अन्य अलंकारों के मूल में भी उपमा की प्रतीति कराना चाहते हैं।

अभिव्यक्ति को रमणीयता तथा सबलता प्रदान करने के लिए, प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के लिए अप्रस्तुत का उपयोग होता है। अप्रस्तुत विधान प्रायः साम्य पर आधारित रहता है। साम्य तीन प्रकार का होता है—(१) रूप साम्य, (२) साधर्म्य और (३) प्रभाव साम्य।

रूप-साम्य—रूप साम्य मूलक अप्रस्तुत वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करके रूप जन्य चेतना को संवेदनीय बनाता है। देव के शृंगारिक चित्रों में अनुभूति को तीव्रता एवं स्पष्टता प्रदान करने के लिए इनका उपयोग किया गया है। ऐसे सभी पदों के मूल में लक्षणा वर्तमान रहती है।

साधर्म्य—साधर्म्य विधान के द्वारा वस्तु के धर्म अथवा गुण की अनुभूति को संवेदनीय बनाने का कवि प्रयास करता है। इनका उद्देश्य धर्म अथवा गुण की अनुभूति में सहायता पहुँचाना होता है। साधर्म्य विधान में प्रायः सर्वत्र-लक्षणा का चमत्कार वर्तमान रहता है।[1]

प्रभाव साम्य—प्रभाव साम्य साधर्म्य का ही सूक्ष्मतर रूप है। इसका विधान किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। इसके सौन्दर्य में भी लक्षणा का चमत्कार बहुत कुछ होता है।[2]

जहां भाव संवेदन के लिए रमणीय तथा सूक्ष्म प्रणाली तथा धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग किया गया है वहां भी लक्षणा का आधार लिया गया है। मानवीकरण में जड़ वस्तुओं, अमूर्त भावनाओं पर पूर्णतया अथवा आंशिक रूप में मानव गुणों का आरोप किया जाता है। इनके मूल में भी लक्षणा का चमत्कार होता है। आचार्य देव की रचना में इस तरह लक्षणा सर्वत्र व्याप्त है। आचार्य देव ने मुहावरों का प्रयोग भी अपने काव्य ग्रन्थ में खूब किया है। मुहावरों में भी लक्षणा का चमत्कार रहता है।

उपादान शुद्धा लक्षणा—

"त्यौं अँसुवा बरसैं बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधिका ध्यावै।"[3]

---

१. आधुनिक उपमान–जिनमें लक्षणा का चमत्कार प्रायः वर्तमान रहता है साधर्म्य-मूलक ही अधिक होते हैं। —देव और उनकी कविता (उत्तरार्द्ध) डॉ० नगेन्द्र, १९४९ पृष्ठ १८४

२. इसका (प्रभाव साम्य) भी सौन्दर्य बहुत कुछ लक्षणा पर ही आश्रित रहता है। [देव और उनकी कविता (उत्तरार्द्ध) डॉ० नगेन्द्र, १९४९ पृ० १८५]

३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथसिंह 'मनोज' प्र० सं०, पृ० ५२

'बरसाने को' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ बरसाना गांव है, पर गांव आंसू कैसे बरसा सकता है? अतः मुख्यार्थ बाध होकर लक्ष्यार्थ बरसाने में निवास करने वाली राधा या सभी गोपियों अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार मुख्यार्थ के त्याग के बिना लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

'लाज कसी उकसी न उतै, हुलसी बरुनी बिलसी कछु भौंहें।"[1]

'हुलसी' तथा 'बिलसी' लक्षक पद हैं। हुलसना, बिलसना मानव के धर्म हैं, बरुनी और भौंह के नहीं।

'नेह भरी अति प्यारी निहारि, तिरीछी चितौनि रही चित में चुभि।"[2]

'चुभि' लक्षक पद है। चुभना काँटे आदि का गुण है, यहाँ प्रभावित करना अर्थ गृहीत है।

"भौंह हँसाइ, हिये हुलसाइ, खिले बिलसाइ मिले दृग चारों।"[3]

'हँसाइ' तथा 'खिले' लक्षक पद हैं। भौंह का हँसना और नेत्रों का खिलना संभव नहीं है। हँसना मनुष्य स्वभाव है और खिलना पुष्प धर्म है। हँसना एवं खिलना का प्रसन्नता अर्थ गृहीत है।

"चोज के चंदन खोज खुले, जहँ ओछे उरोज रहे उर में घिसि।"[4]

'ओछे उरोज' लक्षक पद है। ओछे का मुख्यार्थ छोटे का यहाँ बाध हो गया है। अर्ध-प्रस्फुटित अर्थ ग्रहीत है। इस पद का देव काव्य में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है।

'ओछे उरोज अँगोछि अँगोछन, पोंछति पीक कपोलन पी की।"[5]

उपर्युक्त पद की तरह यहाँ भी ओछे उरोज का अर्ध-प्रस्फुटित अर्थ ग्रहण किया जाता है।

"दूसि कछू, रस ही रिस रूसि, मसूसि रही, रिस के बिस भोई,...।"[6]

'बिस' का मुख्यार्थ जहर है जिसका परिणाम मृत्यु है। इसलिए बिस का अर्थ जलन, पीड़ा ग्रहण किया जाता है।

"खेलत भाग नई दुलही, उर आँसुन लीलि उसासन लै लै।"[7]

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ३३
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ३३
३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ३४
४. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ४३
५. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ४६
६. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह मनोज,' प्र० सं०, पृ० ४८
७. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ५०

'आँसुन' तथा 'लीलि' पद लक्षक हैं। आँसू नेत्र में आते हैं उर में नहीं, लीलना भी हृदय का धर्म नहीं है। इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः दुःख या वियोग और दबा लेना है। इस प्रसंग में यही अर्थ ग्रहीत है।

"पावस ते उठि कीजिये चैत अमावस ते उठि कीजिए पूनो।"[१]

पावस, चैत, अमावस तथा पूनो लक्षक पद हैं। इनका मुख्यार्थ क्रमशः वर्षा, चैत मास, अमावस तिथि एवं पूनो तिथि है, किन्तु इनका लक्ष्यार्थ—वियोग में निरंतर अश्रु वर्षा, वसंतागमन (मिलन) दुःख और प्रसन्नता है।

"थोरे-थोरे जोबन विथोरे देत रूप, रासि गोरे मुख भोरे, हँसि जोरे लेत हित को।"[२]

थोरे-थोरे लक्षक पद है। इसका लक्ष्यार्थ अर्ध-स्फुटित ग्रहीत है।

"रावरे रूप लता ललचानी, पँजानी न काहू बिकानी है ऐसी।"[३]

'बिकानी' पद बिकना मुख्यार्थ त्याग कर वशीभूत होना लक्ष्यार्थ ग्रहण करता है।

"गूजरी ऊजरे जोबन को कछु, मोल कहौ, दधि को तब दै हौं,...।"[४]

'ऊजरे' पद लक्षक है। इसका मुख्यार्थ उज्ज्वल है, किन्तु यहाँ लक्ष्यार्थ निष्कलंकित अथवा अछूते ग्रहण किया जाता है।

"रूप के लालच, लाल चितौत चितै मुख चीकन चूवन चाहौं,...।"[५]

'चूवन' का मुख्यार्थ है टपकना अथवा नीचे गिरना जो जल का धर्म है, किन्तु यहाँ मुख के लिए चूवन शब्द प्रयोग किया गया है। अतः इसका लक्ष्यार्थ लज्जित होना ग्रहण किया जाता है।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

"प्रेम सुधा-सागर, बिसद बसुधा विनोद ब्रज-जन समोद कुमुद मुद मकरंद,
सोहत समाज ब्रजराज राजहंस वम 'देव' मुख देखत, विमुख होत दुख द्वन्द;
जोबन उज्यारी प्यारी राधा, राति कातिक की पूरन अनूप रूप भूपर बदन-चंद।"[६]

'प्रेम सुधा-सागर', बसुधा-विनोद', 'ब्रज-जन समोद कुमद', 'मुद मकरंद', 'ब्रजराज-राजहंस', 'जोबन उज्यारी राति कातिक की पूरन', तथा बदन-चंद लक्षक पद हैं। इनमें क्रमशः प्रेम, विनोद, ब्रज-जन समोद, मुद, ब्रजराज, जोबन उज्यारी,

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ६४
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ६५
३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ६७
४. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ७५
५. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ७७
६. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० १०४

एवं बदन उपमेय हैं और सुधा-सागर, बसुधा, कुमुद, मकरंद, राजहंस, राति कातिक की पूरन, तथा चंद उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है।

"स्वास सुगंध सरोजमुखी, दृग भौंरन पीत सुधाधर दल्ली,
बाहु लता, कर पल्लव औ, पदकंज, पवित्र करी ब्रज गल्ली;
बीच फली कुच, कंचन श्रीफल संग लिए ललिता मृदु मल्ली,
जंगम अंगन रंग रंगी वृषभान के भौन लसै सुर बल्ली।"[1]

स्वास सुगंध, दृग भौरन, बाहुलता, कर पल्लव, पदकंज तथा कुच-कंचन श्रीफल, लाक्षणिक पद हैं। इनमें क्रमश: स्वास, दृग, बाहु, कर, पद, कुच उपमेय हैं, सुगंध, भौरन, लता, पल्लव, कंज और कंचन श्रीफल उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है।

"अरुन-उदोत, सकरुन ह्वै, अरुन नैन तरुनी-तरुन तन तूमत फिरत हैं,
कुंज-कुंज केलि कै, नवेली बाल बेलिन सों नायक पवन, बन झूमत फिरत हैं;
आँबकुल बकुल समीड़, पीड़ पाडरनि मल्लिकानि मीड़ि घने घूमत फिरत हैं,
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव' सुमन सुमन मुख चूमत फिरत हैं।"[2]

'तरुनी-तरुन', 'बाल-बेलिन', 'नायक पवन' तथा 'मुख चूमत' लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में क्रमश: उपमेय तरुन, बेलिन, पवन हैं और उपमान तरुनी बाल एवं नायक हैं। आधार सादृश्य है। इस छन्द में पवन का मानवीकरण किया गया है अन्तिम पद 'मुख चूमत' में चूमना प्राणी का स्वभाव है, पवन का नहीं, पवन तो केवल स्पर्श कर सकता है। इसलिए 'मुख चूमत' में शुद्धा लक्षण-लक्षणा है।

"'देव' सुधा-रस सागर आपु, उजागर आगर रूप रहै है,
बार सेवार सरोजमुखी, गहिरी-गति पंकज पाइ लहै हैं;
छीन कटी तट हीन तरंग, चितै चित चक्र चहूँ उमहै है,
जा हृद हंस बसौ न विभावरि बावरि क्यों न सुकालिह कहै है।"[3]

'बार सेवार', 'छीन कटीतट हीन तरंग' लाक्षणिक पद है। इनमें क्रमशः उपमेय, 'बार' तथा 'कटि' हैं और 'सुधा-रस सागर', 'सेवार' एवं तरंग उपमान हैं, आधार सादृश्य है।

छन्द के चतुर्थ पद में 'हंस' शब्द भी लाक्षणिक है। यह हंस शब्द नायक का उपमान है। उपमेय यहाँ नहीं है केवल उपमान से ही उपमेय का भी बोध करा दिया गया है। इस पद में गौणी साध्यावसाना लक्षणा है, इसका आधार भी सादृश्य ही है।

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०. पृ० १०४
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० १०५
३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ११०

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"तेरो, अलि कामुक इहाँ ते चलि काम्हु कहा
आयौ कलिका सुख निहरि नींद परी क्यों ?
चम्पा ते चुराइ चपि चूमी ते चमेली कंपि
भीने रस झंपि कै, घिरतौन घरघरी क्यों ?
भारे-भारे भोरही सरोजनि को खोज लेत
झाँकत न साँस ते पुरै निरै निचरी क्यों ?
'देव' कैसे पियो तैं कपोल मधुकरी को
न छूछे मधुकर क्यों न पूछै मधुकरी क्यों ?"[१]

'अलि', 'कलिका', 'चम्पा', 'चमेली', 'सरोजनि', 'पुरैनि', 'मधुकरी' तथा मधुकर लक्षक पद हैं। सभी पद उपमान हैं इनका उपमेय क्रमशः नायक, किशोरी-प्रेमिका, पत्नी, पर पत्नी अथवा दूसरी नायिका, स्वपत्नी, पूर्वप्रेमिका, स्वपत्नी एवं नायक हैं। उपमान द्वारा ही उपमेय का बोध कराया गया है, इनका आधार साहृश्य है।

"छपद छबीले छबि पीवत सदीब रस लंपत निपटि, प्रीति कपट ढरे परत,
भंग मध्य मध्य अंग, डुलत, खुलत सास्त्र मृदुल चरन चारु धरनि धरे परत;
'देव' मधुकर हूँक, हूकत मधूक धोखे माधवी-मधुर-मधु लालच लरे परत,
दुपहर जैसे, जलरुह परसत इहाँ मुँह पर भ्राँईं, परै पुहुप झरै परत।"[२]

'छपद', 'मधुकर' तथा 'माधवी' पद लक्षक हैं। तीनों पद उपमान हैं, इनका—उपमेय स्वार्थी नायक एवं नायिक हैं। यहां उपमान से ही उपमेय लक्षित किया गया है, आधार साहृश्य है।

"बाम कर हार, बार अंचल सम्हार करै, कयौ छंद कंदुक उछारै कर दाहिये।[3]

'कंदुक' पद लक्षक है। कंदुक उपमान है उरोज का, आधार साहृश्य है।

"इन्दु के फन्द फंदे बिबि खंजन, इन्दु उवै सुरडारन दूपर।
ते सुर डार फलै, बिबि श्रीफल, श्रीफल कंचन बेलि तरूपर;
तै तुब आनन, नैननि और भुजान, उरोज उरूनि दुहूं पर,
'देव कहौं उपमा इनकी, न तोसी, सुरासुर लोक नभू पर।"[४]

'इन्दु', 'बिबि खंजन', 'सुरडारन', 'श्रीफल' तथा कंचन बेलि लक्षक पद हैं।

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ६६
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ७८
३. शब्द-रसायन, सं० जानकी नाथसिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० ९५
४. शब्द-रसायन, सं० जानकी नाथसिंह 'मनोज', प्र० सं०, पृ० १०१

सभी पद उपमान हैं, इनका उपमेय क्रमशः मुख, नेत्र, भुजाएँ उरोज और सुन्दर शरीर हैं। उपमान द्वारा ही उपमेय का बोध कराया गया है, आधार सादृश्य है।

"भूपर कमल युग ऊपर कनक खंभ ब्रह्मा की सी गति मध्य सूक्षमन नदीबर,
तापर अनूप रूप कूप की तरंगै तहाँ श्रीफल युगल माल मिलित मिलिन्दबर;
'देव' तरु बल्ली बिबि डोलत सपल्लव, प्रकास पुंज तामैं जगमग जोति बिंदीबर,
इन्दिरा के मन्दिर में उदित अमंद इन्दु आनन उदित इन्दु मन्दिर मैं इन्दीवर।"[1]

'कमल युग', 'कनक खंभ', 'ब्रह्मा की सी गति', 'कूप', तरंग', श्रीफल, तरु बल्ली बिबि, तथा सपल्लव लक्षक पय हैं। सभी पद उपमान हैं, इनका उपमेय क्रमशः चरण युग, जान्हु, कटि, नाभि, त्रिवली, उरोज, नायिका और युवा हैं। इस छन्द में उपमानों द्वारा ही उपमेय लक्षित किया गया है। आधार सभी का सादृश्य है।

निरूठा लक्षणा :—

"चारि घरी लै चितोति-चितौति, मरू करि चन्द्रमुखी पहिचानी।"[2]

'मरू करि' मुहावरा है। इसका अर्थ है 'मर कर' मरने के बाद फिर पहचान कैसी ? अतः इसका लाक्षणिक अर्थ हुआ बहुत परेशान होने के बाद।

"दिन दस जोबन जीवन री, मरिये पचि होइ जुपै मरिबैन।"[3]

'दिन दस जोवन जीवन री' मुहावरा है। इसका लाक्षणिक अर्थ है यौवन और जीवन क्षणिक है।

"ऐरे निरलज्ज, मेरे बैरी मेरे जीव, तेरे जीवत ही, मेरे जीवतेश, मोहि पीठ दई।"[4]

'मौहि पीठ दई' मुहावरा है। इसका लाक्षणिक अर्थ है प्रियतम छोड़ कर चले गए।

'देव कहा कहौं बाहर हू, घर बाहेर हू, रहै भौंह तरेरी।"[5]

'भौंह तरेरी' मुहावरा है। इसका लाक्षणिक अर्थ है क्रोधित रहना।

"फेरि इन्हें सपने नहिं पैयत, लै अपने उर में धरि राखो,
'देव' लला अबला नवला यह, चन्द्रकला कठुला करि राखो।"[6]

'फेरि इन्हें समने नहिं पैयत' 'अपने उर में धरि राखो' और कटुला करि राखो' तीनों मुहावरे हैं। इनका लाक्षणिक अर्थ है—फिर कभी नहीं मिलेगी; बड़े हिफाजत से सँभाल लो तथा प्राण के निकट बसालो अर्थात् अनन्य प्रिय बना लो।

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ११२
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ४५
३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ०सं० ४६
४. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ५०
५. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ६०
६. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ६२

"देव' जु आपनो जोबन रूप धरोहरि सी धन राखौ धनी की ।"[1]

'धरोहरि राखौ' मुहाबरा है। लाक्षणिक अर्थ है सुरक्षित रखो।

"दैया ! कन्हैया की बात कहा कहौं, स्वर्ग पताल पठावत दूती ।"[2]

'स्वर्ग पताल पठावत दूती' मुहावरा है। लाक्षणिक अर्थ है—चाहे जहाँ रहे कन्हैया की दूती पहुँच ही जाती है अर्थात् कहीं भी बच नहीं सकती हूँ।

' राखि न रूप कछू विधि के घर, ल्याहि है लूटि, लुनाई की ढेरी ।"[3]

'ल्याइ है लूटि लुनाई की ढेरी' मुहावरा है। लाक्षणिक अर्थ है अत्यधिक सुन्दर है।

"सुनिये संदेस जीवितेस ! यह जीव सब देश ही सौं आठो याम जूझत फिरत है।"[4]

'आठो याम जूझत फिरत है' मुहावरा है। लाक्षणिक अर्थ है सदैव विरहाग्नि के कष्ट से जूझती रहती हूँ।

उपर्युक्त लाक्षणिक उदाहरणों से यह सिद्धि हो जाता है कि देव के लाक्षणिक प्रयोगों का क्षेत्र विस्तृत है। रूपसाम्य, साधर्म्य साम्य तथा प्रभाव साम्य तथा प्रभाव साम्य के आधार पर—आयोजित अप्रस्तुतों द्वारा इन्होंने लाक्षणिक प्रयोगों की श्री वृद्धि की है। इनके अतिरिक्त धर्म के लिए धर्मी के प्रयोग तथा मानवी करण द्वारा भी इन्होंने लक्षणा के गौरव को बढ़ाया है। इस प्रकार इन्होंने भाव संवेदन के लिए रमणीय तथा सूक्ष्म प्रणाली को अपनाया है। परंपरा में जकड़े होने के कारण इनके कुछ उपमान बिंब प्रस्तुत करने में समर्थ हो कर भी काव्य सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर सके हैं, जैसे—'ब्रह्मा की सी गति'। कमर की सूक्ष्मता तो ब्रह्म की सूक्ष्मता से स्पष्ट हो जाती है पर इससे काव्य की रमणीयता में वृद्धि नहीं होती है। किन्तु ऐसे प्रयोग समस्त ग्रन्थ में कम ही हैं।

'काव्य-निर्णय'

आचार्य भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' काव्यांगों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है। इसे काव्य-शास्त्र पर लिखा हुआ उत्कृष्ट ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इसमें छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सभी विषयों का पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विस्तृत निरूपण है। आचार्य शुक्लजी के मतानुसार—

"काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि

---

१. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज'. प्र० सं० पृ० सं० ६३
२. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज.' प्र० सं० पृ० सं० ७६
३. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज'. प्र० सँ० पृ० सं० ८३
४. शब्द-रसायन, सं० जानकीनाथ सिंह 'मनोज', प्र० सं० पृ० सं० ११५

इन्होंने छन्द, रस, अलंकार रीति, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है ।"[1]

'काव्य-निर्णय' में आचार्य भिखारीदास ने 'चन्द्रालोक' एवं 'काव्य प्रकाश' के प्रति ऋणी होना स्वीकार किया है । इस ग्रन्थ में कवि प्रतिभा को खुल कर खेलने का अवसर नहीं था क्योंकि इन्हें संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों, पूर्ववर्ती हिन्दी रीति ग्रन्थों तथा काव्यांगों के लक्षणों और उदाहरणों की सीमा में बँधकर चलना था। रस, नायिका भेद एवं अलंकारों के क्षेत्र में कवि प्रतिभा को थोड़ा अवसर मिलता है। नायिकाओं के रूपों और भाव भंगिमाओं को संप्रेषणीय बनाने के लिये जो अप्रस्तुत विधान किए गए हैं, वहाँ लक्षणा का चमत्कार है ।

रीति-कालीन रचनाओं में सर्वत्र अलंकरण की प्रवृत्ति पाई जाती हैं। रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, परिकरांकुर आदि अलंकारों तथा अविवक्षितवाच्य अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्य ध्वनि और अविवक्षितवाच्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के मूल में लक्षणा होती है । लोक रुचि को व्यक्त करने वाली लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग भी तत्कालीन व्रजभाषा में पर्याप्त प्रचार पा चुका था। इन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रचलन भी लक्षणा के आधार पर होता है ।

कवि प्रतिभा जब शब्दार्थ को रस अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्रदान कर देती है तो आधारभूत अर्थों में उक्ति वैचित्र्य का समावेश हो जाता है । यह उक्ति वैचित्र्य लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा ही प्रतिपादित होता है। 'काव्य-निर्णय' के कुछ ऐसे प्रसङ्ग जहाँ लक्षणा का वैभव बिखरा हुआ है उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

"कञ्चन निदरि गनै गात को चंपक पात कान्ह मति फिरि गई कालिह ही की राति है।
दाय यों सहेली सों सहेली बतलाती सुनि सुनि उत लाजनि नवेली गड़ी जाति है।"[2]

'मति फिरि गई' तथा 'लाजनि नवेली गड़ी जाति है' मुहावरे हैं। मति का फिरना और लाज का गड़ना सम्भव नहीं है पर लोक रुचि से इनका प्रयोग होने लगा है। इसलिए इसी रूप में ये रूढ़ हो गए हैं। विचार बदल जाना और अत्यधिक लज्जित होने के अर्थ में इनका प्रयोग होता है ।

"अब तो बिहारी की बे बानक गए री तेरी, तन दुति केसरि कों नैन कसमीर भो।
श्रौन तुअ बानी-स्वाति बूँदन कों चातिक भो, स्वासन को भरिबो द्रुपदजा को चीरभो।

---

१. हि० सा० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० २००२ पृ०, २४१
२. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४५ पद २ प्र० सं०

हिय कों हरष मरुधरनि कों नीर भोरी, जियरो मदन-तीर गन कों तुनीर भी।
ऐरी बेगि करि कै मिलाप थिर थापु नत, आप अब चाहतु अतन कों शरीर भो ॥"[1]

इसमें 'द्रुपदजा को चीर भो', मरुधरनि को नीर भो और अतन कों शरीर भी मुहावरे हैं। लोक रुचि से इनका प्रयोग अभिधेय अर्थ में नहीं होता। द्रोपदी का चीर होने से अभिप्राय है जो निरन्तर बढ़ता जाए अथवा जिसका अन्त न हो। मरुस्थल का नीर होने का अर्थ है जो कदाचित प्राप्त हो तथा अतन का शरीर होना का अर्थ है भस्म होना। इन्हीं अर्थों में मुहावरे रूढ़ हो गए हैं।

"दैत कहा है दहे पर दाहि गई करि जाहि दई के निहोरे।"[2]

'दहे पर दाहि' और 'दई के निहोरे' मुहावरे हैं। इनका लाक्षणिक अर्थ क्रमशः कष्ट पर कष्ट देना और भाग्य भरोसे छोड़ना है। इसी अर्थ में अब ये रुढ़ हो गए हैं।

"आगि लिए चली जाति सु मेरे हिये बिच आगि दिये चली जाति है।"[3]

'हिये बिच आगि दिये चलि जाति है' मुहावरा है। इसका लाक्षणिक अर्थ हृदय में विरह-व्यथा पैदा करती हुई चली जा रही है।

"भूल्यो भिरै भ्रमजाल में जीव के ख्याल की ख्याल में फूल्यो फिरै है।"[4]

'भ्रमजाल में भूलना और फूले-फूले फिरना मुहावरे हैं। इनका लाक्षणिक अर्थ है—भौतिक सुखों में निमग्न रहना तथा कल्पना लोक में आनन्दित होकर विचरण करना अथवा अभिमान में रहना।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"मंद-मंद गौने सों गयंद गति खोने लगी, बोने लगी विष सो अलक अहि छौनेसी।"[5]

'विष बोना' एक मुहावरा है, जिसका लक्ष्यार्थ उत्पात मचाना, झगड़ा पैदा

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १०१, पद ३०, प्र० सं०

२. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृ० ४१ पद १४, प्र० सं०

३. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३५, पद ४६, प्र० सं०

४. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३६, पद ७, प्र० सं०

५. भिखारीदास ग्रन्थावली द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २८ पद, १६ प्र० सं०

करना है पर अलकों के पक्ष में विष बोने का प्रयोग किया गया है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है—वशीभूत करना अथवा बेसुध करना।

"सखी हौं लई न सोच तुअ, तू किय मो सब काम।
अब आनहि चित सुचतई, सुख पै है परिनाम ॥"[1]

इसमें 'लई न सोच', 'किय सब काम' तथा 'सुख पै है' लाक्षणिक पद हैं। विपरीत भाव से इसका लाक्षणिक अर्थ होगा—सखि ! अब तुम्हारे प्रति भी चिन्तित होना पड़ेगा क्योंकि तुमने मेरा सब काम बिगाड़ दिया है। अब सोच लो कि तुम्हारे लिए इसका परिणाम दुखद होगा। [दूती नायक को बुलाने गई थी पर स्वयं संभोग करके लौटी है और संभोग चिन्ह उसके मुख आदि पर वर्तमान हैं। उन्हें ही देखकर उपर्युक्त कथन नायिका करती है]

सारोपा गौणी लक्षणा—

"हरि मुख पंकज भ्रुव, धनुष, खंजन लोचन मित्त।
बिंब अधर कुण्डल मकर, बसे रहत मों चित्त।"[2]

"मुख पंकज, भ्रुव धनुष, खंजन लोचन, और कुण्डल मकर लक्षणिक पद हैं। मुख, भ्रुव, लोचन, तथा कुण्डल उपमेय एवं पंकज, धनुप, खंजन और मकर उपमान हैं। इन सभी पदों का आधार सादृश्य है। मुख को पंकज कह कर अरुणिमा, सुवास, सुकुमारता, प्रफुल्लता तथा प्रेमीजनों को आकर्षित करने वाला इतने भावों का एक साथ आरोप किया गया है। 'भ्रुव' को धनुष कह कर जहाँ भ्रू का आकार स्पष्ट किया गया है वहीं कटाक्ष सर के संधानक का भी आरोप हो गया है। खंजन लोचन से नेत्र के सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य की घोषणा की गई है। कुण्डल मकर से आकार प्रस्तुत किया गया है। यह अर्थ गांभीर्य लक्षणा द्वारा ही प्रतिपादित होता है।

"नाभि सरोवरी औ त्रिबली की तरंगनि पैरत ही दिन राती।
बूड़ी रहै तन पानिप ही में नहीं वनमालहू ते विलगति है।
दास जू प्यासी नई अँखियाँ घनश्याम विलोकत ही अकुलाति है।
पीबो करैं अधरामृत हू कों तऊ उनकी सखि प्यास न जाति है।"[3]

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४६ पद १०, प्र० सं०

२. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ६६, पद २४, प्र० सं०

३. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खं०. सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० १२६ पद ३५, प्र० सं०

नाभि, सरोवरि, त्रिवली तरंगनि तथा तन पानिप लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं। इनका आधार सादृश्य है। प्रथम तीन पदों में नाभि को सरोवरी त्रिवली को तरंग और शरीर को जल कह कर चमत्कार पैदा किया गया है।

साध्यबसाना गौणी लक्षणा :–

"गुम्बज मनोज के महल के सोहाए स्वच्छ,
गुच्छ छवि छाए गज कुम्भ गजगामिनी।
उलटे नगारे तने तम्बू सैल भारे मठ,
मंजुल सुधारे चक्रवाक गत जामिनी।
दास जुग सम्भु रूप श्रीफल अनूप मन,
घावरे करन घावरेन किल कामिनी।
कन्दुक कलस बटे संपुट सरस,
मुकुलित तामरस हैं उरोज तेरे भामिनी ॥[१]

मनोज महल के गुंबज, गजकुंम, उलटे नगारे, तने तंबू, सैल, चक्रवाक, युगल शंभु, श्रीफल, कंदुक, कलास और मुकुलित तामरस पद लाक्षणिक हैं। सभी पद उरोज के उपमान हैं। आधार भी आकार सादृश्य है। रूप के संप्रेषण के लिए उक्ति वैचित्र्य की संयोजना की गई है। यही लक्षणा जनित चमत्कार यहाँ है।

"कुबलय जीतिवे कों वीर बरबंड राजै,
करन पैंजाइबे को जाचक निहारे है।
सितासित अरुनारे पानिप को राखिबे कों,
तीरथ के पति हैं अलेखे लखिहारे हैं।
बेधिबे को सर मारि डारिबे कों महाविष,
मीन कहिबें दास मानस बिहारे हैं।
देखत ही सुबरन हीरा हरिबे कों,
पस्यतोहर मनोह ये लोचन तिहारे हैं ॥[२]

वीरवरि बंड, तीरथ के पति, सर, महाविष, मीन लाक्षणिक पद हैं। सभी पद लोचन के उपमान हैं। इनका आधार गुण तथा रूप सादृश्य है। उपर्युक्त पदों के गुणों का नेत्र गुण पर आरोप है। इस तरह नेत्र युद्ध विजेता हैं, पवित्र हैं, चुभजाने वाले हैं, वशीभूत करने वाले हैं एवं रूपवान हैं। 'जाचक' भी लाक्षणिक पद है। यह स्नेही जन का उपमान है। स्नेह की याचना करने वाले अर्थ को ग्रहण किया गया है।

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वि० खंड, सं० विश्वनाथ प्रसाद,
पृ० ८३, पद ८९, पु० सं०
२. वही पृ० १००, पद २७, पृ० सं०

लक्षण—उदाहरणों की सीमा में बँधे रहने पर भी आचार्य भिखारीदास के लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त चमत्कार पूर्ण एवं काव्योपयोगी हैं। परंम्परा नुमोदित अप्रस्तुत-विध्धान से जकड़े रहने के कारण तथा शास्त्रीय सीमा में परिवद्ध होने के कारण ये काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों की नई उद्भावना करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

रसपीयूषनिधि

सोमनाथ कृत 'रसपीयूषनिधि' रीति का एक विस्तृत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का रचना काल सं० १७९४ है। इसमें पिंगल काव्य लक्षण प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, गुण, दोष आदि विषयों का निरूपण है। काव्यांग निरूपण में इनका स्थान आचार्य भिखारीदास और आचार्य श्रीपति के समान ही है। विषय की दृष्टि से इनकी प्रणाली श्रेष्ठ है।

शब्द शक्ति के प्रकरण के अतिरिक्त ध्वनि, भाव, रस आदि के निरूपण में इनके ग्रन्थ में लक्षणा शक्ति का चमत्कार मिलता है। किन्तु इस प्रसंग में यही कहना पड़ता है कि—लक्षण उदाहरणों की सीमा में आवद्ध होने के कारण शक्ति के प्रयोग के प्रति इनमें सतर्कता नहीं दिखाई पड़ती है। किन्तु जहाँ कवि नायिका के रूप और भाव- भंगिमा का चित्र प्रस्तुत करने लगा है वहाँ सीमाओं में घिरे होने के बावजूद भी लक्षणाशक्ति के प्रयोग दर्शनीय हैं। अनुभूति को संवेदनीय तथा संप्रेषणीय बनाने का जहाँ भी प्रयास किया जाता है वहाँ प्रायः लक्षणा शक्ति का सहारा लेना ही पड़ता है। रसपीयूषनिधि के ऐसे ही प्रसङ्गों के कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

निरूठा लक्षणा :—

> "उतही है मन यातें सूधे न परत,
> अङ्ग अरसात भुरहरे उठि आये हौ।
> रगमगी अँषियाँ अनूप चित चोरें,
> लेति सोमनाथ आछे इहि रूप लषि पाए हौ।
> हम सौं तौ विहँसि बिलोकिबौ विसायौ,
> पिय सबै विधि उनही के हाथनि बिकाए हौ।
> काहे को नटत वेहू वैनननि प्रगट होति,
> अनुराग जिनको लिलार धरिलाये हौ॥[1]

चित चोरें लेति तथा हाथनि बिकाए हौ, मुहावरे हैं। प्रारम्भिक प्रयोग में ये मुहावरे सप्रयोजित थे पर कवि प्रसिद्धि के कारण ये अपने प्रचलित अर्थ में ही रूढ़ हो गए हैं।

---

१. रसपीयूषानिधि, सोमनाथ, हस्तलिखित, सभा संग्रह, पृ० ६९ पद १३

शुद्धा लक्षण लक्षणा :—

"या विधि सुजान प्रान प्यारे को निहारत ही,
गई मुरझाइ हियें अनुष बढ़ाइ कै।"[1]

'मुरझाइ' पद लाक्षणिक है। मुरझाना पुष्प धर्म है। यहाँ नारी के पक्ष में प्रयोग है। इस प्रकार इस पद को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

"नेंकु न भूलति सो ससिनाथ हियें वह मूरति आनि धरी है।"[2]

'धरी' पद लाक्षणिक है। इसका अर्थ है रखना पर हृदय में मूर्ति लाकर रखना संभव नहीं है। अतः लक्षणा से इस अर्थ की प्रतीति होती है हृदय पट पर दृश्य अङ्कित हो गया है।

"प्रात उवि आए काहू चन्द वदनी कें वसि,
सौमनाथ चार्यौ जाम जामिनी बिताइकै।"[3]

'उवि' लाक्षणिक पद है। सूर्य, चन्द्रमा, तारों के पक्ष में उदय होने का प्रयोग हता है, किन्तु यहाँ कामिनी अपने पति के लिए 'उवि' शव्द का प्रयोग करती है। यहाँ प्रयोजन जन्य अर्थ है सूर्य की तरह रात भर अन्यत्र वास करके प्रातः आ पहुँचे हो।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"आनन फूले गुलाब रंगनि अंगनि में अरसानि भरी है।
नेंकु न भूलति सो ससिनाथ हियें वह मूरति आनि धरी है।
नाम सुने हरषे तिय नैंन पै वैननि है अब जानि परी है।
कुंजनि में रह ठानि करी तैं नई हरि सौं पहिचानि करी है।"[4]

'आनन फूले गुलाव' लाक्षणिक पद है। उपमेय आनन और उपमान गुलाब दोनों पद में हैं। आधार साद्दश्य है। मुख पर खिले हुए गुलाब की प्रफुल्लता व्याप्त है। इसी अर्थ में लक्षणा का चमत्कार है। कवि प्रतिभा ने लौकिक मुख और गुलाब के योग से अलौकिक सौंदर्य छटा को प्रस्तुत किया है।

साध्यावसाना गौणी लक्षणा :—

"उन पियूष परस्यौ मधुर उनि अचयौ मकरंद।
अलि अनूप कौतिक गयौ मिलि इन्दीबरचन्द ॥"[5]

---

१. रसपीयूषनिधि, सोमनाथ, हस्त०, सभासंग्रह. पृ० ६८ पद ११
२. वही पृ० ४५ पद १०
३. वही पृ० ६८ पद ११
४. वही पृ० ४५ पद १०
५. वही पृ० ४४, पद ५

'पियूष', 'मकरन्द' 'इन्दीबर' तथा चंद लाक्षणिक पद हैं। पीयूष और मकरंद क्रमशः पुरुष और नारी के अधर रस के उपमान हैं। इसी तरह इन्दीबर नारी और चन्द पुरुष के उपमान हैं। इस पद में इन्दीवर और चन्द के माध्यम से नायक और नायिका के अधर पान का वर्णन है।

"अधखुली पलकें अलक लटकति पुन्जु चन्दमुष निकट भुवगिनि भुलानी सी।
मरगजी सारी अंग भूषन कहूँ के कहूँ पीछें संग सोहत सहेली अरसानी सी।
डँग डगमगी निसि जगी कहि सौमनाथ झलके कपोलनि में पीक सुषदानी सी।
ओंडि अगिरात औ जनाति मुसुक्याति बाल मंद मंद आवति ....।"[1]

'भुवंगिनी' लाक्षणिक पद है। अलक का उपमान भुवंगिनि है। यहाँ कवि ने अलक न कहकर भुवंगिनि अलकों के लिए प्रयोग किया है। आधार सादृश्य है।

सोमनाथ के लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता तो है पर स्वाभाविकता की कमी है। इनकी अप्रस्तुत योजना भी परंपरानुमोदित है। इनका विषय काव्यांग विवेचन था, इसलिए लक्षण-उदाहरणों की सीमा में बँधे रहकर ही ऐसे प्रयोग उन्होंने किए हैं। कुछ अलंकारों के उदाहरणों और नायिकाओं के वर्णन के कतिपय प्रसंगों में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं।

'काव्य-विलास'

प्रतापसाहि कृत 'काव्य-विलास' में काव्य के सर्वांगों का निरूपण किया गया है। इसकी रचना सं० १८८३ में हुई थी। प्रतापसाहि ने पूर्ववर्ती आचार्यों के आचार्यत्व को पूर्णता की सीमा तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। इससे आचार्यत्व की दृष्टि से इनका स्थान 'दास' से भी श्रेष्ठ ठहरता है। इसके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी का मत है:—

आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाए हुए कार्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा व्यंजना का उदाहरणों द्वारा विस्तृत निरूपण पूर्ववर्ती तीनों कवियों ने नहीं किया था।"[2]

इनके काव्य में अभिव्यक्त कल्पना की मूर्तिमत्ता, हृदय की द्रवणशीलता और आचार्यत्व की प्रखर प्रतिभा को देख कर यह कहना पड़ता है कि इन्होंने रीतिबद्ध कविता को उसकी चरमसीमा पर पहुँचा कर छोड़ दिया है। इनकी भाषा में कृत्रिमता, तोड़ मरोड़, आडम्बर तथा शैथिल्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है।

---

१. **रसपियूषनिधि, सोमनाथ, हस्त०, सभासंग्रह, पृ० ५०, पद ५०**
२. **हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २७४**

अलंकार और रस विवेचन के प्रसंग में भाव बिंबों को संवेदनीय बनाने का इन्होंने जहाँ प्रयास किया है वहाँ लक्षणा-शक्ति का चमत्कार उत्पन्न हो गया है। रूपक, परिकरांकुर, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति के मूल में लक्षणा-शक्ति होती ही है। 'काव्य विलास' में आए हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोग यहाँ दिये जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा:—

' बैठी सूने गेह में वृथा वजावत गाल।"[1]

इसमें 'गाल बजाना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है व्यर्थ की डींग मारना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"शीश क्रीट मुकुट लसत कटि पीत पट
श्यामल सरूप सोभा लेति है चितहि चोर।"[2]

इसमें 'चित्त चुराना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मन को आकर्षित अथवा विमुग्ध करना। प्रयोग में यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

महाराज राम सुनि दीन की ओर
रतनाकर सुमेर नित चौंकत रहत हैं।"[3]

इसमें 'चौंकत रहत हैं' पद लाक्षणिक है। चौंकना प्राणी मात्र का स्वभाव है, पर यहाँ 'रत्नाकर' और 'सुमेर' के पक्ष में प्रयोग किया गया है जो असंभव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है राम के दारिद्रय दूर करने के स्वभाव के कारण संपत्ति भी सावधान रहती है।

"जाके मिलिबे को करत आगम निगम इलाज।"[4]

इसमें 'इलाज' पद लाक्षणिक है। इलाज करना तो वैद्य का कार्य है, पर यहाँ आगम-निगम के लिए इसका प्रयोग किया गया है जो असंभव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है मार्ग प्रशस्त करना अथवा उपाय बतलाना। इस प्रकार 'इलाज' पद के अर्थ को नया आयाम मिल गया है।

---

१. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सां० काशी, प० ८४ प० २७
२. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सां० काशी, प० ४७ प० ७७
३. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सां० काशी, प० ५७ प० १०४
४. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सां० काशी, प० ५९ प० १०९

"अतर गुलाब पान पानी की कहानी कहा
अतन को तन में तरंग उछलत है।"[१]

इसमें 'तरंग' पद लाक्षणिक है। तरंग उठना जल में ही संभव है, पर यहाँ अतन के पक्ष में इसका प्रयोग हुआ है जो असंभव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है काम भावना का उद्दाम वेग।

"कासों कहौं अपने मन की निज नैनन ते बहै नीर पनारो।
खोलि कै नैन निहारहु तो सगरो जग लागत है अँधियारो॥"[२]

इसमें 'नीर पनारो' तथा 'अँधियारो' पद लाक्षणिक हैं। इनका लक्ष्यार्थ है तीव्रावेग के साथ आँसू बहना और निराशा से पूर्ण। इस प्रकार भाव संप्रेषणीय बनाया गया है।

"तासों कौन हितू अरी भरी षरी निज काज।
मेरे हित निज अंग में सहे नष छत्त आज॥"[३]

इसमें 'हितू' तथा 'हित' लाक्षणिक पद हैं। विपरीत भाव से इसका लक्ष्यार्थ है बुरा चाहने वाली एवं बुराई के लिए। नष छत्त सहना भी लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है रमण करके आना। इस प्रकार के कथन द्वारा कवि ने भाव को संवेदनीय बनाया है।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

'जाके मिलिबे को करत आगम निगम इलाज।
तो वृज वीथिन में लहौ हरि हीरा हम आज॥"[४]

इसमें 'हरि हीरा' लाक्षणिक पद है। इस पद में हरि उपमेय और हीरा उपमान है। इसका आधार गुण साम्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव बिंब को संप्रेषित किया है।

"चलत मंत्र तंत्रक कछु दाहत कछु उर माह।
विरह भुजंगम की डसी परी हरी मुख छाँह॥"[५]

---

१. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ४२ प० ६१

२. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ८२ प० २१

३. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० २८ प० ७२

४. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ५९ प० १०९

५. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ६८ प० २३

इसमें 'विरह भुजंगम' पद लाक्षणिक है। इस पद में विरह उपमेय और भुजंगम उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

' रचत अनोखो ख्याल यह नन्दलाल मुसकात।
दृग खंजन के बँधत ही दृग खंजन बँधि जात।।"[१]

इसमें 'दृग खंजन' लाक्षणिक पद है। इस पद में दृग उपमेय तथा खंजन उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"बदन मयंक की मरीचिन अमंद आजु
मंद सी लगत आजु शरद जुन्हाई की।"[२]

इसमें 'बदन मयंक' पद लाक्षणिक है। इस पद में बदन उपमेय और मयंक उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"भृकुटी कमान तानि नैन विरदैती भरै
नैन कमनैती आजु कौन पै करत है।"[३]

इसमें 'भृकुटी कमान' लाक्षणिक पद है। इस पद में भृकुटी उपमेय और कमान उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"मुदित करत सुर सज्जन कुमुद
सुख सुकवि कुमोदिन समूह बरसति है।"[४]

इसमें 'सज्जन कुमुद' तथा 'सुकवि कुमोदिन' लाक्षणिक पद हैं। इनमें क्रमशः सज्जन एवं सुकवि उपमेय और कुमुद तथा कुमुदनी उपमान है। इनका आधार गुण साम्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बनाया गया है।

---

१. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, पृ० ७० प० २७

२. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, पृ० ७३ प० ७

३. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, पृ० ४६ प० ८४

४. काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, पृ० ५१ प० ६१

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"तो मुख मंजु विलोकि अली नित संग लगे फिर भौंर चकोर है।"[1]

इसमें 'भौंर तथा चकोर' पद लाक्षणिक हैं। दोनों पद प्रेमियों के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने भाव बिंब को यहाँ उपमान के माध्यम से ही संप्रेषणीय बनाया है।

"मत्त मलिंदन पै सुख लेहु चकोरन आनद देहु अघाय कै।"[2]

इसमें 'मलिंदन' और चकोरन पद लाक्षणिक हैं। ये दोनों पद प्रेमियों के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। यहाँ उपमानों के द्वारा ही बिंब से गोचर कराया गया हैं।

आचार्य प्रतापसाहि के लाक्षणिक प्रयोग काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में आए हुए हैं। ये प्रसंग अलंकार और रस विवेचन से सम्बन्धित हैं। इनकी अप्रस्तुत योजना परंपरानुमोदित है। सभी लाक्षणिक प्रयोग काव्यांगों के उदाहरणों में आए हुए हैं और ये उदाहरण अपनी सीमाओं में जकड़े हुए हैं जिससे इनमें स्वाभाविकता का अभाव है। इनके लाक्षणिक प्रयोग शास्त्रीय अधिक हैं। परंपरा पालन के लिए ही कहीं-कहीं पर अप्रस्तुत विधान किया गया है, ऐसे स्थलों पर काव्य सौन्दर्य शिथिल पड़ गया है।

रीतिकालीन रस सम्बन्धी ग्रन्थों में लक्षणा—

संस्कृत काव्य शास्त्र की ऐतिहासिक प्रगति के उत्तरार्द्ध काल में व्यापक विवेचन से हट कर रसज्ञों ने अपने-अपने आश्रय दाताओं अथवा रसिक नागरिकों को काव्य शिक्षा देने के निमित्त ऐसे ग्रन्थ लिखे, जिनमें काव्य के संक्षिप्त लक्षण मात्र दे दिए जाते थे। उस समय शृङ्गार रस अत्यधिक लोक-प्रिय हो गया था, इसलिए नायिका भेद का समावेश प्रायः सभी ग्रन्थों में किया जाने लगा था। प्राकृत तथा अपभ्रंश के तत्कालीन ग्रन्थों में भी इस परिपाटी के दर्शन होते हैं। रूद्र भट्ट का 'शृङ्गार तिलक' और भानुदत्त की रस तरंगिणी तथा रसमंजरी इसी तरह के ग्रन्थ हैं।

हिन्दी रीतिकालीन साहित्य में इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर रस ग्रन्थ लिखे गए। इनका वर्ण्य-विषय शृङ्गार है। इस परिपाटी पर लिखे गए ग्रंथों में केशव की 'रसिक-प्रिया', मतिराम का रसराज, सुखदेव मिश्र का रस रत्नाकर तथा रसार्णव, देव का भाव विलास, रस विलास, भवानी विलास, सुख सागर तरंग, कविन्द्र का रस

---

१. **काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ७० प० २६**

२. **काव्य-विलास, प्रतापसाहि, हस्तलिखित प्रति, ना० प्र० सं० काशी, प० ३० प० ७**

चन्द्रोदय, 'दास' का रस निर्णय, तोष का सुधानिधि, वेनी प्रवीन का नवरस तरंग, रघुनाथ का काव्य कलाधर एवं रसिक मोहन, पद्माकर का जगविनोद और ग्वाल का नखशिख आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः इन ग्रन्थों में रस के साथ रस के स्थायी संचारी, विभाव, अनुभाव आदि सभी का वर्णन है, किन्तु प्रधानता श्रृंगार के ही विविध अंगों को दी गई है। सभी ने एक स्वर से श्रृंगार रस को रसों का राजा स्वीकार किया है।

इन ग्रन्थों में श्रृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का निरूपण किया गया है। संयोग में नायक, नायिका, सखी दूती, षटऋतु और नायिकाओं के आभूषण एवं सात्विक आदि भावों का विस्तारपूर्वक मनोहर वर्णन है। वियोगपक्ष में पूर्वानुराग मान, प्रवास आदि पूर्वानुराग के श्रवण, चित्र दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन, मानमोचन के उपाय तथा वियोग जन्य काम दशाओं का वर्णन है। श्रृंगार के इन दो पक्षों में से प्रायः इन रस सिद्ध कवियों की प्रवृत्ति संयोग में अधिक रमी है। इसमें भी नायिका भेद के प्रसंगों को विशेष महत्व दिया है। इन कवियों की रसवृत्ति का सीधा सम्बन्ध नारी के रूप भेदों से अधिक था।

समस्त शब्द जगत अर्थ की सत्ता से ही तो प्रतिभासित है। विशेष रूप से काव्य तो अपनी अर्थवत्ता के कारण ही सत्यं शिवं सुन्दरम् के श्रेष्ठ आसन पर आसीन है। रीतिकालीन रस ग्रन्थों की माधुर्यपूर्ण सरस शैली तो अपनी भाव भंगिमा की निराली छटा लेकर नायिका के विविध भावों, रूपों, अवस्थाओं और भंगिमाओं में दिखाई देती है। इन भावों, रूपों, अवस्थाओं एवं भंगिमाओं को सहृदय पाठक तक पहुँचाने के लिए कवि प्रतिभा जो लौकिक एवं अलौकिक अप्रस्तुत-विधान करती है तथा उनके सहारे जिन बिंबों को प्रस्तुत करती है, उन सभी में प्रायः उक्ति वैचित्र्य होता है और वह लक्षणा की शक्ति से मंडित होता है। निबन्ध का विषय उन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों से सम्बन्धित है इसलिये उपलब्ध रस ग्रन्थों में से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके कथन को चरितार्थ करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

'रसिक प्रिया'

आचार्य केशवदास की 'रसिकप्रिया' रसभेद तथा नायिका भेद सम्बन्धी रचना है। हिन्दी काव्यशास्त्र की विशुद्ध साहित्यिक आचार्य परम्परा में आचार्य केशव का नाम सर्वप्रथम आता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के महान पण्डित होने के कारण इनका आचार्यत्व संस्कृत साहित्य के आचार्य ग्रन्थों से प्रभावित है। केशव का अगाध पांडित्य अपने पीछे लक्षण-ग्रन्थों की रचना परम्परा का प्रवर्तन नहीं कर सका। वस्तुतः यह परम्परा उनसे लगभग पचास वर्षों बाद चिन्तामणि के द्वारा चली।[1]

---

१. **'पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की जो परम्परा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली'।**

हि० सा० इ०, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्र० सं० २००२ पृ० १८०

अपनी रसिकप्रिया के आरम्भ में आचार्य केशव ने रस का विवेचन किया है, इसके पश्चात् नायक-नायिका भेद का प्रसंग है। विविध प्रकार की नायिकाओं के उदाहरणों में जो अप्रस्तुत विधान किया गया है, उसका उपादान लोक जीवन के विविध क्षेत्रों से किया गया है। इनके ग्रहण का मूल उद्देश्य रूप, गुण क्रिया और भाव का गोचर प्रत्यक्षी करण कराना है। अप्रस्तुत योजना में लक्षणा शक्ति एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है।

रीति-ग्रन्थकारों की कृतियों में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से दिखलाई देती है, रसिकप्रिया भी इसका अपवाद नहीं है। अलंकारों में विशेष रूप से रूपक, परिकरांकुर, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति अलंकारों के अलंकारत्व का बीज लक्षणा ही है। रसिकप्रिया व्रज-भाषा की कृति है। उस समय तक व्रज-भाषा पर्याप्त रूप से मंज और सवंर चुकी थी। मुहावरेदानी उसका स्वाभाविक गुण हो गया था। विशेष रूप से मुहावरों में तथा अन्यत्र भी लक्षणा के प्रयोग के कारण व्रज-भाषा चमत्कार पूर्ण होने लगी थी। लक्षणा शक्ति शब्द का आरोपित व्यापार है।[1] मुहावरों की योजना में गुण, धर्म आदि का साम्य प्रकट करने में वह उसी स्थल पर उपादेय मानी जाती है, जहाँ अभिधा अपेक्षाकृत असमर्थ दिखाई देती है।

शब्द शक्तियों का सम्बन्ध अर्थ से है। शब्द गत् अर्थ अपनी असाधारणता और रमणीयता के कारण रसास्वाद में सहायक होते हैं। रस की आस्वादनीयता में वृद्धि के लिए काव्य के आधारभूत अर्थों में उक्ति-वैचित्र्य अथवा वचन भंगिमा का समावेश किया जाता है। अर्थगत् उक्ति वैचित्र्य अथवा वचन भंगिमा लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के कारण आती है। लक्षणा-शक्ति पाठक को काव्यानुभूति कराने में समर्थ होती है। रसिक प्रिया में लक्षणा का वैभव बिखरा पड़ा है, उसी का यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"भय दावानल-पान पियो वीभत्स बकी उर।"[2]

यहाँ 'पान' शब्द का अर्थ है पीना किन्तु भय पिया नहीं जा सकता है क्योंकि वह कोई तरल मूर्त पदार्थ तो है नहीं। अतः यहाँ 'पान' शब्द का अर्थ समाप्त करना है।

---

१. **मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।**
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ का० प्र,० उ० २, का० ९

२. **केशव ग्रन्थावली खं० १ सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम सं०, पद सं० २, पृ० १**

"केशव एक समय हरि राधिका आसन एक लसैं रंग-भीने ।"[१]

यहाँ 'रँग-भीने' पद का अर्थ रंग में भीगना है । किन्तु इस प्रसंग में स्नेहासिक्त होने के अर्थ को ग्रहण किया गया है ।

"सहज सुगन्ध सरूप शुभ, पुन्य प्रेम सुखदानि ।"[२]

'सुगन्ध' पुष्प का गुण है, शरीर का नहीं । इसलिए यहाँ सुगन्ध से रमणीय अर्थ ग्रहण किया जाएगा ।

"ओप उरोजनि की उपजैं दिन काहि मढ़ैं अँगिया न मढ़ैगी ।"[३]

'ओप' पद अपने मुख्यार्थ प्रकाश का त्याग करके 'विकास' अर्थ ग्रहण करता है ।

"माई कहाँ यह माइगी दीपति जौ दिन द्वै इहि भाँति बढ़ैगी ।"[४]

'दीपति' पद का अर्थ है ज्योति किन्तु यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो गया है और प्रयोजन जन्य अर्थ मुग्धा नायिका का यौवन विकास ग्रहण किया गया है ।

"केसोदास सकल सुबास को निवास तन,.........।"[५]

यहाँ 'सबास' पद अपने मुख्यार्थ 'गन्ध' को त्याग कर सौन्दर्य अर्थ को प्रकट करता है ।

सारोपा गौणी लक्षणा:—

"तेरे मनोरथ भगीरथ-रथ पाछे-पाछे,
डोलत गोपाल मेरो गंगा को सो पानी है ।"[६]

'मनोरथ भागीरथ-रथ' लाक्षणिक पद है । उपमेय मनोरथ उपमान भगीरथ-रथ दोनों पद में हैं, आधार सादृश्य है ।

"तिमिरि-वियोग भूले लोचन-चकोर फूले,.........।"[७]

'लोचन-चकोर' लाक्षणिक पद हैं । उपमेय लोचन और उपमान चकोर है, आधार सादृश्य है ।

---

१. केशव ग्रन्थावली खं० १, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं० २२, पृ० ३
२. वही पद सं० २, पृ० ८
३. वही पद सं० १६, पृ० १०
४. वही पद सं० १६, पृ० १०
५. वही पद सं० १८, पृ० ४६
६. वही पद सं० ६, पृ० ३६
७. वही पद सं० ३१, पृ० ४४

"प्रेम-मय भूप रूप सचिव सँकोच सोच,
विरह-विनोद पील पेलियत पचि कै।
तरल तुरंग अवलोकनि अनन्त गति,
रथ मनोरथ रहैं प्यादे गुन गचि कै।।"[1]

'प्रेम मय भूप रूप' 'विरह-विनोद पील', 'तुरंग अवलोकनि', और 'प्यादे गुन' लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः इन पदों में उपमेय प्रेम, विरह-विनोद, अवलोकनि और गुन हैं तथा उपमान-भूप रूप, पील, तुरंग और प्यादे हैं, आधार सादृश्य है।

"उरज मलय सैल-सील सम सुनि देखि,
अलक बलित व्याल आसा उर आइयै।"[2]

'उरज मलय सैल' और 'अलक बलित व्याल' लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः उपमेय उरज, अलक तथा उपमान मलय सैल, बलित व्याल हैं, आधार सादृश्य है।

"गति गजराज साजि देह की दीपति बाजि,
हाव रथ भाव पत्तिराज चली चाल सों।
केसोदास मंदहास असि कुच भट भिरे,
भेंट भए प्रतिभट भाले नख जाल सों।
लाज साजि कुल कानि सोच पोच भय मानि,
भौंह धनु तानि बान लोचन विसाल सों।
प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै,
जीत्यो रति-रन आजु मदन गुपाल सों।।"[3]

'गति गजराज', 'दीपति बाजि', 'हाव रथ', 'भाव पत्तिराज', 'मंदहास असि', 'कुच भट', 'भौंह धनु', 'साहस सहायक' और रति-रन पद लाक्षणिक हैं। क्रमशः उपमेय गति, दीपति, हाव, भाव, मंदहास, कुच, भौंह, साहस और रति हैं, उपमान गजराज, बाजि, रथ, पत्तिराज, असि, भट, धनु, सहायक और रन हैं। आधार सादृश्य है। इस प्रकार उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"बिनु गुन तेरी आनि भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाक्ष बान यहै अचरज आहि।"[4]

---

१. केशव ग्रन्थावली खं० १, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं० १७, पृ० ४८
२. वही पद सं० ८, पृ० ६०
३. वही पद सं० २५, पृ० ८५
४. केशव ग्रन्थावली खं०१, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं०३५ पृ० ८८

'भृकुटी कमान' और 'कटाक्ष बान' लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः उपमेय भृकुटी, कटाक्ष तथा उपमान कमान, बान इन पदों में वर्तमान हैं, आधार सादृश्य है।

"केसव छबीले छत्र शीशफूल सारथी सो,
केसरि की आड़ि अधिरथिक रची बनाइ।"[१]

'आड़ि अधिरथिक' लाक्षणिक पद है। उपमेय आड़ि और उपमान अधिरथिक पद में दोनों वर्तमान हैं, आधार सादृश्य है।

"कपट कृपानी मानी प्रेम रस लपटानी...।"[२]

'कपट कृपानी' लाक्षणिक पद है। उपमेय कपट और उपमान कृपानी दोनों पद में हैं इसका आधार सादृश्य है।

"खंजन हैं मन रंजन 'केसव' रंजन नैन किधौं मति जी की।
मीठी सुधा कि सुधाधर की दुति दंतनि की किधौं दाड़िन ही की।
चंद भलो मुखचंद किधौं सखि सूरति काम की कान्ह की नीकी।
कोमल पंकज कै पदपंकज प्रान पियारे कि मूरति पी की।।[३]

'मुखचन्द' तथा 'पदपंकज' लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः उपमेय मुख और पद हैं, उपमान, चन्द एवं पंकज हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों वर्तमान हैं, आधार सादृश्य है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"केहरि कपोत करि केर मृग मीन फनि,
सुक पिक कंज खंजरीट बन लीनो हैं।
मृदुल मृनाल बिंब चंपक मराल वेलि,
कुंकुम दाड़िम कहँ दूनो दुख दीनो हैं।[४]

उपर्युक्त छन्द में केहरि, कपोत, करि, मृग, मीन, फनि, सुक, पिक, कंज, खंजन, मृनाल, बिंब, चंपक और दाड़िम सभी नारी अवयव के उपमान हैं। उपमेय को त्यागकर उपमान से ही नारी सौन्दर्य का संकेत किया गया है, सभी पदों का आधार सादृश्य है। केहरि=कटि, कपोत=ग्रीवा, करि=गति, मृग=आँख, मीन=आँख, फनि=चोटी, सुक=नाक, पिक=कंठ माधुर्य, कंज=मुख, खंजन=आँख, मृनाल=भुज, बिंब=अधर, चंपक=शरीर और दाड़िम=दाँत के उपमान हैं।

---

१. केशव-ग्रन्थावली, खंड १, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं० ५ पृ० ६०
२. वही पद सं० ११ पृ० ६३
३. वही पद सं० २२ पृ० ४६
४. वही पद सं० २२ पृ० ८५

"देखत हौं यह काम कली कुंभिलानिपै जाति कहा अब कीजै ।"[1]

'कामकली' नारी का उपमान है। इस पंक्ति में केवल उपमान का प्रयोग करके उपमेय की ओर संकेत कर दिया गया है। आधार सादृश्य है।

"जौ कहौं 'केसव' सोम सरोज सुधा सुर भृंगनि देह दहे हैं।
दाड़िम के फल श्रीफल विद्रुम हाटक कोटिक कष्ट सहे हैं।
कोक कपोत करी अहि केहरि कोकिल कीर कुचीज कहे हैं।
अंग-अनूपम वा तिय के उनकी उपमा कहँ वेई रहे हैं।"[2]

यहाँ उपमानों को अंगों से निकृष्ट बताया गया है किन्तु सभी उपमान अंगों का बोध कराते हैं। सोम तथा सरोज=मुख, दाड़िम फल=दंत-पंक्ति, श्रीफल=उरोज, विद्रुम=अधर, कपोत=ग्रीवा, करी=गति, अहि=चोटी, केहरि=कटि, कोकिल=कंठ माधुर्य और कीर=नासिका के उपमान हैं आधार सादृश्य है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"नेक अटें पट फूटति आँखि सु देखति हैं कब को व्रज सूनो।
काहे को काहू को कीजै परेखोऽब जीजै री जीव की नाक दै चूनो।"[3]

फूटति आँखि और नाक दै चूनो मुहावरे हैं।

"तिनके संग छूटत ही पदु रे हिम तोहि कहा न दरार फटी।"[4]

'हिय में दरार फटना' मुहावरा है।

"......हैं हरि आठहुँ गाँठ अठाए।"[5]

'आठहुँ गांठ अठाए' मुहावरा है।

"खारक दाख खवाइ मरौ कोठ ऊँटहिं ऊँट कटारोइ भावै।"[6]

'ऊँटहिं ऊँट कटारोइ भावै' मुहावरा है।

"डीठि लगी किधौं प्रेत लग्यो कि लग्यो उर प्रीतम जाहि डरी यों।"[7]

'डीठ लगना' मुहावरा है।

"बीस बिसे बसीकर कैसे उर आनिएँ,....।"[8]

'बीस बिसे' मुहावरा है।

१, केशव-ग्रन्थावली, खंड १, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं० ४६ पृ० ५४
२. वही पद सं० २३ पृ० ५०
३. वही पद सं० २२ पृ० ३
४. वही पद सं० २४ पृ० ४
५. वही पद सं० १५ पृ० ७
६. वही पद सं० १० पृ० ६
७. वही पद सं० १३ पृ० २१
८. वही पद सं० १८ पृ० २३

"तोरि तोरि डारत तिनूका कहौ कौन पर,....।"[1]
'तृण तोड़ना' मुहावरा है।
"काको घर घालिबे कौं बसे कहाँ घनश्याम,...।"[2]
'घर घालिबे कौं' मुहावरा है।
"बात बनाइ बनाइ कहा कहौ लेहु मनाइ मनाइ ज्यौं आए।"[3]
'बातें बनाना' मुहावरा है।
"'केसव' सुगन्ध बाय बाय सी लगति है।"[4]
'बाय लगति है' मुहावरा है।
"कुंकुम न लख अंग आग सी लगति है।"[5]
'आग लगना' मुहावरा है।
"गिरिगो कछू गाँठि तें छूटि छबीली सु कहे तें डोलति डाढ़ति सी।[6]
'गाँठि तें छूटि' मुहावरा है।
"कहि 'केसव' अपनी जाँघ उघारि कै आपही लाजनि को मरई।"[7]
'जाँघ उघारना' मुहावरा है।
"हौ सिखाऊँ अपने सपने हूं तौ आवत लच्छि किवार न दीजै।"[8]
'आवत लच्छि किवार न दीजै' मुहावरा है।
"लालव हाथ रहै ब्रजनाथ पै प्यास बुझाइ न ओस के चाटें।"[9]
'प्यास बुझाइ न ओस के चाटें' मुहावरा है।
"सोने सिंगारहु सोंधे चढ़ावहु पीतर की पितराई न जाई।"[10]
'पीतर की पितराई न जाई' मुहावरा है।
उपर्युक्त सभी मुहावरों का लक्ष्यार्थ ही अब मुख्यार्थ हो गया है।

---

१. केशव-ग्रन्थावली, खंड १, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पद सं० ११ पृ० २५
२. वही पद सं० १७ पृ० ४२
३. वही पद सं० ३७ पृ० ४५
४. वही पद सं० ४ पृ० ४७
५. वही पद सं० ४ पृ० ४७
६. वही पद सं० ११, पृ० ४७
७. वही पद सं० १७ पृ० ५८
८. वही पद सं० १९ पृ० ६२
९. वही पद सं० २४ पृ० ७४
१०. वही पद सं० २८ पृ० ७५

'रसराज'

मतिराम का रसराज नायिका भेद का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में केवल शृङ्गार का ही वर्णन एवं चित्रण है। इसमें अन्य रसों की उपेक्षा की गई है। रसराज में से यहाँ लक्षणा के प्रयोगों के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा:—

"साथ सखी के नई दुलही को भयो हरि कौ हियौ हेर हिमंचल।"[1]

'हृदय का हिमांचल होना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है हृदय को प्रसन्नता से फूल उठना।

"भयो द्रोपदी को बसनु बासर नाहिं विहाय।"[2]

'भयो द्रोपदी को बसन' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अन्त हीन।

"काहे को करत हठ हारिल की लकरी।"[3]

'हारिल की लकरी' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रिय आधार।

"पारद सो उड़ि जायगो अलि चंचल यह नेह।"[4]

'पारद सो उड़ि जायगो' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—शीघ्रता से समाप्त हो जाना।

"लाज गिरि गई जैसे तरुवर तीर कौ।"[5]

'लाज गिरना' तथा 'तीर का तरुवर होना' मुहावरे हैं। इनका लक्ष्यार्थ है—लाज का समाप्त हो जाना और मौत की घड़ियाँ गिनने वाले की मृत्यु।

शुद्धा लक्षण लक्षणा:—

"मनहूं की जानी प्राण प्यारे मतिराम इहै, नैननि ही माँहि पाइयतु अनुराग है।"[6]

'अनुराग' लाक्षणिक पद है। अनुराग का लक्ष्यार्थ यहाँ अरुणिमा ग्रहीत है। नायिका नायक को उसकी बेवफाई के लिए फटकार रही है।

"..........जाके बैन सुनत सुधा सी पीजियतु है।"[7]

'पीजियतु लाक्षणिक पद है। पीना का लक्ष्यार्थ सुनना ग्रहीत है क्योंकि बैन पीए नहीं जा सकते, सुने ही जा सकते हैं। पीना :कह कर अन्तर की प्यास और

---

१. रसराज, सं० कृष्ण बिहारी मिश्र, प्र० सं०, पृ० ५६ पद २५
२. वही पृ० ३६, पद १७३
३. वही पृ० ५०, पद २३५
४. वही पृ० ५०, पद २३६
५. वही पृ० ७०, पद ३३४
६. वही पृ० ८, पद ३८
७. वही पृ० ११, पद ५०

वाणी को आत्मसात करने का आरोप भी है। इस प्रकार कथन में उक्ति वैचित्र्य का समावेश हो जाता है।

"बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ आनि तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसै।"[१]

'सुधा' पद लाक्षणिक है। सुधा की वर्षा तो असम्भव है इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है रसमय वचन और सरस व्यवहार। अभिप्राय यह है कि—नायिका सखी के साथ बैठी वार्तालाप कर रही थी उसी समय प्रीतम ने आकर दर्शन दिया और अपनी सरस वाणी तथा मधुर व्यवहार से आनन्दित करके नायिका में नव-जीवन का संचार कर दिया।

"मोहन कौ तन पानिप पीजै।"[२]

'पानिप पीजै' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है रूप दर्शन करना। पानी प्यासे को संतोष देने की जो सामर्थ्य है उसका यहाँ रूप आरोप है।

"बार बार सुकुमार फूलन की मार ऐसी मार के मरोरनि मरोर मारियत है।"[३]

'फूलन की मार' लाक्षणिक पद है। इसका अभिधेय अर्थ है नायक फूलों से मारता है पर लक्ष्यार्थ है काम भाव उत्पन्न करना।

"ऐसे सयान सुभायन ही सौं मिली मन भावन सौं मन भौंरे।"[४]

'सयान' पद लाक्षणिक है। यहाँ विपरीत भाव से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है मूर्खता।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

"दुहुन के हीय अरविन्द मोद सरसै।"[५]

'हीय अरविन्द' लाक्षणिक पद है। हिय उपमेय और अरविन्द उपमान है, इनका आधार सादृश्य है। इस तरह कवि ने हृदय पर अरविन्द के प्रफुल्लित होने के भाव का आरोप करता है।

"दृग कमलन के द्वार पर बाँधे बन्दनवार।"[६]

'दृग कमलन' तथा बन्दनवार लाक्षणिक पद हैं। दृग उपमेय और कमलन उपमान है, इनका आधार सादृश्य है। दृग पर कमल के सौन्दर्य का आरोप किया गया है। इस तरह दृग-सौंदर्य में प्रेषणीयता आ गई है। बन्दनवार आँखों में बाँधे नहीं जा सकते, इसलिए साहचर्य भाव से इसका लक्ष्यार्थ काजल ग्रहण किया जाता है। इस पद में लक्षण लक्षणा है।

---

१. रसराज, सं० कृष्ण बिहारी मिश्र, प्र० सं०, पृ० १२, पद ५६
२. वही पृ० १३, पद ६०
३. वही पृ० २४, पद ११६
४. वही पृ० २६ पद १२७
५. वही पृ० १२, पद ५६
६. वही पृ० ३७, पद १७७

'सुख सागर तरंग'

आचार्य देव का सुख सागर तरंग नायिका भेद का ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में नायिका के विभिन्न रूपों, भावों एवं अवस्थाओं के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं । यहाँ उनमें से कुछ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं जिनमें लक्षणा का चमत्कार है ।

निरूढ़ा लक्षणाः—

"तोरि तोरि तिनन निवारती तिनन तान तनन धितान तन धन रन वारती।"[१]

'तृण तोड़ना' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है सौंदर्य को दृष्टि लगने से बचना ।

"मीड़त हाथ फिरै उमड़चौ सोमड़चौ वहि बीच पर्यो मड़रान्यौ ।"[२]

'मीड़त हाथ' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है–पश्चाताप करना ।

"देव तिहि काल गुहि माल लाई मालिनि सुबाल को विरह विष व्याल की लहरि परि।"[३]

'विप व्याल की लहरि परी' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है—विरह वेदना से मूर्छित्त हो जाना ।

"बांह गहि लेहु छवि छांह सी छुवाय नेक नाहको निहारि मन बूड़ै नाभि कूप में ।"[४]

'बांह गहि लेहु' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है सहारा देना अथवा शरण देना ।

"डगर डगर बगरावति अगर अंग,
जगर मगर आपु आवत दिवारी सी ।"[५]

'जगर मगर आपु आवत दिवारी सी' मुहावरा है । लक्ष्यार्थ है सुन्दरता को प्रकाशित करती हुई आ रही है ।

"खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिवो बिसे बीस बिसारो ।"[६]

'बिसे बीस' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है पूर्णरूप से ।

"पूरी करी इतहूँ उत प्रीति भले खुलि खेलत बोलत पापर ।"[७]

'बेलत पापर' मुहावरा है इसका लक्ष्यार्थ व्यर्थ श्रम करना है ।

---

१. सुगसागर तरंग, सं० बालदत्त मिश्र, सन् १८९८ ई० पृ० २३ पद ७०,
२. वही पृ० ३३ पद ९७
३. वही पृ० ६४ पद १८७
४. वही पृ० ७५ पद २१९
५. वही पृ० ११२, पद ३२२
६. वही पृ० १८७, पद ५५२
७. वही पृ० २६८, पद ८०८

शुद्धालक्षण लक्षणाः—

"तीखी तीखी तरल चितोलि में परल भरे,
मदन मतीबी चित चीखी सुख सागरी।"[1]

'गरल भरे' लाक्षणिक पद है। चितौनि में गरल भरा होना असंभव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है तीव्र आकर्षण द्वारा मृत्यु वेदना के सदृश्य रसिक के हृदय में विरह वेदना पैदा कर देना अथवा वशीभूत कर लेने की शक्ति अर्थात् नायिका की कटाक्ष में बेसुध कर देने की शक्ति है।

"लाल के रंग सो भीज रही,
सुगुलाल के रंग सों चाहति भीज्यो।"[2]

'रंग' लाक्षणिक पद है। रंग का प्रयोग लाल के पक्ष में किया गया है जो असंभव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है—अनुराग रस।

"अंगी कसै उकसै कुच ऊँचै हँसै हुलसै फुफदीन की फूँदै।"[3]

'हँसै','हुलसै' लाक्षणिक पद हैं। फुफदीन के फूँदों का हँसना तथा हुलसना असंभव है। इसलिए इनका लक्ष्यार्थ शोभादायक एवं आकर्षक है।

" आज तो भियाहौ उर आंनद बढ़ाइ लीजौ आइ लीजौ दरश अघाइ लीजौ अंखियन।"[4]

'अघाइ' पद लाक्षणिक है। नेत्रों के पक्ष में अघाना कहा गया है जब कि यह क्षुधा धर्म है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है संतुष्ट करना।

गौणी सारोपा लक्षणाः—

देव गुण मंत संत सामंत समाज राज—
काज को जहाज दिल दगिया दराज है।"[5]

यहाँ 'संत सामंत राज काज—जहाज,' तथा दिल दरिया लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में उपमा और उपमेय दोनों हैं। आधार साहृश्य है। सामंतों पर संतों की साधुता और गुणज्ञता का, राजकाज पर जहाज की वहनीयता और महाराज के दिल पर दरिया की विशालता का आरोप किया गया है।

"लोचन दलालनि लै बेंची नन्दलाल कर,
दै दै करताल बर बाल बरताने की।"[6]

---

१. सुखसागर तरंग, सं० बालदत्त मिश्र, सन १८९८ ई०, पृ० २३, पद ६९
२. वही पृ० ४१, पद ११९
३. वही पृ० ४५, पद १३३
४. पृ० ४२, पद १२४
५. वही पृ० ६, पद २
६. वही पृ० ४०, पद ११८

यहाँ 'लोचन दलालनि' लाक्षणिक पद है। लोचन उपमेय और दलाल उपमान है। आधार साहृश्य है। लोचन पर दलाल के विक्रय करने के कार्य व्यापार का आरोप किया गया है। अभिप्राय यह है कि बाला के नेत्र नन्दलाल के स्वरूप को देख कर ऐसे आकर्षित हुए कि बाला तन मन से नन्दलाल की हो गई और बरसाने की बालाएँ राधिका का मजाक उड़ाती हैं।

"त्रिबली त्रिवेणी तट रोमावली धूम लट यौवन पटल ज्योति बेंदी छवि तुंड मैं।
वेद ध्वनि बोलैं गुणमन्त मुनि किंकणीक रसना रतन मणि मुकुतान भुंड मैं।
देव जू अनंग यंग होमि कै भसम संग अंग अंग उमह्यो अखैंबर ज्यौं डंड मैं।
ओज निज पावकै उरोज मन भावकै मनीखी ह्वै मनोज मखु माड़्यो नाभि कुंडमैं।"[१]

इसमें 'त्रिबली त्रिवेणी' तथा 'रोमावली धूम', लाक्षणिक पद हैं। त्रिवली एवं रोमावली उपमेय है और त्रिवेणी, तथा धूम, उपमान हैं। रूप गुण का साहृश्य है नारी के शरीर को यज्ञस्थल कहने में उवित वैचित्र्य तो अवश्य है पर सौंदर्य वृद्धि में ये उपमान सहायक नहीं हैं। यह पद रीति कालीन रूढ़ियों में आबद्ध होने का नमूना है।

"लाल कर पल्लव बनक भुज उल्लरीन कनक समुघ उच्च कुच गिरिसंगिनी।
यामे बलबीर मन बूड़ि बूड़ि उछरतं बलि गई तेरी बलि त्रिबली तरंगिनी।।"[२]

इसमें 'कर पल्लव', भुज बल्लरीन, तथा त्रिबली तरंगिनी की लाक्षणिक पद है। कर भुज, एवं त्रिबली उपमेय हैं। और पल्लव, बल्लरीन, तथा तरंगी उपमान हैं। इनका आधार साहृश्य है। कर पर पल्लव की अरुणिमा, भुज पर बल्लरीन के सुगठित सौन्दर्य, कुच पर कनक कलश के सौन्दर्य एवं उभाड़ तथा त्रिवली पर तरंगिनी के तरंगों की शोभा का आरोप करके कवि प्रतिमा ने आलौकिक सौन्दर्य प्रस्तुत किया है।

"आननइंदु उठे कुच कंदुक आनन इंदिरा मंदिर सोहै।"[३]

इसमें 'आननइंदु' तथा कुच कंदुक लाक्षणिक पद है। दोनों पदों में उपमेय तथा उपमान हैं इनका आधार साहृश्य है। आनन पर इंदु के सौन्दर्य का और कुच पर कंदुक के आकार का आरोप करके विंव को प्रेषणीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"देव देखो दामिनी दिखाई दै दुरति दूरि चन्द्र रुचि चूरि मुख चन्द्रिका पराग की।"[४]

इसमें 'दामिनी' लाक्षणिक पद है। दामिनी कामिनी का उपमान है। आधार

---

१. सुख सागर तरंग, सां० बालदत्त मिश्र, सन १८९८ ई० पृ० ७५, पद २१८
२. वही पृ० ७६, पद २२१
३. वही पृ० १३८, पद ४०१
४. वही पृ० २२ पद ६५.

सादृश्य है। कामिनी को दामिनी कह कर उस पर दामिनी के सौन्दर्य, प्रकाश एवं चकाचौंध कर देने की सामर्थ्य का आरोप किया गया है अर्थात् कामिनी का सौन्दर्य ऐसा द्युतिमान है कि आँखें चकाचौंध हो जाती हैं।

"वा चकई को भयो चित चीतो चितौति चहूं दिशि चाइ सो नाची।"[१]

इसमें 'चकई' लाक्षणिक पद है। चकई उपमान है नायिका का। इसका आधार गुण साम्य है। चकई के प्रीतम प्यार के हर्ष का आरोप नायिका पर किया गया है अर्थात् प्रीतम का प्यार पाकर नायिका आनन्द विभोर हो नाचने लगती है।

"माणिक निखर मुख मेरु के सिखर बिब बनक बनाए बिधि कनक सरोज के।
कैंधों रुचि भूपर अनूप रचि राखे देव रूपक समूह ह्वै उज्यारे अति ओज के।
कोमल नवेली बाल बेली फूल फूले किधौं उमगे निशंक उर अंकुर उरोज के।
यापुर पुरन्दर ह्वै चाहत बसायो सो न सुन्दर कलश धरे मंदिर मनोज के॥"[२]

इसमें 'मेरु के सिखर', 'कनक सरोज,', 'फूल फूले', तथा सुन्दर कलश सभी उरोज के उपमान हैं, आधार सादृश्य है। मेरुशिखर की शृंग का, कनक सरोज के सौंदर्य का, फूले फूल के विकास की कमनीयता का एवं सुन्दर कलश के सुगंठन का आरोप करके बिंब को प्रेषणीय बनाया गया है।

"भूपर कमल युग ऊपर कनक खंभ ब्रह्म की सी गति मध्य सूक्षम अनिंदी बर।
तापर अनूप रूप कूप पै तरंगै सींचै श्रीफल युगल माल मिलित मलिंदी बर।
देव तरु बल्ली बिधि डोलत सपल्लव प्रकाश पुंज तामैं जगमग ज्योति विंदी बर।
इंदिरा के मंदिर में उदित अमन्द इन्दु आनन उदित इन्दु मन्दिर मैं इन्दी बर॥"[३]

इसमें 'कमलयुग, कनकखंभ, ब्रह्म, कूप, तरंगै, श्रीफल, देवतरुबल्ली तथा इंदु क्रमशः चरण, जंघा, कटि, नाभि, त्रिबली, उरोज, नायिका एवं मुख के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इस तरह समस्त पद में नारी के रूप का वर्णन है। सूक्ष्मता प्रकट करने के लिए ब्रह्म उपमान को ग्रहण किया गया है पर इससे सूक्ष्मता का आभास होने पर भी सौंदर्य का आरोप नहीं हो पाता है।

मानवीकरण:—

"प्रेम पयोधि परो गहिरो अभिमान को फेन रह्यो गहिरे मन।
कोप तरंगन सो बहिरे पछिताय पुकारत क्यों बहरे मन।
देव जू लाज जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूंदि अज्यौं रहिरे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन॥"[४]

---

१. सुखसागर तरंग, सं० बालदत्त मिश्र, सन् १८९८ ई० पृ० ७२ पद २११
२. वही सन् १८९८ ई० पृ० ७७ पद २२२
३. वही सन् १८९८ ई० पृ० १४५ पद ४२२
४. वही पृ० २२० पद ६५५

इसमें 'प्रेम पयोधि', अभिमान फेन', 'कोप तरंगन' एवं लाज जहाज पद लाक्षणिक हैं। प्रेम, अभिमान, कोप, लाज उपमेय और पयोधि, फेन, तरंगन तथा जहाज उपमान हैं। इनका आधार साहृश्य है। प्रेम पर पयोधि के विस्तार और अगाधता का, अभिमान पर फेन की निःसारता का, कोप पर तरंगों की चंचलता और उद्दामता का लाज पर जहाज की वहनीयता का आरोप करके बिंब को प्रस्तुत किया गया है। इनमें सारोपा गौणी लक्षणा है।

इसी तरह कवि वियोगिनी आखों का योगिनी रूप बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है:—

''वरुणी बघम्बर औ गूदरी पलक दोऊ कोये लाल बसन भगोंहै भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन यामिनि हूँ जागी भौहैं धूम शिर छायो बिरहागिनि बिलखियाँ।
आँसू जो फटकि माल लाल डोरे सेली पैन्हि भई है अकेली तजी चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरश देव कीजिए संजोगिनी के योगिनी ह्वै बैठी हैं वियोगिनी की अँखियाँ।।''[1]

इसमें वरुणी बघम्बर, कोये लाल बसन तथा आँसू माल सेली, लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों है आधार भी साहृश्य है। इस तरह कथन में उक्ति वैचित्र्य लाकर आँखों पर योगिनी के रूप, गुण का आरोप किया गया है। इन पदों में सारोपा गौणी लक्षणा है।

'रस सारांश'

आचार्य भिखारीदास का रस सारांश नायिका भेद ग्रन्थ है। इसमें नायिकाओं के रूप, गुण और अवस्थाओं का चित्र अप्रस्तुत विधान द्वारा संवेदनीय बनाए गए हैं। उनमें से ही कुछ लाक्षणिक चमत्कार वाले पद यहाँ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

निगूढ़ा लक्षणा:—

''मोंहि अली निज छाँह की नहीं परत परतीत।''[2]

छाँह की प्रतीत न होना मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मन इतना सशंकित हो गया है कि अपने पर भी विश्वास नहीं होता अर्थात् जो छाया की तरह घनिष्ट हैं उन पर से भी विश्वास उठ गया है।

''आपने भालहि कोह कौं दूखिए और को चन्दन चाहि बनाय सों।''[3]

'आपने भालहि काहे कों दूखिए' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है व्यर्थ में क्यों चिन्ता करना।

---

१. सुखसागर तरंग, सं० बालदत्त मिश्र, सन् १८९८ ई० पृ० ८८ पद २५५
२. भिखारीदास ग्रन्थावली, सं० विश्वनाथ प्र० मिश्र, प्र० खं०, प्र० सं० पृ० ६, पद २७
३. वही पृ० १३, पद ६९

"गोप-बधू फिरि फिरि लखति भादौं चौथि मयंक ।"[1]

'लखति भादौं चौथि मयंक एक लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है—कलंक लगना। गोप-बधू बार-बार भादौं की चतुर्थी के चाँद को इस उद्देश्य से देखती है कि नन्दलाल के प्रेम का कलंक ही मुझे लग जाए।

"गात की गोराई पर सहज भाराई पर सारी सुन्दरताई पर राई लोन बारती।"[2]

'राई लोन बारती' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है कि सौंदर्य को दृष्टि न लगे।

"तापर नेकु रहै नहिं चैननि मोहि तौ नैननि नाच नचायो।"[3]

'नाच नचायो' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अत्यधिक परेशान करना।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"सुमन चलावति मानिनी सखी कहति जदुराइ।"[4]

सुमन चलावति का लक्ष्यार्थ है काम भावना उत्पन्न करना।

"वही ठौर को समुझि तिय हिय गहि रही मरोर।"[5]

'मरोर' लाक्षणिक पद है। मरोर का लक्ष्यार्थ है बलपूर्वक हृदय को नियंत्रित करना।

"लाल जाइ कीजै सरल हृदय आँच की सेंक।"[6]

आँच और सेंक लाक्षणिक पद हैं। आँच तथा सेंक अग्नि से सम्भव है पर यहाँ हृदय के पक्ष में कहा गया है। इनका लक्ष्यार्थ है स्नेह और स्पर्श। दूती नायक से कहती है कि उस वियोगिनी का उपचार हृदय स्नेह के स्पर्श से कीजिए।

"कब की बिसासिन बगरें विषु बाँसुरी।"[7]

'विषु' लाक्षणिक पद है। विष फैलना बाँसुरी के पक्ष में कहा गया है जो असम्भव है, बाँसुरी तो मधुरनाद फैलाती है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है कि मृत्यु पीड़ा की तरह वेदना फैलाने वाली अथवा बेसुधि फैलाने वाली।

"डसे रावरे बेनहीं परे अधसँसे श्याम।"[8]

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० खं०, प्र० सं०, पृ० १३ पद ७३
२. वही पृ० ३३, पद २२७
३. वही पृ० ७७, पद ५२४
४. वही पृ० १०, पद ५३
५. वही पृ० १६ पद ९९
६. वही पृ० १८ पद ११२
७. वही पृ० ३५ पद २४४
८. वही पृ० ५८ पद ३९९

'डसे' लाक्षणिक पद है। किन्तु डसना साँप का धर्म है जो वेन के लिए प्रयुक्त है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मूर्छित करना।

सारोपा गौणी लक्षणा:—

"पियत रहत नित दुलहिया बदन सुधाकर जोति।
प्यारे नैन चकोर कौं कबहुँ निसा न होति॥"[1]

'बदन सुधाकर' तथा नैन चकोर' लाक्षणिक पद हैं। बदन तथा नैन उपमेय हैं और सुधाकर एवं चकोर उपमान हैं। इनका आधार साद्दश्य है। बदन पर सुधाकर के समस्त गुणों एवं सौंदर्य का तथा नैन पर चकोर के उत्कट स्नेह का आरोप किया गया है।

"मुदित सकल तिय कुमुदिनी निरखि निरखि वृज इंदु।"[2]

'तिय कुमुदिन' लाक्षणिक पद है। तिय उपमेय और कुमुदनी उपमान है। इसका आधार साद्दश्य है। तिय पर कुमुदनी के प्रेम भाव का आरोप किया गया है अर्थात् तिय कुमुदनी की तरह निरन्तर प्रीतम दर्शन से ही प्रसन्न रहती है।

"कुचन सेवती संभु सुनि कामद समुझि अधीर।
द्दग अरघानि घरी घरी रही चढ़ावत नीर॥"[3]

कुचन संभु एवं द्दग अरधानि लाक्षणिक पद हैं। कुचन तथा द्दग उपमेय हैं शंभु और अरघा उपमान हैं। आधार रूप एवं गुण साद्दश्य है। कुच पर शम्भु के आकार का और द्दग पर अरघा के स्वभाव का आरोप किया गया है अर्थात् नायिका के आँसू विरह वियोग से निरन्तर प्रवाहित होकर उरोजों पर बह रहे हैं।

"नासा सुकतुंड वर कुंडल मकर नैन खंजन किसोरन सों खेलन भिरतु है।
उरझत बनमाल त्रिबली तरंगनि में बूढ़त तिरत पद कंजन गिरतु है।"[4]

नासासुकतुंड, कुंडल मकर, नैन खंजन, त्रिवली तरंगनि तथा पदकंजन लाक्षणिक पद हैं। उपमेय क्रमशः नासा, कुण्डल, नैन, त्रिवली एवं पद हैं, उपमान सुकतुंड, मकर, खंजन, तरंगनि और कंज हैं। आधार रूप साद्दश्य है। उपमेयों पर उपमान का आरोप कर उपमेयों के भावों को संप्रेषणीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :—

"सखि लखिए घनश्याम विनु सबमें पावक पुंज।"[5]

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० खं०, प्र० सं०, पृ० २५ पद १६२

२. वही पृ० ३३, पद २३१

३. वही पृष्ठ ६०, पद ४१३

४. वही पृष्ठ ७७, पद ५२१

५. वही पृष्ठ २१, पद १३६

'पावक पुंज' लाक्षणिक पद है। पावक पुंज विरह वियोग का उपमान है। आधार गुण सादृश्य है। अभिप्राय यह है कि नायिका अपनी सखी से कहती है कि घनश्याम के विरह में समस्त व्रज-मण्डल में विरहाग्नि व्याप्त है।

"फूल्यो सरोज बनाइ के ऊपर तापर खंजन द्वै फरकाइ हौं।
बीच अनोखो सुवा उनयो इक बिंब के लालच दैहौ बताइ हौं।
श्रीफल के फल द्वै क निहारि कै रीझिहौं लाल कहौं समुझाइ हौं।
कंचन की लतिका इक आजु अनूप बनाइ तुम्हैं दरसाइ हौं।।"[१]

सरोज, खंजन, सुवा, बिंब, श्रीफल तथा कंचन की लतिका सभी उपमान हैं क्रमशः मुख, नेत्र, नासिका, अधर, उरोज एवं बाला के शरीर के उपमेयों का संकेत उपमानों द्वारा कर दिया गया है इनका आधार सादृश्य है। इस तरह इस पद में नारी के सौंदर्य का बिंब प्रस्तुत किया गया है।

"श्रीफल लै उर में धरै तुम बिन करुनाकंद।"[२]

श्रीफल लाक्षणिक पद है। इसका उपमेय उरोज है। आधार सादृश्य है। अभिप्राय यह है कि नायिका कहती है–उर पर उरोज विकसित हो गए हैं पर नायक नहीं है।

'काव्य-कलाधर'

रघुनाथ कृत काव्य कलाधर नायिका भेद ग्रन्थ है। विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के लक्षण, हाव-भाव, वचन, रूप, स्वभाव तथा गुण आदि के निरूपण में जहाँ कवि प्रतिभा ने अप्रस्तुत का विधान किया है, उन स्थलों पर प्रायः लक्षणा-शक्ति का चमत्कार उत्पन्न हो गया है। ऐसे ही कुछ स्थलों को उदाहरण स्वरूप दिया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"मोल बिना बृज वीथिन बीच हहा कै सखीन के हाथ विकैहों।[3]

'बिना मोल बिकना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है बिना प्रयास ही नायिकाओं के वशीभूत हो जाओगे।

"मारत गाल कहा इतनो मनमोहन जू अपने मन ऊटे।"[४]

'गाल मारना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है बढ़-बढ़ के बातें करना। इसी अर्थ में अब यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

---

१. भिखारीदास ग्रन्थावली सं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्र. खं. प्र. सं. पृष्ठ ३१, पद २१६
२. वही पृष्ठ ३२, पद २२४
३. काव्य कलाधर, रघुनाथ, पृ० १६, पद १३
४. वही पृष्ठ १७, पद १४

"खेलि के फागु भली विधि सों तबसों दृग देखिये मैंर मढ़ो सो।
आवत ही मुख जो सो बकै कछू खाहिन पीवहि भूत चढ़ो सो।
ऐसी दशा सबकी रघुनाथ रह्यो तपि कै अंग आगि बढ़ो सो।
डारि गयो नन्दलाल सखी बृजबाल पै मानो गुलाल पढ़ो सो।"[1]

'भूत चढ़ो सो', तथा 'गुलाल पढ़ो सो' लाक्षणिक पद हैं। भूत चढ़ो सो एवं गुलाल पढ़ो सो मुहावरे हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—होश में न रहना तथा जादू कर देना अर्थात् वशीभूत कर लेना।

सारोपा गौणी लक्षणा—

**"आषैं लगी वटिया पकोनन सो तीषी ह्वै के भौंहें लागी चढ़ि भाल त्रिकुटी छविमई।
पानि पाय पंकज की रुचि नष विद्रुम की मोतिन को दंत ओठ जपा की हरलई।
और सब जोबन की बनकन बनाई पूरी अंगनि में रघुनाथ अति दुति सों रई।
खेल गुड़ियान के सों भई न उदास एक रह गई बाल में इतनीय लरिकाई॥"[2]**

'पानि पाय पंकज', 'नख विद्रुम' तथा 'ओट जमा' लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं। आधार रूप सादृश्य है। हाथ, पैर, नख, दन्त एवं ओष्ठ के सौन्दर्य को विवित करने के लिए कमल, विद्रुम, मोती और जपा का आरोप किया गया है। 'आषैं लगी वटिया' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ प्रतीक्षा करना है। इसलिए इसमें निरूढ़ा लक्षणा है। 'पकोनन से तीषी ह्वै के' का लक्ष्यार्थ है नेत्र कटाक्ष युक्त हो गए और नायिका-नायक की कामना करने लगी। इसमें लक्षण-लक्षणा है।

**"लोचन सजल मकरन्द भरे अरविन्द खुली खुले बूँदपति मधुप किसोर की।
स्वेदकन ओस परी यही रंग रघुनाथ स्वासा सों वयारि बहै सौरभ झकोर की।
भूषन की मोतिन की शेष बेष सोहै तारागन मुसकनि धुनि चरन के शोर की।
प्यारी जू के बदन पै मदन विनोद वेषी देखी आजु भोरही सकल सोभा भोर की।"[3]**

'लोचन सजल मकरन्द भरे अरबिन्द', स्वेद कन ओस स्वासा वयारि सौरभ, तथा मोतिन को भूषण शेष तारागण लाक्षणिक पद हैं। सभी पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं, इनका आधार भी सादृश्य है। इस कवित्त में कवि प्रातः-काल के समस्त सौन्दर्य का आरोप नारी रूप पर करता है। नारी के सजल लोचनों को प्रातःकालीन विकसित मकरन्द युक्त अरविन्द, उस पर आसक्त किशोर को अरविन्द पर आसक्त भ्रमर, अङ्गों पर छाए हुए स्वेद कन को ओस, श्वास को सौरभ

---

१. काव्य कलाधर, रघुनाथ पृष्ठ १७, पद १६
२. वही पृष्ठ २१, पद २१
३. वही पृष्ठ २३, पद ३२

जो प्रात:काल वातावरण में फैलती है और मोतियों के आभूषणों को भोर के तारे कह कर उक्ति वैचित्र्य का समावेश किया गया है। स्वेद कन का लक्ष्यार्थ रतिश्रम स्वेद भी ग्रहण किया जाता है। इसलिए इस पद में लक्षणा मूला गूढ़ व्यंग्या है।

'नवरस-तरङ्ग'

वेनी प्रवीण कृत नवरस तरङ्ग नायिका भेद ग्रन्थ है। नायिकाओं के रूप, गुण, अवस्था तथा स्वभावादि के निरूपण के प्रसङ्ग में कवि जहाँ चित्रों की प्रेषणीयता के लिए अप्रस्तुत विधान करता है, वे स्थल प्राय: लाक्षणिक चमत्कार से उद्दीप्त हो उठते हैं। ऐसे ही कुछ उदाहरणों को यहाँ दिया जा रहा है।

निरूठा लक्षणा :—

"आइ गयो व्रजचन्द तहाँ कुमिलाइ गयो मुख कौल कली है।"[१]

'कुँभिलाइ' लाक्षणिक पद है 'कुँभिलाना' पुष्प धर्म है पर यहाँ मुख के पक्ष में कहा गया है। कवि प्रयोग प्रसिद्धि से इस प्रकार के प्रयोग रूढ़ हो गए हैं।

"तोरि तनी तन छोरि अभूसन, भूलि गई गल देन को फाँसी।"[२]

'गल देन को फाँसी मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मृत्यु कष्ट के बराबर का कष्ट देना।

"बिष कौरु मनोकुल गोकुल को कुलि लोग हमें लखि लीलतु हैं।"[3]

'विष कौरु लीलतु हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है बड़ी वेदना या कष्ट के साथ किसी बात को सहन करना।

शुद्धा लक्षण लक्षणा :—

"नेह कै ज्योंही पठावति हैं करि हैं फिरि तेह भरी विषु बातें।"[४]

'विषु बातें लाक्षणिक पद है। विषु का रूप लक्ष्यार्थ है विरह।

"दारिम कली पै छैल छतिया छबीली कैसी,
छतिया छबीली आई दारिम कली सी ह्वै।"[५]

'छतिया छबीली आई" में आई पद लाक्षणिक है। जीवधारी जिनका अपना एक अलग अस्तित्व है – वे आने, जाने की क्रिया कर सकते हैं। उरोज आने का कार्य नहीं कर सकते हैं। आई का लक्ष्यार्थ है विकसित होना।

---

१. नवरस-तरंग, सं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्र० सं० पृ० ७, पद २४
२. वही प्र० सं०, पृ० १३ पद ७१
३. वही प्र० सं०, पृ० १८ पद १०९
४. वही प्र० सं०, पृ० १३ पद ७१
५. वही प्र० सं०, पृ० ५ पद १३

"मुग्धा अन्न जोबना दूजी ज्ञात। पहिले भये अंकुआ ते दुइ पात।"[1]

'दुइ पात' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है यौवन पल्लवति होने लगा अर्थात् विकसित होने लगा।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"कर कंजन ते गिरि कन्दुक गो दृग, खंजनि ते अंसुवा भरि ढारे।"

कर कंजन तथा दृग खंजन लाक्षणिक पद हैं। कर एवं दृग उपमेय हैं और कंजन तथा खंजन उपमान हैं, इनका आधार रूप सादृश्य है। कर पर कंजन के सौन्दर्य एवं दृग पर खंजन के सौन्दर्य का आरोप करके बिंब को संवेदनीय तथा संप्रेषणीय बनाया गया है।

"सट कीली सापिन प्रवीन बेनी बेनी बनी कहू,
नटकीली है कटकीली अति ही।
मटकीली भौंहनि लखनि अटकीली उर,
भटकीली कौन की न कीन्ही गति मति है।
चटकीली लंक तू लुटाइ लूटे लेत लोग,
सिर पटकीली भई सौतिन की छाती है।
चटकीली पटकीली गटकीली बतियन,
हटकीली होरी कत पारति विपति है॥"[2]

'सापिनि बेनी' लाक्षणिक पद है। इस पद में उपमेय सापिनि और उपमान बेनी दोनों हैं। इनका आधार सादृश्य है। बेनी पर सापिनि की कालिमा तथा सट-कीले पन का आरोप कर के बेनी के सौन्दर्य को बढ़ाया गया है।

"आनन चन्द सों मन्द हँसी दुति दामिन सी चहू ओर रहै छ्वै।
बेनी प्रवीन विलोचन चंचल माधुरे बैन सुधा से परे च्वै।
कौतुक एक अनूप लख्यौ सखि आजु अचानक नाह गये छ्वै।
श्रीफल से कुच कामिनी के दोऊ फूलि कदम्ब के फूल गये ह्वै॥"[3]

'आनन चन्द' 'हँसी दुति दामिन' तथा बैन सुधा लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में आनन, हँसी दुति एवं बैन उपमेय हैं और चन्द, दामिन तथा सुधा उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। आनन पर चन्द्र के सौन्दर्य का और बैन पर सुधा के गुण नवजीवन का आरोप करके उपमेयों को अलौकिक सौन्दर्य प्रदान किया गया है।

---

१. **नवरस तरंग, सं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्र० स०, पृ ५ पद १४**
२. **वही प्र० सं० पृ० १६ पद १००**
३. **वही प्र० सं० पृ० ९ पद ४०**

'जगद्विनोद'

पद्माकर का जगद्विनोद नायिका भेद का ग्रन्थ है। विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप, गुण और अवस्थाओं का निरीपण है। उनमें से प्रायः मुग्धा, ज्ञात यौवना, नवोढ़ा, प्रौढ़ा अधीरा, वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा, लक्षिता, रूप गर्विता, खण्डिता तथा परकीया विप्रलब्धा आदि के चित्रण तो लक्षणा शक्ति के व्यापार से चमत्कृत हैं। उनमें से कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा :—

"ह्याँ इनके रस भीजत से दृग ह्वाँ उनके मसि भीजत आवै।"[१]

'मसि भीजना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मूँछों का निकलना अर्थात् तरुणाई का आगमन। इसी तरह रस भीजत से दृग भी कवि प्रयोग प्रसिद्धि से नेत्रों में शृङ्गार रस की मधुर भावना स्नेह का आगमन अर्थात् यह तरुणाई के आगमन का संकेत है।

"एक कहैं इनै डीठि लगी पर भेद न कोऊ लहै दुलही को।"[२]

'डीठि लगना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है।

"केसरि लै मुख मींजिबे कों रस भीजत से कर मींजत ठाढ़े।"[३]

'कर मीजना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पश्चाताप करना। कवि प्रयोग प्रसिद्धि से 'रस भीजत' का लक्ष्यार्थ है स्नेह सिक्त होना।

"ऐसी परबीन कों कियो जो यह पूरुष तौ,
बीस बिसै जानी महामूरख विधाता है।"[४]

'बीस बिसै जानी' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पूर्ण रूप से।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"ऐसी धनि धन्य धनी धन्य है सु वैसी जाहि,
फूल की छरी सों खरी हनति हरै हरै।"[५]

'फूल की छड़ी मारना' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है काम-भावना पैदा करना।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"राजि रही उलही छवि सों दुलही दुरि देखत ही फुलवारी।
त्यों पद्माकर बोलै हसै हुलसै बिलसै मुख चंद उजारी।

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० ६८, पद ३६
२. वही पृ० ११६, पद १७२
३. वही पृ० १४५, पद ३०१
४. वही पृ० १५०, पद ३२१
५. वही पृ० ९४, पद ७०

ऐसे समैं कहूँ चातक की धुनि कान परी डरपी वह प्यारी।
चौंकी चकी चमकी चित में चुप ह्वै रही चंचल अंचलवारी।।"[1]

'मुख चंद' लाक्षणिक पद है। मुख उपमेय पर चंद उपमान का आरोप किया गया है। इसका आधार सादृश्य है। इस तरह कवि चन्द्रमा के विकसित प्रकाश और सौन्दर्य का मुख पर आरोप करता है और मुख सौन्दर्य का बिंब प्रस्तुत करता है।

"बीतिबै ही सु तौ बीति चुकी अब आँजती हौ किहिं काज लुकंजन।
त्यों पदमाकर हाल कहैं मति लाल करौ दृग ख्याल के खंजन।
रेखित रंचु की कंचुकी के बिच होत छिपाए कहा कुच कंजन।
तोहि कलंक लगाइबे कौं लग्यो कान्ह ही के अधरान में अंजन।।"[2]

'दृग ख्याल के खंजन' और कुच कंजन लाक्षणिक पद हैं। दृग तथा कुच उपमेय और खंजन एवं कंजन उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। दृग पर खंजन के सौन्दर्य का तथा कुच पर कंज के विकास का आरोप किया गया है। इस तरह सौन्दर्य का चमत्कृत बिंब सहृदय के समक्ष उपस्थित होता है।

"मनमोहन तन घन सघन रमनि राधिका मोर।
श्रीराधामुखचंद पैं गोकुलचंद चकोर।।"[3]

तन-धन, राधिका मोर, मुखचंद और गोकुलचंद चकोर लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में उपमा उपमेय दोनों हैं। इनका आधार सादृश्य है। मनमोहन के तन के रङ्ग पर घन के रङ्ग का, राधिका के भाव पर मोर के बादल के प्रति प्रीति का, राधा के मुख पर चन्द्र के सौन्दर्य का तथा—गोकुलचन्द पर चकोर की चन्द्रमा के प्रति एक निष्ट प्रीति का आरोप किया गया है। इस तरह राधिका की प्रीति की आत्म-विभोरता और कृष्ण की प्रीति की एकनिष्ठता का कवि संकेत करता है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"कछु गजगति के आहटनि छिन छिन छीजत सेर।
विधु विकास विकसत कमल कछु दिनन के फेर।।"[4]

इसमें 'सेर', 'विधु' तथा 'कमल' लाक्षणिक पद हैं। ये पद क्रमशः कटि, मुख और नेत्रों के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। यहाँ कवि ने उपमानों के माध्यम से ही बिंब को गोचर करा दिया है।

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली: सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं० पृ० ८६, पद ३९
२. वही पृ० १०२, पद १०६
३. वही पृ० १४३, पद २९०
४. वही पृ० ८३, पद २४

"कनक लता श्रीफल फरी रही विजन बन फूलि।
ताहि तजत क्यों बवरे सु अलि सावरे भूलि ॥"[१]

'कनकलता', 'श्रीफल' तथा अलि लाक्षणिक पद हैं। ये पद उपमान हैं— क्रमशः नायिका, उरोज एवं नायक के कथन की गोपनीयता में उक्ति वैचित्र्य का समावेश है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि नायिका के उरोज विकसित हो गए हैं। अङ्ग-अङ्ग में तरुणाई आ गई है। ऐसे समय में तुम (नायक) उसे त्यागने की भूल क्यों कर रहे हो।

"गंजन सु गुंज लग्यो तैसो पौन पुंज लग्यो,
द्यौसमनि कुंज लग्यो गुंजन सों गजि कै।
कहै पदमाकर न खोज लग्यो ख्यालन को,
घालन मनोज लग्यो वीर तीर सजि कै।
सूखन सो बिंब लग्यो दूषन कदंब लग्यो,
मोहि न बिलंब लग्यो आई गेह तजि कै,
मींजन मयंक लग्यो मीतहू न अंक लग्यो,
पंक लग्यो पाइन कलंक लग्यो बजिकै।"[२]

'बिंब', 'कदंब' और मयंक पद लाक्षणिक हैं। ये पद क्रमशः अधर, उरोज तथा मुख के उपमान हैं। कथन की गोपनीयता से चमत्कार पैदा किया गया है। इनका लक्ष्यार्थ यह है कि नायिका काम वाणों से विद्ध हो गई। उसके अधर सूखने लगे, उरोजों में वेदना पैदा हो गई और शीघ्रता के साथ गृह त्याग कर कुंज भवन में पहुँची पर वहाँ नायक के न होने से मुख मलमल कर पश्चाताप करने लगी कि मैं व्यर्थ ही यहाँ आकर कलङ्क की भागिनी हो गई।

'नख-शिख'

ग्वाल कवि कृत 'नख शिख' रस ग्रन्थ है। इसमें श्रीकृष्ण भगवान के नख-शिख का निरूपण है। एक-एक अङ्ग के वर्णन में एक-एक कवित्त लिखा गया है। इस तरह एक ही कवित्त में एक अंग के अनेक उपमानों से अनेक सौन्दर्य बिंब प्रस्तुत किए गए हैं। इन बिंबों के लिए जो अप्रस्तुत विधान किया गया है उसमें प्रायः लक्षणा का चमत्कार है। उन लाक्षणिक पदों में से कुछ यहाँ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"कैधों विधि बागवान अधिक उतावल में कदली उलटि धरे सीमां शोभ माल की।
कैधों भुज उदर हृदय सीस मंदिर के उदति अगार धर मंडी जोति जाल की।

---

१. पद्माकर ग्रन्थावली सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं० पृ० १००, पद १००
२. वही पृ० १२०, पद १८९

ग्वाल कवि कैंधों सुरराज वन नन्दन औंधी धरि दीनी है सरोमहा सुढ़ाल की।
कैधों केलि कलमै कलानिधि मुखीन कों ऐ गोद की करन जुग जंघै नन्दलाल की।।"१

इसमें 'विधि बागवान' लाक्षणिक पद है। इस पद में विधि उपमेय और बागवान उपमान है। आधार गुण साम्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बनाया है।

"कैंधों अध ऊरध शरीर मध्य भाग ताके करन प्रसिद्धि बुर्ज बने हैं सम्हाल के।
कैंधों लंक भूपति विराजिबे के रंग गूढ़े मजेदा जड़े नील मणि जाल के।
ग्वाल कवि कैंधों कामिनी की केलि समये तबले मधुर मृदुदैन हारे ताल के।
कैंधों पृष्ठ भाग की प्रभा के वृद्धि करिवे कों विधि ने बनाए हैं नितम्ब नन्दलाल के।"२

इसमें 'लंक भूपति' पद लाक्षणिक है। इस पद में लंक (कटि) उपमेय और भूपति उपमान है। आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने भाव बिंब को गोचर कराया है।

समस्त नायिका-भेद ग्रन्थों में लक्षणा के प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुए हैं। इन प्रयोगों में शास्त्रीयता और स्वाभाविकता भी है। इन कवियों ने क्रिया पदों के लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा अर्थ को नया आयाम प्रदान किया है। इन पदों में शुद्धा लक्षण लक्षणा सर्वत्र वर्तमान है। अप्रस्तुत-विधान परंपरा से बद्ध हैं। इसी कारण से ऐसे उपमान भी इन कवियों ने ग्रहण किए हैं जो सौन्दर्य प्रतिपादन में असमर्थ हैं। इन ग्रन्थों में मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया गया है। ये सभी प्रयोग निरूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं। रीति-कालीन आचार्यों के लाक्षणिक प्रयोग जहाँ अधिक शास्त्रीय थे वहाँ इन प्रयोगों में शास्त्रीयता के साथ-साथ काव्य की संवेदनीय सामर्थ्य का भी विशेष ध्यान रखा गया है। काव्य में इन लाक्षणिक प्रयोगों के कारण बिंबात्मकता, संवेदनीयता तथा संप्रेषणीयता आ गई है और काव्य की चारुता समृद्ध हो गई है।

रीतिकालीन अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थों में लक्षणा:—

साहित्य में अलंकरण की प्रवृत्ति अति प्राचीन है। विद्वानों ने इसका संबन्ध ऋग्वेद की संहिताओं से जोड़ रखा है। किन्तु कव्य-शास्त्र के रूप में नाट्य शास्त्र में उपमा, रूपक और दीपक तीन अलंकार दिए गए हैं। उपमा एक अति प्राचीन अलंकार है। यास्काचार्य ने निरूक्ति में इसका उल्लेख किया है।[3] किन्तु यास्काचार्य

---

१. **नख शिख, सं० गो० श्रीगोवर्द्धनलाल, सं० १९६०, पृ० २, पद ५**

२. **नखशिख, सं० गो० गोवर्द्धन लाल, सं०१९६०, पृ० ७ पद ६**

३. **अथात् उपमा:। यदेतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन व प्रख्यात समेन वा कनीयाँसं वा अप्रख्यातं वा उपमीते, अथापि कनीयसा ज्यायाँसम्। निरुक्ति ३।१३**

को उपमा से भिन्न अलंकार के रूप में रूपक को कल्पना नहीं थी। उनकी दृष्टि में रूपक लुप्तोपमा ही था।[1] बादरायण के 'वेदान्त सूत्रों' में उपमा और रूपक दोनों का स्पष्ट रूप में निर्देश है।[2] निरुक्त तथा 'वेदान्तसूत्रों' में पाए जाने वाले उपमा तथा रूपक के बीज विकसित होते होते भरत तक आ पहुँचे थे। भरत मुनि के तीनों अलंकार औपम्य मूलक हैं। भरत ने उपमा की परिभाषा देकर, उपका के पाँच भेद प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी और किंचितसदृशी किए हैं। इसके अनन्तर भरत मुनि कहते हैं—

> **''उपमा बुधैरेते ज्ञेया भेदाः मे समासतः ।**
> **शेषा ये लक्षणेनेक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥''**[3]

इस श्लोक का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है—नाट्य शास्त्र में किए भेदों से जो भिन्न हों ऐसे उपमा भेद लक्षण मुख से समझ लेना चाहिए इससे ज्ञात होता है कि निन्दोपमा तथा प्रशंसोपमा दो भेद भरत ने स्वयं लक्षणकृत दिए और अन्यभेद लक्षणों पर से समझ लेने का निर्देश किया। इसके उपरान्त अभिनव गुप्त कहते हैं कि—''लक्षण मुख से अलंकार भेद करने का सूत्र एकबार अवगत कर लेने के बाद अलंकार प्रपंच का विस्तार होने में क्या देर थी? भरतोक्त तीनों अलंकारों में ही छत्तीस लक्षणों का वैचित्र्य प्रतीत होने पर ही कितने अलंकार होते हैं, और उनमें अन्यान्य अलंकार छटाओं के मिश्रण से सैकड़ों और सहस्त्रों अलंकारों की कल्पना की जा सकती है।''[४]

भरत मुनि द्वारा उल्लखित छत्तीस काव्य लक्षणो[५] के संयोग से तथा अन्यान्य अलंकार-छटाओं के मिश्रण से अलंकारों का विकल्पन होने लगा। दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—''अलंकारों का विकल्पन अभी चल ही रहा है। अतः उनकी

---

१. **लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते । निरुक्ति ३।१८**

२. **अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् । ब्रह्म सूत्र ३।२।१८ आनुमानिकमप्येकेषां शरीरूपकविन्यस्तगृहीतेः दर्शयतिच । ब्रह्म सूत्र १-४-१.**

३. **नाट्य शास्त्र १६।५६**

४. **इत्येवम् उपमा रूपकादीनाः अलंकारत्वेन वक्ष्यमाणानां प्रत्येकं षट त्रिंशल्लक्षण-योगात्, लक्षणानापमि च एकद्वित्र्याद्यवान्तरविभागभेदात् आनन्त्यं केन गणयितुं शक्यम्, इदानीं शतसहस्त्राणि वैचित्र्याणि सहृदयैरुत्प्रेक्ष्यन्ताम् ।**
(अभिनव भारती २।३१७)

५. **षटत्रिंशदेतानि तुलक्षणानि । प्रोक्तानि वै भूषण संमितानि ।**
(ना० शा० १६।४२)

गणना कौन कर सकता है ? किन्तु इस विकल्पन का बीज पूर्व आचार्यों ने पहले ही दर्शित किया है। हम केवल उसका परिसंस्कार मात्र करते हैं।"[1]

नाट्य-शास्त्र के अनन्तर अग्नि पुराण में १६ अलंकारों का नाम आया है। आचार्य भामह के काव्यालंकार में ३८ अलंकारों का निरूपण है। आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में यह संख्या ५२ हो गई है। आचार्य रुय्यक के समय तक अलंकारों की संख्या १०३ और पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ रस-गंगाधर में इनकी संख्या १९१ तक मान ली है।

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में संस्कृत साहित्य-शास्त्र की उत्तर-कालीन परम्परा का अनुकरण किया गया, जिसमें 'चन्द्रालोक' एवं कुवलयानन्द ग्रन्थ आते हैं। इन ग्रन्थों में पूर्ववर्ती खण्डन-मण्डन और सूक्ष्म विवेचन की प्रणाली का अनुकरण नहीं किया गया है। यह अलंकार निरूपण की सरल तथा संक्षिप्त शैली है। इसमें काव्यांग परिचय की अपेक्षा रसिकता का पोषण अधिक है। इस शैली का आरम्भ हिन्दी में सम्भवत: कर्णेश के 'श्रुति भूषण' आदि ग्रन्थों से हुआ, पर इसकी वास्तविक प्रतिष्ठा तो महाराज जसवंतसिंह के 'भाषा भूषण' से ही हुई। भाषा भूषण की रचना दोहों में की गई है—जिनमें पहले चरण में अलंकार का लक्षण और दूसरे में उदाहरण दिया गया है। इस संक्षिप्त शैली का अनुकरण रीतिकाल में अनेक ग्रन्थकारों ने किया है। किन्तु उनमें एक ऐसा भी वर्ग है जो लक्षण के लिए दोहा और उदाहरण के लिए कवित्त तथा सवैयों का प्रयोग करता है। इस श्रेणी के अनेक ग्रन्थों का नाम उल्लेख किया जाता है। यहाँ पर उपलब्ध ग्रन्थों—जैसे 'कवि प्रिया', 'भाषा भूषण', 'ललित ललाम', 'शिवराज भूषण', शृङ्गार निर्णय, 'कवि कुल कंठा भरण', अलंकार दर्पण तथा पद्माभरण आदि ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग दिए जा रहे हैं।

अलंकारों में सादृश्यालंकारों में जो अप्रस्तुत विधान किया जाता है वह साम्य पर आधारित रहता है। साम्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) रूप साम्य, (२) गुण साम्य और (३) प्रभाव साम्य। रूप साम्य मूलक अप्रस्तुत वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करके रूप जन्य चेतना को उद्‌बुद्ध करते हैं। गुण साम्य मूलक अप्रस्तुत वस्तु के धर्म अथवा गुण की अनुभूति को स्पष्ट करते हैं और प्रभाव साम्य साधर्म्य का ही सूक्ष्मतर रूप है, इसका विधान किसी प्रभाव की अनुभूति को संवेदनीय बनाता है। धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग करने पर लक्षणा-शक्ति का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है।

---

१. काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥ (काव्यादर्श २।१, २)

मानवीकरण में जड़ वस्तुओं, भावनाओं अथवा किसी अंग विशेष पर मानव गुणों का आरोप किया जाता है। इन सभी के मूल में भी लक्षणा का चमत्कार होता है।

रूपक अलंकार में गौणी सारोपा लक्षणा के मूल में होने के कारण ही चमत्कार पैदा होता है। अतिशयोक्ति अलंकार के मूल में साध्यावसाना गौणी लक्षणा होती ही है। हेतु अलंकार के मूल में लक्षण-लक्षणा की शक्ति भी प्रायः चमत्कार पैदा करती है। इसी तरह परिकरांकुर, समासोक्ति, निन्दास्तुति, स्तुतिनिन्दा, व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, गूढ़ोत्तर और गूढ़ोक्ति में भी लक्षणा-शक्ति होती है। इनके अतिरिक्त प्रायः अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, अपह्नुति और गम्यतोत्प्रेक्षा में भी लक्षणा-शक्ति का चमत्कार हाता है। इन अलंकारों के अतिरिक्त जब अन्य अलंकारों के निरूपण में कवि-प्रतिभा बिंब-विधान करने लगती है तो वहाँ भी लक्षणा-शक्ति का चमत्कार पाया जाता है।

वास्तव में समस्त साहित्य ग्रन्थों में अर्थ का वैभव बिखरा पड़ा है। रस अनुभूति और अलंकार चमत्कार अर्थ की ही आधार शिला पर खड़े हैं। लक्षणा-शक्ति अर्थ व्यापार की एक शक्ति है जिसके द्वारा अप्रस्तुत विधान में बिंबों को गोचर किया जाता है। लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे जो भाषा की स्फूर्ति हैं, उनका भी अलंकारिक कवियों ने खुलकर प्रयोग किया है। इनके भी मूल में निरूढ़ा लक्षणा होती ही है। इनके अतिरिक्त कुछ पद कवि प्रयोग प्रसिद्धि के कारण किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो गए हैं वे भी निरूढ़ा लक्षणा का विधान करते हैं। अब यहाँ अलंकार ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

कवि प्रिया

आचार्य केशव जो रीतिकाल से पहले के रीति ग्रन्थकार हैं, उनकी 'कवि प्रिया' से कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिनसे उपर्युक्त कथन की स्पष्टता भी होगी।

निरूढ़ा लक्षणा—

"जान्यो न मैं मद जोबन को उतर्‌यो कब, काम को काम गयो ई।"[१]

'मद' का शब्दार्थ शराब है पर लक्ष्यार्थ नशा ग्रहण होता है। मादक वस्तुओं में ही नशा का होना सम्भव है किन्तु कवि प्रयोग प्रसिद्धि से 'जोबन' के साथ मद अपने लक्ष्यार्थ में प्रयुक्त होते-होते रूढ़ हो गया है। इसी तरह काम के पक्ष में गयो का प्रयोग है। काम का जाना असम्भव है क्योंकि वह देहधारी नहीं है। इस पद का लक्ष्यार्थ का काम भावना की समाप्ति है पर कवि प्रयोग प्रसिद्धि से यह भी अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ हो गया है।

---

१. कवि प्रिया, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथम सं० पृ० १५०, पद १७

"नाह के नेह के मामिले अपनी छाँह हू की परतीत न कीजै ।"[1]

'छाँह हू की परतीत न कीजै' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—किसी का भी विश्वास न करो।

"सर्वस लोग लुटावत देखि कै दारिद देह दरार सी खाई ।"[2]

'दरार खाई' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अत्यधिक दुखी होना।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"देखो नहीं हरि देखि तुम्हैं यहि होति है आंखिन ही में अखारो ।।"[3]

'अखारो' पद लाक्षणिक है। अखाड़ा कुश्ती लड़ने का स्थान होता है पर यहाँ इसका लक्ष्यार्थ है कुश्ती होना अथवा लड़ाई होना।

गौणी सारोपा लक्षणा—

"जानकी के जनकादिक के सब फूलि उठे तरु पुन्य पुराने ।"[4]

'तरु पुन्य' लाक्षणिक पद है। इस पद में उपमेय पुन्य एवं उपमान तरु है। इसका आधार साहृश्य है। पुन्य पर तरु का आरोप करके फूलना कहा गया है। अभिप्राय यह है कि जनकादिक के पूर्व कृत पुण्य अवसर पाकर प्रकट हो गए।

"बदन चन्द लोचन कमल, बाहु बीसनी जानि ।
कर पल्लव अरु भ्रू लता, बिंबा धरनि बखानि ।।"[5]

'बदन चन्द', लोचन कमल', 'बाहु बीसनी' (कमल नाल) 'कर पल्लव', भ्रूलता और बिंब अधर लाक्षणिक पद हैं। बदन, लोचन, बाहु, कर, भ्रू तथा अधर उपमेय और चन्द, कमल, बीसनी, पल्लव, लता एवं बिंब उपमान हैं। इनका आधार रूप साहृश्य है। उपमानों की सहायता से उपमेयों की अनुभूति को संवेदनीय बनाया गया है।

"कर कंजनि पल्लवन भुज बिस वल्लरी सुपास ।
रत्न तारका कुसुम सर नखरुचि केसवदास ।।"[6]

'कर कंजनि', रत्न तारका तथा लाक्षणिक पद हैं। कर एवं रत्न उपमेय है और 'कंजनि' तथा तारका उपमान है। इनका आधार साहृश्य है। उपमानों की सहायता से उपमेय संप्रेषणीय बनाए गए हैं।

---

१. कवि प्रिया, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं० पृ० ७७, पद ७
२. वही पृ० १७८, पद ११
३. वही पृ० १८५, पद २०
४. वही पृ० १८२, पद ३
५. वही पृ० १८४, पद १३
६. वही पृ० २०१, पद २६

"बिन गुन तेरी आन, भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाक्ष बान, यह आचिरज आहि ।"[१]

'भृकुटी कमान' तथा कुटिल कटाक्ष बान लाक्षणिक पद हैं । इनमें भृकुटी तथा कुटिल कटाक्ष उपमेय और कमान एवं बान उपमान हैं । इनका आधार गुण साद्दश्य है । उपमानों की सहायता से उपमेय बिंबों को स्पष्ट किया गया है ।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"सोने की एक लता तुलसी बन क्यों बरनौं सुनि बुद्धि सकै छ्वै ।
'केसवदास' मनोज मनोहर ताहि फले फल श्रीफल से द्वै ।
फूलि सरोज रह्यो तिन ऊपर रूप निरूपत चित्त चलै च्वै ।
तापर एक सुवा सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै ।।"[२]

'सोने की लता' 'श्रीफल', 'सरोज', सुवा और खंजन के बालक उपमान हैं नारी के शरीर, उरोज, मुख, नासिका तथा नेत्रों के । इनका आधार रूप साद्दश्य है। यहाँ कवि ने नारी के शरीर के सौन्दर्य का उपमानों के सहारे संवेदनीय बिंब प्रस्तुत किया है ।

भाषा-भूषण

महाराज जसवन्तसिंह कृत 'भाषा-भूषण' 'चन्द्रालोक' की छाया पर विरचित एक अलंकार ग्रन्थ है । उन्होंने एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश कर दिया है । इस संक्षिप्त प्रणाली के कारण यह ग्रन्थ छात्रोपयोगी अधिक है । इस छोटे से ग्रन्थ में १०८ अलंकारों के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इन अलंकारों में ऐसे अनेक अलंकार हैं जिनके मूल में लक्षणा शक्ति निहित है । उनमें से कुछ यहाँ लाक्षणिक प्रयोग के उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं ।

निरुढ़ा लक्षणा—

"कीरति अरिकुल संग ही जलनिधि पहुँची जाइ ।।"[३]

'कीरति जल निधि पहुँची' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है—कीर्ति समस्त पृथ्वी और सागर पर छा गई ।

"जाचक तेरे दान ते भए कल्पतरु भूप ।"[४]

---

१. कवि प्रिया, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० १५२, पद २८
२. वही पृ० १८४, पद १८
३. भाषा भूषण, सं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० १२, पद ९२
४. वही पृ० २६, पद १९२

'भए कल्पतरु' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है दानी हो गए हैं अर्थात् कल्पतरु की तरह याचक की इच्छानुसार दान देने लगे हैं।

"मोहन कर मुरली नहीं है कछु बड़ी बलाइ।"[1]

'बलाइ' लाक्षणिक पद है। यहाँ मुरली को बड़ी बलाइ' कहा गया है। इसका शब्दार्थ है—बड़ी व्याधि किन्तु इसका लक्ष्यार्थ है स्नेहाकर्षण की तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाली। यहाँ कवि ने धर्मी को धर्म के रूप में स्थापित कर दिया है। कवि प्रयोग प्रसिद्धि से इसका प्रयोग इस रूप में रूढ़ हो गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"मुख ससि या ससि तें अधिक उदित जोति दिन राति।
सागर ते उपजी न यह कमला अपर सुहाति ॥[2]

'कमला' लाक्षणिक पद है। कमला का लक्ष्यार्थ है सौन्दर्ययुक्त नारी।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

"विजुरी सी पंकजमुखी, कनक लता तिय लेषि।
बनिता रस श्रृङ्गार की कारर मुरति पेषि ॥"[3]

'बनिता श्रृङ्गार मूरति' लाक्षणिक पद हैं। बनिता उपमेय और श्रृंगार मूर्ति उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमान के सहारे उपमेय के बिंब को कवि ने स्पष्ट किया है।

"अति सोभित विद्रुम अधर नहिं समुद्र उत्पन्न।
तुअ मुख पंकज विमल अति सरस सुवास प्रसन्न ॥"[4]

मुख पंकज लाक्षणिक पद हैं। इसमें मुख उपमेय है और पंकज उपमान है। उपमेय के बिंबों को कवि ने उपमान के सहारे संवेदनीय बनाया है।

"नैन कमल ए ऐन हैं और कमल किहि काम।
गँवन करति नीकी लगति कनक लता यह बाम ॥"[5]

'नैन कमल' पद लाक्षणिक हैं। नैन पर कमल के आरोप द्वारा कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है। उपमेय और उपमान का आधार सादृश्य है।

"धर्म दुरैं आरोप तें शुद्ध अपहनुति जानि।
उर पर नाहिं उरोज ए कनक लता फल मानि ॥"[6]

---

१. भाषा भूषण, सं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० २७, पद १६४
२. वही पृ० ८, पद ५५
३. वही पृ० ७ पद ४६
४. वही पृ० ८, पद ५७
५. वही पृ० ८ पद ५६
६. वही पृ० ६ पद ६३

'उरोज कनकलता फल' लाक्षणिक पद है। उरोज उपमेय पर कनकलता फल उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को अलौकिक सौन्दर्य से मण्डित कर दिया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"अतिशयोक्ति रूपक जहाँ केवल ही उपमान।
कनकलता पर चन्द्रमा धरे धनुष द्वै वान।।"[1]

'कनकलता' चन्द्रमा, धनुष द्वै तथा वान उपमान हैं क्रमशः नारी के शरीर मुख, भृकुटी और कटाक्ष के। कवि ने उपमानों के सहारे उपमेय बिंब को संवेदनीय बनाने का प्रयास किया है।

"समासोक्ति प्रस्तुत फुरैऽप्रस्तुत बर्नन मांझ।
कुमिदिनी हूँ प्रफुलित भई देखि कलानिधि साँझ।।"[2]

कुमुदिनी तथा कलानिधि उपमान हैं क्रमशः नायिक और नायक के कवि ने उपमानों के द्वारा ही उपमेयों का बिंब संप्रेषणीय बनाया है।

'ललित-ललाम'

'मतिराम' कृत 'ललित-ललाम' एक अलंकार ग्रन्थ है। इसमें भाषा-भूषण की शैली का अनुकरण नहीं किया गया है बल्कि लक्षण दोहे में और उदाहरण दोहे, कवित्त अथवा सवैयों में अलग दिया गया है—मतिराम ने लक्षणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है पर उनके उदाहरण अत्यन्त स्वच्छ हैं। इससे इनके आचार्यत्व की प्रतिभा की अपेक्षा कवित्व की प्रतिभा का अधिक निखार इनके अलंकार के उदाहरणों में दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का मत है—

"इसके रचयिता आचार्यत्व अथवा अलंकार निरूपण को प्रधान लक्ष्य बनाकर नहीं चले। यद्यपि इनका निरूपण—विशेष कर मतिराम और रघुनाथ का अत्यन्त स्वच्छ है, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों को कहीं अधिक महत्व दिया है।"[3]

कुछ अलकारों के मतिराम ने नाम भी बदले हैं—जैसे कैतुवापह्नुति प्रतियमान उत्प्रेक्षा, अन्योन्य तथा करण माला का उन्होंने क्रमशः छलापन्हुति, गुप्तोत्प्रेक्षा, परस्पर तथा हेतुमाला नाम करण किया है। इस सम्बन्ध में डा० त्रिभुवनसिंह का मत है—

---

१. भाषा भूषण, सं० ब्रजरत्नदास, प्र० सं०, पृ० १० पद ७७
२. वही पृ० १२ पद ९५
३. रीति काव्य की मिका, डॉ० नगेन्द्र, तृ० सं०, पृ० १४२

"ऐसा जान पड़ता है कि मतिराम को नाम बदलने का शौक था, जैसा कि उन्होंने अलंकार शब्द के लिए 'ललाम' शब्द का उपयोग किया है और अपने ग्रन्थ का नाम 'ललित ललाम' रक्खा है।" [१]

रूपक, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, परिकरांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, असंगति, अर्थान्तरन्यास, ललित, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति तथा लोकोक्ति आदि अलंकारों के मूल में लक्षणा शक्ति का चमत्कार होता है। यहाँ पर उनमें से कुछ उदाहरण प्रस्तुत करके लाक्षणिक चमत्कार दिखाए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

"ऊधौ नहीं हम जानत ही मनमोहन कूबरी हाथ बिकै हैं।" [२]

'हाथ बिकै हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है कि वशीभूत हो जाना।

"मेरी सीख सिखै न सखि, मोसो उठै रिसाय।
सोयो चाहत नींद भरि, सेज अङ्गार बिछाय॥" [३]

'सोयो चाहत सेज अंगार बिछाय' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है विरहावस्था में सेज पर पुष्प बिछाकर विरहाग्नि को और भी बढ़ाया जाएगा।

"मैं तृन सो गन्यो तीनहु लोकनि तू तृन ओट पहार छपावै।" [४]

'तृन सो गन्यो' तथा 'तृन ओट पहार छपावै' मुहावरे और लोकोक्ति हैं। इनका लक्ष्यार्थ है कुछ न समझना एवं असंभव कार्य करना।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"इन्द्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम।
आगि लपट, वर्षा करै, ताप धरै घनश्याम॥" [५]

'आगि लपट' तथा वर्षा करै' लाक्षणिक पद हैं। क्रमशः इनका लक्ष्याथ विरहाग्नि और अश्रु वर्षा है।

सारोपा गौणी लक्षणा—

"जंग में अंग कठोर महा मदनीर झरै झरना सरसे हैं,
झूलनि रंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं।

---

१. महाकवि मतिराम, डॉ० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं०, पृ० २०४
२. मतिराम ग्रन्थावली, सं० कृष्ण बिहारी मिश्र, प्र० सं०, पृ० १३२, पद २१३
३. वही पृ० १५०, पद ३०१
४. वही पृ० १६२, पद ३६७
५. वही पृ० ११२, पद ११२

सुन्दर सिंदुरमंडित कुंभनि गैरिक श्रृंग उतंग लसे हैं,
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं।"[१]

मदनीर झरना', झूलनि रंग महीरुह फूल प्रभा', सिंदुरमंडित कुंभनि गैरिक श्रृंग लाक्षणिक पद हैं। मदनीर, झूलनि रंग एवं सिंदुरमण्डित कुंभनि, उपमेय तथा झरना, महीरुह फूल प्रभा और गैरिक श्रृंग उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंबों को अलौकिकता प्रदान की है।

"बाल बदन प्रतिबिम्ब बिधु, उयो रह्यो तिहि संग।
उयो रहत अब रजनि दिन, तपन तपावत अंग।।"[२]

'बदन प्रतिबिंब बिधु' लाक्षणिक पद है। बदन प्रतिबिंब उपमेय और बिधु उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। मुख प्रतिबिंब पर बिधु का आरोप करके कवि ने बिंब को संप्रषणीय तथा संवेदनीय बनाया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग,
बरन कोऊ कबि कोबिद निहारि कै;
सो तो मतो 'मतिराम' के न मन मानै निज,
मति सौं कहत यह बचन बिचारि कै।
जरत बरत बड़वानल सों बारि निधि,
बीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै।
ज्यावति बिरंचि ताहि प्यावत पियूष निज,
कलानिधि मंडल कमंडल तें ढारि कै।।"[३]

'पारावार' नायक का, 'गंग' नायिका का 'बड़वानल' काम भावना का 'बीचिनि' भाव तरंग का, पियूष श्रृंगार रस का और 'कलानिधि' नारी सौन्दर्य का उपमान है। इस तरह पूरे कवित्त का अर्थ नायक-नायिका के पक्ष में घटित होता है। इनका आधार भाव साम्य है।

'शिवराज भूषण'

संपूर्ण रीतिकालीन साहित्य में भूषण ही एक मात्र ओजस्वी वाणी में उद्घोष करने वाले कवि हैं। उनके वीर रस से ओत-प्रोत उद्‌गार तत्कालीन भारतीय मानस का प्रतिनिधित्व करते थे। उनके वीर नायकों के प्रति हिन्दू जनता में सम्मान की भावना उस समय भी थी और आज भी है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है—

---

१. मतिराम ग्रन्थावली, सं० कृष्णबिहारी मिश्र, प्र० सं०, पृ० १०५ पद ७१
२. वही पृ० १०८ पद ९०
३. वही पृ० १०८ पद ८८

"...भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई।"[1]

भूषण रीतिकालीन कवि थे। तत्कालीन साहित्यिक प्रभावों से वे कैसे मुक्त रह सकते थे। उनकी कृति 'शिवराज भूषण' तत्कालीन परिस्थितियों की देन है। तत्कालीन परम्परा के अनुसार निर्मित यह एक अलंकार ग्रन्थ है। कवि इस ग्रन्थ में अपने कथन को प्रभावपूर्ण और चमत्कारिक बनाने के लिए जहाँ अप्रस्तुत विधान करता है वहाँ प्राय: लक्षणा का चमत्कार देखा जा सकता है। भूषण के समय में व्रज-भाषा का एक प्रौढ़ रूप साहित्य के माध्यम से व्यक्त हो चुका था। व्रज-भाषा का स्वच्छ और मँजा हुआ स्वरूप उनके समक्ष था। गूढ़ोक्तियाँ, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे भाषा के सहज स्वरूप हो गए थे। ऐसी परिस्थिति में गूढ़ोक्तियाँ लोकोक्तियाँ और मुहावरों का भूषण की अभिव्यक्ति में स्थान पा जाना सहज स्वाभाविक था। ऐसे सभी भाषा के क्षेत्र लक्षणा की शक्ति से समृद्ध हो जाते हैं।

इस स्थल पर 'शिवराज भूषण' में प्रयुक्त कुछ लाक्षणिक उदाहरणों को दिया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा :—

"महाराज शिवराज चढ़त तुरंग पर ग्रीवाजातनै कर गनीम अतिबल की।
भूषण चलत सरजा की सैन भूमि पर छाती दरकति खरी अखिल खलन की।
कियौ दौरि घाव अमीर उमराव पर गई कटि नाक सगरेई दिल्ली दल की।
सूरति जराई कीन्हीं दाहुपात साह उर स्याही जाय सब पात साही मुख झलकी।।"[2]

'छाती दरकति', कटि गई नाक और स्याही जाय सब पातसाही मुख झलकी मुहावरे हैं। इनका क्रमश: लक्ष्यार्थ है—डरना या चिंतित होना, इज्जत चली जाना तथा कलंकित हो जाना। इसी लक्ष्यार्थ में ही ये मुहावरे लोक प्रसिद्धि पा चुके हैं।

सारोपा गौणी लक्षणा :—

"कलियुग जलधि अपार उद्ध अधरम्म उर्मिमय।
लच्छनिलच्छ मलिच्छ कच्छ अरु मच्छ मगरचय।
नृपति नदी नद बृन्द होत जाको मिलि मीरस।
भनि भूषण सब भुम्मि घेरि किन्नि यसुअप्पबस।

---

१. हि० सा० इति०आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २२१
२. शिवराज भूषण, भूषण, सं० १९०५ ई०, पृ० ३१-३२, पद १३३

हिन्दुवान पुण्यगाह कवनिक तासु निवाहक तासु निवाहक साहि सुव।
वरदवान किरवान धरि यश जहाज शिवराज दुव।।"[1]

'कलियुग जलधि', 'अधरम्म उर्मि', 'मलिच्छ कच्छ अरु मच्छ, मगर, 'नृपति नदी नद', हिन्दवान पुण्यगाह' और यश जहाज लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं। इनका आधार सादृश्य है। तत्कालीन परिस्थिति का सागर के अंगों-उपांगों के उपमानों द्वारा बिंबित किया गया है। इससे परिस्थिति की भीषणता, गम्भीरता, और उससे त्राण पाने की एक मात्र ज्योति का चित्र कवि पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है। इस परिस्थिति का यदि कलियुग, मलिच्छ आदि शब्दों के द्वारा ही अभिव्यक्ति की गई होती तो कथन में प्रभाव और चमत्कार न उत्पन्न होता। यही कवि प्रतिभा का चमत्कार है।

"शिव सरजा के कर लसै सोन होइ किरवान।
भुज भुज गेश भुजंगिनी भरवत पौन अरि प्रान।।"[2]

'शिव सरजा' तथा 'पौन अरि प्रान' लाक्षणिक पद हैं। दोनों में उपमेय और उपमान हैं। इनका आधार गुण साम्य है। इस तरह शिवाजी की बहादुरी का श्रेष्ठतम स्वरूप और तलवार की भीषणता का चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है।

गौणी साध्यावसाना :—

"मंगन मनोरथ के दानि प्रथमहिं तोहिं कामतरु कामधेनु सो गनाइयतु है।
याते तेरे गुण सब गाइ को सकतु कबि बुधि अनुसार कछु हम गाइयतु है।
भूषण कहै यों साहि तनय शिवराज निज बखत बढ़ाइ करि तोहिं ध्याइयतु है।
दीनता को डारि औ आधीनता विडारि दीह दारिद को मारि तेरे द्वार आइयतु है।"[3]

'कामतरु' तथा कामधेनु लाक्षणिक पद हैं। दोनों पद शिवाजी के उपमान हैं। आधार सादृश्य है। शिवाजी पर कामतरु और कामधेनु की दानी प्रवृत्ति का आरोप करके कवि उनके दान की महत्ता स्थापित करता है। कवि का कथन है कि याचक जो मनोरथ लेकर शिवाजी के पास पहुँचता था वह पूर्ण हो जाता था।

"बासव से विसरत विक्रम की कहा चली विक्रम लखत बीर बखत बिलन्द के।
जाके तेज वृन्द शिवाजी नरिंद मसरंद भाल मकरंक कुलचंद साहि नन्द के।
भूषण भनत जाके बैर बैर नैरनि मैं होत अचरज घर घर दुखदन्द के।
कनक लतानि इन्दु इन्दुनि मैं अरबिंद झरै अरबिंद नितै बुन्द मकरन्द के।।"[4]

---

१. शिवराज भूषण, भूषण, सं० १९०५ ई०, पृ० १०, पद २१
२. वही पृ० १५, पद ४१
३. वही पृ० २०-२१, पद ७२
४. वही पृ० १९, पद ६४

'कनक लतानि', 'इन्दु' 'अरबिंद' और मकरंद उपमान पद हैं। इनके उपमेय क्रमशः शत्रुओं की नारियाँ, मुख, नेत्र तथा आँसू हैं। इनका आधार सादृश्य है। नारियों की शरीर के वर्ण को कनकलता मुख को इन्दु की ज्योत्स्ना, नेत्र को अरबिंद और आँसू को मकरंद कहकर बिंबित किया गया है। इस तरह नारियों के सौन्दर्य एवं उनकी कारुणिक अवस्था का चित्र कवि प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है।

'कविकुल कंठाभरण'

दूलह कवि कृत 'कविकुल-कंठाभरण' अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कवित्त और सवैयों में लिखा गया है। 'भाषा भूषण' की तरह एक ही पद में लक्षण और उदाहरण इसमें भी दिए गए हैं। पद विस्तार के कारण लक्षण एवं उदाहरण पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट हैं। कुवलयानन्द के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है।

अलंकारों के उदाहरण में जहाँ कवि रूपक, अतिशयोक्ति, परिकरांकुर, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति गूढ़ोक्ति तथा लोकोक्ति आदि अलंकारों के लिए अप्रस्तुत विधान करता है, वहाँ लक्षण का चमत्कार आ ही जाता है। मुहावरे, कवि प्रयोग प्रसिद्धि के निखरे हुए वाक्यांश एवं शब्दों में भी लक्षणा शक्ति का प्रभाव होता है। यहाँ पर उन उदाहरणों में—जिसमें लक्षणा-शक्ति का प्रयोग हुआ है कुछ उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

"फूले सखा सखी नैन तन दुति देखे ऐन केतकी कनक जोति नरम निहारी है।"[१]

'फूले' पद लाक्षणिक है। फूल फूलता है पर यहाँ नैन का फूलना कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रसन्न होना किन्तु कवि प्रयोग प्रसिद्धि के कारण यह पद अपने लक्ष्यार्थ में भी रूढ़ हो गया है।

"सुन्दर सरस सुकुमार मुख कमल सों रवि को उदै विचारि जुवं कुम्हिलानी है।"[२]

'कुम्हिलानी' पद लाक्षणिक है। पुष्प के लिए कुम्हिलाना का प्रयोग होता है पर यहाँ नायिका के पक्ष में कुम्हिलानी शब्द का प्रयोग हुआ है। कवि प्रयोग प्रसिद्धि से यह पद अपने लक्ष्यार्थ उदास होना अथवा दुखी होना, रूप में रूढ़ हो गया है।

सारोपा गौणी:—

"बैन सुधा सुने जीजै, नैन कंज देखे सुख,
प्यारे न्यारे चन्द हो मृगान रथ में न है।"[3]

---

१. कविकुल कंठाभरण, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० बा०, पृ० ८ पद २३
२. वही पृ० १० पद २७
३. वही पृ० ४ पद १२

'बैन-सुधा' तथा नैन कंज ' लाक्षणिक पद हैं। बैन एवं, नैन उपमेय हैं। सुधा और कंज उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। बैन पर सुधा का आरोप करके सुधा के आकर्षण और माधुर्य का और नैन पर खंजन के नेत्र सौंदर्य का आरोप किया गया है। इस तरह दोनों बिंबों को कवि ने संप्रेष-ठरिय बनाया है।

"चौथी है अकारण सो कारज जनम रूप ।
लता पर शोभावान श्रीफल सुढारमे ।"[1]

इसमें 'रूपलता' लाक्षणिक पद है। इस पद में रूप पर लता की कमनीयता और सुकुमारता का आरोप किया गया है। श्रीफल उपमान है उरोज का। इस प्रकार के अप्रस्तुत विधान द्वारा कवि बिंबों को अलौकिकता प्रदान की हैं। श्रीफल में साध्यावसाना लक्षणा का चमत्कार है।

"कहै नट नागर सकल गुन आगर तो अधर सुधाते सुख सागर अपारभे ।"[2]

अधर सुधा तथा सुख सागर लाक्षणिक पद हैं। अधर एवं सुख उपमेय और सुधा तथा सागर उपमान हैं। अधर पर सुधा, के माधुर्य,—आकर्षण का एवं सुख पर सागर की विशालता का आरोप किया गया है। इस तरह कवि ने बिंबों की संवेदनीय बनाया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

"चारु विधु मंडल में विद्रुम विराजै छद मोतिन की छाजै छपाये छपते नहीं।
कहै कवि दूलह अपर तन्हुगिभ यहै सापन्हुति बरन विशेष रचना लहीं।
शंकर न कयलास हेमलता कीनो बास हेरे को पलास है पलास कलिका नहीं ॥"[3]

इसमें 'विधु मंडल, विद्रुम, मोतिन, शंकर, हेमलता और पलास कलिका क्रमशः मुख, अधर, दन्त, उरोज, शरीर एवं नारी के उपमान हैं। इनका आधार सदृश्य है। इस पद में उपमानों द्वारा ही उपमेय के सौंदर्य का कवि प्रस्तुत करके एक अलौकिक सौन्दर्य की झाँकी दी है।

"चारु चन्द उदै चकोरन को चैन देत ।
बाम को जतावै सो अराम सखी जनको ।"[4]

चन्द और चकोर क्रमशः नायक मुख एवं नायिका के उपमान हैं। कवि उपमानों के माध्यम से बिंबों को संवेदनीय बनाया है। इसका लक्ष्यार्थ है नायक के दर्शन होते ही नायिका तथा उसकी सखियाँ आनन्दित हो गईं।

---

१. कविकुल-कंठाभरण, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर,' प्र० बा०, पृ. १४ पद ३७
२. वही पृ० १५ पद ३७
३. वही पृ० ७ पद २०
४. वही पृ० १० पद २६

'अलंकार दर्पण'

महाराज रामसिंह कृत 'अलंकार दर्पण' एक अलंकार ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण दोहों में दिए गए हैं। उदाहरण स्वच्छ और स्पष्ट हैं। इस ग्रन्थ में रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, परिकराकुर, अप्रस्तु प्रशंसा, निन्दा, व्याज निन्दा, गूढ़ोक्ति, लोकोक्ति आदि अलंकारों में लक्षणा का चमत्कार पाया जाता है। यहाँ पर कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण दिए जा रहे हैं—

निरूढ़ा लक्षणाः—

> **"मुरली सुन्दर स्याम की रही सरस रस भोइ।**
> **ताकी धुनि श्रवनन सुनै रही मृगी सी होइ॥"[१]**

'भोइ' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्यार्थ भिगोना है किन्तु इस पद का प्रयोग जल के पक्ष में किया जाता है। यहाँ कवि प्रयोग प्रसिद्धि से 'मुरली इस में 'भोइ' कहा गया है।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

> **"तेरो आनन चन्द्रमा अमल सुधा के ऐन।**
> **चैन चकोरन देत नहिं कुमुद फुलावत है न॥"[२]**

'आनन चन्द्रमा' लाक्षणिक पद है। आनन उपमेय और चन्द्रमा उपमान है। आधार साद्दश्य है। आनन पर चन्द्रमा के गुण—अपने प्रेमियों को प्रसन्न करने के भाव का आरोप किया गया है। इस तरह कवि ने बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

> **"चन्द्रमुखी वृषभानुजा नीरद नन्दकिशोर।**
> **चित चकोर चातक भयो लग्यो रह्यो तिहिं ओर।"[3]**

चित-चकोर लाक्षणिक पद है—चित उपमेय तथा चकोर उपमान है। इनका आधार गुण साम्य है। चित्त पर चकोर के स्नेह की एक निष्ठा का आरोप करके कवि ने बिंब को अलौकिकता प्रदान की है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

> **"वसि ससि मैं नित नित रहै सरसावत पिय हेत।**
> **दो खंजन अंजन दिये मनरंजन करि देत॥"[४]**

'ससि' तथा 'खंजन' पद लाक्षणिक पद हैं। शशि और खंजन पद उपमान हैं मुख एवं नेत्र के। इनका आधार साद्दश्य है। इन पदों द्वारा इनकी संपूर्ण विशेषताओं

---

१. अलंकार दर्पण, महाराज रामसिंह, प्र० बा०, पृ० ५ पद २५
२. वही पृ० ६ पद ५५
३. वही पृ० ५८ पद ३८४
४. वही पृ० १५ पद ६६

का पूर्ण रूप से तादात्म उपमेय के साथ करके कथन में चमत्कार पैदा कर दिया गया है। इस तरह अर्थ को विशिष्ट गौरव प्राप्त हो गया है।

"मधुर सुरंग अनार का तजि समीप सुख दैन।
एरी कीर कईथ पै गयौ कहा रस लैन ॥"[1]

'अनार','कीर' तथा 'कईथ' लाक्षणिक पद हैं। ये पद-क्रमशः उपमान है तरुण रस युक्त नायिका अथवा उसके उरोज, नायक और दूसरी कुरूप नायिका अथवा घटिया किस्म की नायिका। यहाँ कथन की गोपनीयता द्वारा व्यंग्य तथा चमत्कार उत्पन्न किया है।

'पद्माभरण'

पद्माका कृत 'पद्माभरण' एक अलंकार ग्रंथ है। कवि ने अलंकारों के उदाहरणों में जो अप्रस्तुत विधान किया है, तथा मुहावरे और लोकोक्तियों का जो प्रयोग किया है वह लक्षणा गर्भित है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

निरूठा लक्षणा :—

"राजा करै सुन्याउ है पासा परै सु दाउ ॥"[2]

'राजा करै सुन्याउ' और 'पासा परै सु दाउ' लोकोक्तियाँ हैं। इनका लक्ष्यार्थ यह है कि राजा की इच्छा ही न्याय और अवसर मिलने पर ही सफलता मिल सकती है।

"भूख बिवस कृस तन पर्यो जद्यपि थकित अवाज।
तदपि मत्त गजराज बिन हनत न तृन मृगराज ॥"[3]

'हनत न तृन मृगराज' एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है स्वधर्म न छोड़ना।

"सूँड़ि बाँधि किय स्याम तन ताही की अनुहार।
क्यों रासभ लै चलहिगो गुरु गयंद को भार ॥"[4]

'क्यों रासभ लै चेलहिगो गुरु गयंद को भार' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है छोटी सामर्थ्य का व्यक्ति चाहे कितना भी बड़ा हो जाए फिर भी वह बड़े सामर्थ्य के व्यक्ति का सामता नहीं कर सकता है।

सरोपा गौणी लक्षणाः—

"तुव दृग खंजन हैं सही उड़ि न सकत तजि थान।
तु ही उर-बसी उरबसी राजत रूप निधान ॥"[5]

१- अलंकार दर्पण महाराज रामसिंह प्र० बा० पृ० २७ पद १७२
२. पद्माकर ग्रन्थावली सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० सं०, पृ० ६४ पद २५७
३. वही पृ० ४६ पद ११२
४. वही पृ० ४६ पद ११३
५. वही पृ० ३६ पद ३५

निष्कर्ष

इस प्रकार ऊपर के पृष्ठों में रीतिकाल से पहले के साहित्य, रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थों, रस ग्रन्थों और अलंकार ग्रन्थों में लक्षणा शक्ति के प्रयोग का दिग्दर्शन कराया गया है। हिन्दी साहित्य की गतिविधि का तात्विक अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे चलकर रीतिकालीन साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित हुईं उनका रीतिकालीन साहित्य में उदय आकस्मिक नहीं था अपितु वे हिन्दी साहित्य के आरम्भ में ही पुरानी परम्पराओं के फलस्वरूप चल पड़ी थीं। धीरे-धीरे उनमें विकास होता रहा और रीतिकाल की अनुकूल जलवायु प्राप्त करके प्रधान रूप में प्रतिष्ठित हुईं। रीतिकाल पूर्व कवियों के रीति ग्रन्थों में लक्षणा के प्रयोग रीतिकालीन सामान्य प्रवृत्तियों के परिचायक हैं। आदि काल के चारणों तथा कवियों ने वीर रस के निष्पादन की आधार भूमि शृङ्गार रस को ही बनाया है। इन वीर गीतों और प्रबन्धों में भाव बिंबों को संप्रेषणीय एवं संवेदनीय बनाने के लिए जो अप्रस्तुत-विधान किए गए उनमें अनेक स्थलों पर लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं। इस काल के प्रमुख कवि चन्द वरदायी के पृथ्वीराज रासो से कुछ उदाहरण उद्धत करके इस कथन की पुष्टि की गई है। लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा रासो के काव्य सौन्दर्य में वृद्धि हुई है एवं बिंब अधिक संप्रेषणीय हुए हैं, परन्तु ऐसे लाक्षणिक प्रयोग समस्त ग्रन्थ में विरल हैं।

विद्यापति के शृङ्गारिक गीतों में सर्वत्र लाक्षणिक प्रयोगों की छटा दिखाई पड़ती है। इन प्रयोगों से उक्ति वैचित्र्य, चमत्कार और काव्य सौन्दर्य में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। ये प्रयोग सहज एवं स्वाभाविक हैं और भाव को संवेदनशील बनाने में सहायक होते हैं। इनके सहारे कवि ने रूप सौन्दर्य को अधिक चमत्कार पूर्ण बनाया है।

जायसी के पदमावत में आने वाले नख-शिख षड्ऋतु, बारहमासा आदि के प्रसंग भी लक्षणा शक्ति की चरुता से मंडित हैं। इनके द्वारा काव्य-सौन्दर्य की योजना और बिंब-विधान की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट और सुन्दर बन पड़ी है।

कृपाराम की हित तरंगिणी एक शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। इनके लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता अधिक है। ये प्रयोग नायिका भेद के उदाहरणों की सीमा में जकड़े हैं, किन्तु ये सौन्दर्य के प्रतिपादन में शिथिल नहीं हैं साथ ही अभिव्यंजना कौशल की दक्षता को भी ये प्रस्तुत करते हैं।

सूरदास के दृष्टि कूटों में पर्याप्त लाक्षणिक-वैचित्र्य मिलता है। ये लाक्षणिक प्रयोग भी नायिका-भेद की पृष्ठभूमि में हुए हैं, पर कवि प्रतिभा ने प्रयोगों को सहज स्वाभाविकता प्रदान कर दी है। इससे काव्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि, उक्ति-वैचित्र्य

एवं चमत्कार में कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती है। इनके अप्रस्तुत-विधानों द्वारा भावों में तीव्रता संवेदन शीलता और संप्रेषणीयता आई है। गोस्वामी तुलसीदास के 'बरवै रामायण' और 'गीतावली' में भी रीति-कालीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें जो लाक्षणिक प्रयोग आए हैं स्वाभाविक हैं और काव्य सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना का 'बरवै नायिका भेद' ग्रन्थ रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। भावपूर्ण, सहज एवं प्रवाहमय अभिव्यक्ति के कारण इनके लाक्षणिक प्रयोग उक्ति वैचित्र्य की चारुता को बढ़ाते हैं।

आचार्य केशव की 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' पूर्णरूप से रीति ग्रन्थ ही हैं। इन ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता अधिक और स्वाभाविकता कम है। लाक्षणिक प्रयोगों से संबन्धित अप्रस्तुत विधान परम्पराओं और उदाहरणों की सीमा में जकड़े हुए हैं, इससे कहीं-कहीं काव्य-सौन्दर्य शिथिल पड़ गया है।

नन्ददास की रस मंजरी और सेनापति के कवित्त रत्नाकर में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता और स्वाभाविकता दोनों का समन्वय हुआ है। इन प्रयोगों द्वारा उक्ति में वैचित्र्य, काव्य में चमत्कार, भावों में तीव्रता और बिम्बात्मकता आई है।

रीतिकालीन आचार्य चिंतामणि, कुलपति, देव, भिखारीदास, सोमनाथ और प्रतापसाहि के काव्यांगों के निरूपण करने वाले ग्रन्थों में अलंकारों और नायिका भेदों के उदाहरणों में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। परंपरानुमोदित अप्रस्तुत विधान और उदाहरणों की सीमा ने इन्हें मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर नहीं प्रदान किया, इस कारण से इनके प्रयोगों में शास्त्रीयता तो है पर स्वाभाविकता का अभाव है। इन्होंने काव्य सौन्दर्य, संवेदनशीलता तथा बिंब संप्रेषणीयता पर विशेष ध्यान नहीं दिया। यह कथन देव, भिखारीदास और प्रतापसाहि की रचनाओं के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनकी रचनाओं में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त प्रांजल एवं शोभाधायक सभी नायिका-भेद ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता के साथ ही साथ किसी अंश तक स्वाभाविकता भी पाई जाती है। इनसे उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार में तो वृद्धि हुई है, पर सौन्दर्य विधान और संवेदनशीलता में शिथिलता भी आई है। परंपरा निर्वाह की प्रवृत्ति के कारण घिसे-पिटे उपमानों की सीमाओं का अतिक्रमण कर नई उद्भावना करने का प्रयास नहीं किया गया। जिससे काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की कमी रही और शब्दों के अर्थों को नया आयाम न मिल सका। फिर भी इन ग्रन्थों में ऐसे बहुत से लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं जिनके कारण बिम्बात्मकता, सम्वेदनीयता, संप्रेषणीयता और काव्य की चारुता समृद्ध हुई है।

अलंकार ग्रन्थों में भी ग्रन्थकार की रुचि मुख्यरूप से उदाहरणों के प्रस्तुतीकरण में प्रवृत्त है । इन उदाहरणों में रूपक, परिकरांकुर, समासोक्ति, अतिश्योक्ति आदि के मूल में लक्षणा-शक्ति का चमत्कार विद्यमान रहता ही है इसलिए इन प्रसंगों पर लाक्षणिक प्रयोगों की छटा दिखाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे स्थल भी लक्षणा के प्रयोग से युक्त हैं जहाँ कवि प्रतिभा बिंब-विधान और शब्दों को अर्थ का नया आयामा देने में तल्लीन हुई है। इन प्रयोगों में परंपरा निर्वाह का आग्रह अधिक और काव्य चारुता की समृद्धि कम है। फिर भी इनमें से अनेक प्रयोग ऐसे हैं जिनसे भाव की तीव्रता और बिंब की गोचरता बढ़ती है।

रीति-काल पूर्व के रीति ग्रन्थकारों के लाक्षणिक प्रयोगों में स्वाभाविकता, शास्त्रीयता और काव्य सौन्दर्य की समृद्धि के प्रति अधिक आग्रह दिखाई पड़ता है जबकि रीतिकालीन आचार्यों, आलंकारिकों और नायिका-भेद ग्रन्थकारों में शास्त्रीयता का अधिक आग्रह है और परंपरा निर्वाह पर विशेष ध्यान रखा गया है। शास्त्रीयता और परंपरा निर्वाह के कारण काव्य सौन्दर्य की जितनी अभिवृद्धि संभव थी उतनी न हो सकी।

तृतीय अध्याय

रीति सिद्ध कवि और लक्षणा का प्रयोग

'रीतिकाल' के समस्त रीति-ग्रन्थों पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो इन ग्रन्थों को आसानी से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उन ग्रन्थों को रखा जा सकता है जिनमें सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन किया गया है। इनके अतिरिक्त नायिका भेद और अलंकार ग्रन्थ भी इसी कोटि में आते हैं। इन ग्रन्थों के कर्ताओं ने मुख्य रूप से अपनी रचनाओं में काव्य के कलापक्ष को विशेष महत्व प्रदान किया है। इन ग्रन्थों का स्वरूप देखने पर यही ज्ञात होता है कि इनमें काव्य के विविध अङ्गों और उपांगों के लक्षण और उदाहरण हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि शास्त्रीय विचार-विमर्श के लिए इन ग्रन्थों की रचना नहीं हुई है। इन ग्रन्थों के रचियताओं ने अपनी कवितत्व शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए ही इस पद्धति को अपनाया है। यदि इनका लक्ष्य विशुद्ध रूप से साहित्य-शास्त्र का निरूपण करना होता तो इतना पिष्ट पेषणा और पुनरावृत्ति न होती। इनका लक्ष्य तो मात्र शास्त्र-स्थिति सम्पादन प्रतीत होता है। इस तरह जो लक्षणानुयायी ग्रन्थकार हैं वे भाषा के हेर-फेर से उदाहरण एकत्र करने की क्रिया में जुटे हुए दिखाई पड़ते हैं। इन ग्रन्थकारों की कृतियों में नई उद्‌भावना के लिए कोई स्थान नहीं था। इन्हें हम रीतिबद्ध ग्रंथ कह सकते हैं।

द्वितीय वर्ग में वे ग्रंथ आते हैं जिनमें रीतिकाल की परिपाटी की अनुकूलता तो है पर वे लक्षण ग्रंथ नहीं हैं। ये ग्रंथ मूल रूप से कवियों की स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। इन ग्रंथों में मुख्य रूप से 'बिहारी-सतसई', 'मतिराम सतसई' आदि ग्रंथ आते हैं। इन ग्रंथों के रचयिता कवि रीति से सहारा अवश्य लेते थे पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी बनाए रहते थे। ये रीति से बँधकर भी स्वतन्त्र थे। इनकी रचनाओं में स्वतन्त्र उद्‌भावनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। इस सम्बन्ध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है:—

"रीति-ग्रंथ लिखने वालों में व्यक्तिगत विशेषताओं का स्फुरण बहुत कम हो सका। पर जो लोग रीति के आधार पर स्वतन्त्र रचना करते थे उनमें ऐसी विशेषताएँ बहुत स्पष्ट हैं।"[१]

---

१. **बिहारी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० पृ० ५१**

इस मध्यम मार्ग के अनुकर्ताओं को ही रीति सिद्ध कवि कहा जाता है। इनकी रचनाओं में काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष का समान प्रतिपादन हुआ है। इन ग्रन्थकारों ने उक्ति-वैचित्र्य के लिए अपनी स्वतन्त्र सत्ता और व्यक्तिगत विशेषता का खुलकर उपयोग किया है। इनका लक्ष्य शास्त्र-स्थिति सम्पादन नहीं था। अपने काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ये अपनी उक्तियों में वैचित्र्य लाते थे एवं रसाभिव्यक्ति के लिए अपने अनुभव और निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री का नवीनता के साथ काव्य में समावेश करते थे। इस सम्बन्ध में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत द्रष्टव्य है:—

"कहीं तो चमत्कारातिशय के लिए वे उक्तियाँ बाँधते थे और कहीं रसाभिव्यक्ति के लिए रीति-शास्त्रों में गिनाई हुई सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त उपलब्धि, सामग्री या नूतनता का सन्निवेश करते थे।"[1]

मुख्य रूप से यह कहा जा सकता है कि रीति परम्परा की अनुकूलता में अपनी स्वकीय विशेषता को सम्पादन करने वाले कवियों को हम रीति सिद्धि कवि कह सकते हैं।

तृतीय वर्ग में वे ग्रन्थ आते हैं जिनके रचयिता अपना वैभव हृदय की उदारत और प्रेम की निर्मलता में प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों में काव्य के भाव पक्ष का प्राधान्य है और कला पक्ष का स्थान गौण है। ये कवि रीति बन्धन से मुक्त थे और मनोगत वेग के प्रवाह में काव्य रचते थे। इनमें घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि मुख्य हैं। इन्हें रीति मुक्त कवि कहा जाता है।

इस अध्याय में रीति सिद्ध कवियों के काव्य में लक्षणा के प्रयोग के स्वरूप की चर्चा की जा रही है। रीति सिद्ध कवियों ने उक्ति-वैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य द्वारा जहाँ शब्द को नए अर्थ में ढालकर बदले हुए परिवेश को प्रभा विष्णु बनाना चाहा है, जहाँ संवेदन संकेतित सौन्दर्य को नया आयाम देना चाहा है, जहाँ वस्तु को सापेक्ष्य करना चाहा है, जहाँ बिंब प्रस्तुत करना चाहा है, जहाँ अनुभूतियों को तीव्रावेग के साथ विस्तार करना चाहा है और जहाँ पर विशिष्ट अर्थ बोध कराना चाहा है, वहाँ उन्हें लक्षणा का अवश्य सहारा लेना पड़ा है। इसके अतिरिक्त भाषा की प्रकृति के साथ बहुत से मुहावरे और लोकोक्तियाँ तथा कवि प्रौढोक्त प्रसिद्ध तथ्य अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ होकर इनके काव्य में प्रयुक्त होने लग गए थे। इस प्रकार के स्थलों में भी लक्षणा के प्रयोग होते हैं।

बिहारी

रीतिकाल में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने रीतिशास्त्र पर तो कोई

---

१. बिहारी, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० पृ० ५२

ग्रन्थ नहीं लिखा पर वे रीति के ही प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी रचना पर रीति-शास्त्र की पूरी-पूरी छाप है। ऐसे कवियों में प्रमुख बिहारी हैं। 'बिहारी सतसई' रीति-ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं की गई है, किन्तु टीकाकारों ने अधिकांश भागों को शृङ्गार के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव आदि के अन्तर्गत रख छोड़ा है। यद्यपि 'सतसई' जैसे ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न कोटि के ग्रन्थ हैं, फिर भी इन ग्रन्थों पर रीति की छाप है। 'सतसई' में बिहारी को लक्ष्य तथा लक्षणा के समन्वय की चिन्ता नहीं थी, इसलिए रीति ग्रन्थकारों की रचना से यह प्रायः उत्कृष्ट रचना है। बिहारी के अधिकांश दोहे 'नख-शिख', 'नायिका भेद' एवं 'षट्ऋतु' के अन्तर्गत आ जाते हैं, पर बिहारी ने रीति के बन्धन को ढीला करके अपने दोहों में रमणीयता लाने का भी सराहनीय प्रयत्न किया है।

बिहारी काव्य के लिए दोहों को चुनकर रीति-ग्रन्थों की परम्परा को कुछ ढीली करते हुए प्रतीत होते हैं।[1] रीति-ग्रन्थों में कवित्त तथा सवैये विशेष रूप से प्रचलित थे। दोहे में वाणी के विस्तार के लिए अवकाश नहीं होता है। कवि को बहुत संक्षेप अथवा सूक्ष्म रूप से काम चलाना पड़ता है। बिहारी के दोहों में सामासिक शैली का जो चरम विकास हुआ है उसे स्पष्ट करने के लिए आगे चलकर कुण्डलियाँ आदि बड़े छन्दों के माध्यम से अर्थ विस्तार किया गया। लक्षण-ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखे गए काव्यों में नई उद्भावना के लिए स्थान न था पर बिहारी में उद्भावना की शक्ति थी और साथ ही भाषा पर भी उनका अधिकार था फिर वे मात्र लक्षणानुयायी बन कर कैसे रह सकते थे? उन्होंने उक्ति-वैचित्र्य के लिए अपनी स्वतन्त्र सत्ता और व्यक्तिगत विशेषता का खुलकर प्रयोग किया। उनकी 'सतसई' में कला पक्ष का उत्कर्ष बहुत अधिक हुआ है। इनके दोहों के कसाव और कारीगरी को देखकर आचार्य शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं कि:—

"बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देखकर घण्टों वाह-वाह किया करते हैं।"[2]

"बिहारी ने दोहों को चुन कर भी स्पष्ट कर दिया है कि रीति बद्धता मात्र मेरा लक्ष्य नहीं है।"

१. **'बिहारी' सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं०, पृ० ५३**

२. **हि० सा० इति०, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि सं० २००२, पृ० २१७**

आचार्य शुक्लजी के उपर्युक्त कथन से बिहारी की रचना में कला पक्ष की सबलता स्पष्ट हो जाती है किन्तु भाव पक्ष में उनकी सम्मति कुछ और ही है। उनके मतानुसार—

"भावों का बहुत उत्कृष्ट और उद्दात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी श्रृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।"[1]

रीति सिद्धि कवि बिहारी की सतसई में रीति का सहारा अवश्य लिया गया है पर उसमें कवि की अपनी स्वतन्त्र सत्ता की भी छाप है। व्यक्तिगत विशेषताओं के स्फुरण बड़े ही स्पष्ट रूप में सतसई में देखे जा सकते हैं। कवि ने रसाभिव्यक्ति के लिए रीति-शास्त्र में गिनाई हुई सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त सामग्री का भी समावेश किया है।

'सतसई' के दोहों में जहाँ कवि संयोग तथा वियोग पक्ष का निरूपण करता है, जहाँ अनुभूतियों तक ले जाने के लिए अप्रस्तुत विधान करता है अथवा अनुभाव विधान में जहाँ भाव के आश्रय की चेष्टायें तथा आलंबन की चेष्टाओं आदि के विंबों का प्रत्यक्षीकरण कराने का प्रयत्न करता है वहाँ लक्षणा-शक्ति के प्रयोगों को देखा जा सकता है। अलंकार तथा नायिका भेद लिखने का तो यह युग ही था। सतसई में रूपक, अतिशयोक्ति, परिकरांकुर, असंगति, अन्योक्ति, गूढ़ोक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों का एवं नायिकाओं के रूप, गुण, स्वभाव और भाव-भंगिमाओं का जहाँ निरूपण किया गया है वहाँ लक्षणा-शक्ति सर्वत्र अर्थ को गौरवान्वित करती है।

इस अध्याय में 'बिहारी सतसई' में आये हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोगों को दिया जा रहा है और यह दिखाने का प्रयास किया जा रहा है कि लक्षणा के विविध प्रयोगों द्वारा काव्य का अर्थ किस तरह गौरवान्वित हुआ है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"खरी पातरी कान की कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै अली-अली जिय जानि।।[2]

'खरी पातरी कान की' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है सुनते ही बिना सोचे विचारे विश्वास कर लेने वाली। मुहावरा अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है।

---

१. हि० सा० इति०, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २१७-२१८

२. बिहारी रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा—१४

"लौनैं मुँह दीठि न लगै यौं कहि दीनी ईठि।
दूनी है लागन लगी दियैं दिठौना दीठि ॥"[१]

'लौनैं' 'दीठि न लगै' और 'लागन लगी' लाक्षणिक पद हैं। दीठि न लगै मुहावरा है इसका लक्ष्यार्थ है—किसी की कुदृष्टि न लगै। यह अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ है। 'लौनें' शब्द का वाच्यार्थ नमकीन है पर इसका लक्ष्यार्थ सुन्दर ग्रहण किया गया है। इसी तरह 'लागन लगी' का लक्ष्यार्थ जमने लगी अथवा ठहरने लगी ग्रहण किया गया है। इन दोनों पदों का लक्ष्यार्थ कवि प्रौढ़ोक्ति के कारण रूढ़ हो गये हैं।

"सबही त्यों समुहाति छिनु चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यों ठहराति यह किबलनुमा लौं डीठि ॥"[२]

'चलति सबनु दै पीठि' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—लौटना।

"छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन की ब्यौंतु सुनि को, बलि तुम्हें पत्याइ।"[3]

'छ्वै छिगुनी पहुँचौ गिलत' और 'बलि बावन की ब्यौंतु' मुहावरे हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—थोड़ा अधिकार पाने पर सम्पूर्ण पर अधिकार पाने की चेष्टा करना तथा धोखा देना। बलि शब्द भी लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है धोखा खाने वाला कवि प्रयोग प्रसिद्धि से यह भी अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है।

"चित तरसत मिलत न बनत बसि परोस के बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास ॥"[४]

'छाती फाटी जाति' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अत्यधिक कष्ट होना।

"बिनु मधु मधुकर कैं हियैं गड़ै न, गुड़हर, फूल ॥"[५]

'हियैं गड़ै' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है हृदय में स्थान बनाना अथवा हृदय को विमुग्ध करना।

"सींचि गुलाब घरी घरी, अरी बरीहिं न बारि ॥"[६]

'बरीहिं न बारि' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है जो दुखी है उसे और दुखित न करो।

---

१. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं०, दोहा—२८
२. वही दोहा—३०
३. वही दोहा—१५९
४. वही दोहा—२६२
५. वही दोहा—२८२
६. वही दोहा—३०८

"भरि गुलाल की मूठि सों, गई सूठि सी मारि ।"[1]

'मूठि मारना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है जादू कर जाना या मार डालना। भाव ग्रहण है स्नेह में वशीभूत करना।

"अमित, अपार, अगाध-जलु मारौ मूड़ पयोधि ।।"[2]

'मारौ मूड़' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है व्यर्थ प्रयत्न करना अथवा पश्चाताप करना।

"रह्यौ ऐंचि, अन्तु न लहै अवधि-दुसासनु बीर ।
आली, बढ़तु विरह ज्यौं पंचाली कौ चीरु ।।"[3]

'पंचाली कौ चीरु' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है जिसका अन्त न हो। किन्तु यह लोकोक्ति अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गई है। इस तरह के प्रयोगों से भाव सहृदय के हृदय को बड़ी सरलता से स्पर्श कर लेते हैं।

"सुख मोटैं लूटी ललन—।"[4]

'सुख मोटैं लूटी' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है बहुत अधिक आनन्द प्राप्त करना। अपने लक्ष्यार्थ में ही यह रूढ़ हो गया है।

"दिन दस आदर पाय कै करि लै आपु बखान ।
जौ लौं काग सराध-पख तौ लौं तो सनमान ।।"[5]

'दिन दस' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्य है अल्पकाल।

"सुभर भरचौ तुव गुन-कननि पचयौं कपट कुचल ।
क्यौं धों दारचौ लौं हियो दरकत नाहिंन लाल ।।"[6]

'हियो दरकत' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है हृदय में दर्द पैदा होना।

"रहचौ राखि हठि लै गए हाथाह थी मनु हाथ ।"[7]

'हथाहथी मनु लै गए' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है-देखते-देखते स्नेह के वशीभूत कर गए।

---

१. बिहारी रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा—३५०
२. वही दोहा—३६७
३. वही दोहा—४००
४. वही दोहा—४२४
५. बिहारी' सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० दोहा-३००
६. वही दोहा—६७४
७. बिहारी-रत्नाकर सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा-५५०

"भले पधारे, पाहुने ह्वै गुड़हर को फूलु ।"[१]

'गुड़हर का फूल होना' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है कलह का कारण बन-कर आना ।

"मूड़ चढ़ाएँउ रहै परयौ पीठ कच भार ।
रहे गरें परि, राखियै तऊ हियें पर हार ।"[२]

'मूड़ चढ़ाएँ', 'परयो पीठि' गरें परि' और हिये पर मुहावरे हैं । इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः है-बल पूर्वक आक्रान्त करना, उपेक्षा कर देना, अनुनय पूर्वक संग लगना और प्रीति पूर्वक स्वीकार करना ।

"जब-जब वै सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाहिं ।
आंखिन आँखि लगी रहै, आंखै लागति नाहि ।"[३]

'आंखिन आंखि लगी रहै तथा आँखैं लागति नाहि मुहावरे हैं । इनका लक्ष्यार्थ है-नायक नायिका की आँखें एक दूसरे से मिलकर स्थिर हो गईं एवं नींद नहीं आती है । दोनों विरोधी मुहावरों को लेकर कथन में चमत्कार पैदा किया गया है ।

"दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गांठि दुरजन-हियें दई नई यह रीति ।।"[४]

"दृग उरझत,' 'टूटत कुटुम,' 'जुरत चतुर-चित प्रीति,' तथा परति गाँठि मुहावरे हैं । इनका लक्ष्यार्थ है-स्नेह होते ही, पिता के घर से लड़की पति के घर चली जाती है, पति-पत्नी में घनिष्ट स्नेह संबन्ध स्थापित हो जाता है और यह कार्य सूत्र-बंध से संपन्न होता है । इन मुहावरों द्वारा असंगति में चमत्कार पैदा किया गया है ।

शुद्धा लक्षण लक्षणा:—

"विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ।"[५]

'तृषा' लाक्षणिक पद है । तृषा का वाच्यार्थ प्यास है पर इस पद में कामना अथवा इच्छा लक्ष्यार्थ ग्रहीत है ।

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिजत, खिलत, लजयात ।
भरे भौन सें करत हैं नैननि ही सों बात ।।"[६]

'खिलत,' 'भरे भौन, और बात' लाक्षणिक पद हैं । इनका लक्ष्यार्थ है प्रसन्न

---

१. बिहारी, सं० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा ५६५
२. बिहारी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं०, दोहा ५२३
३. वही दोहा २१४
४. वही दोहा ३१९
५. बिहारी-रत्नाकर. सं० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' प्र० सं०, दोहा-२०
६. वही दोहा ३२

होना, घर में तमाम आदमियों का होना और सैन करना-अर्थात् संकेत द्वारा इशारा करना। खिलना पुष्प धर्म है और बात करना मुख का धर्म है पर यहाँ खिलना नायिका के लिए और बात करना नेत्रों के लिए कहा गया है। 'भरे भौन' में उपादान शुद्धा लक्षणा है।

"नेह न नैनन कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाइ॥"[1]

'तऊ न प्यास बुझाइ' लाक्षणिक पद है। न प्यास बुझाइ का लक्ष्यार्थ है दर्शन की अभिलाषा नहीं समाप्त होती है। इस पद में नीर भरे और प्यास बुझाइ का एक साथ प्रयोग करके वक्रोक्ति विधान किया गया है। इस तरह के विरोधाभास में ही चमत्कार है।

'गदराने तन गोरटी ऐपन-आड़ लिलार।"[2]

'गदराने' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्यार्थ है पकने पर आया हुआ। इसका लक्ष्यार्थ है युवावस्था को प्राप्त होने वाला।

"नारि सलोनी साँवरी नागिन लौं डसि जाइ।"[3]

'डसि जाइ' पद लाक्षणिक है। सर्पिणी तो डस सकती है पर नारी के पक्ष में डसना असंभव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है स्नेहासक्त करना।

"छुटे छुटावैं जगत तें सटकारे सुकुमार।
मन बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार॥"[4]

'बाँधत' पद लाक्षणिक है। मन कोई वस्तु तो है नहीं, जो बाँधा जा सके। इसलिए बाँधत का लक्ष्यार्थ है—वशीभूत होना। इसी तरह 'छुटावैं जगत तें' लाक्षणिक पद है। इसका वाच्यार्थ है संसार छुड़ा देना पर लक्ष्यार्थ है संसार से विमुख-कर अपनी ओर तीव्रावेग से आकर्षित करना। इस दोहे का अभिप्राय है कि नायिका के सटकारे सुकोमल बाल जैसे ही छूटे हुए दिखाई पड़ते हैं वैसे ही उनके सौन्दर्य का तीव्राकर्षण नायक को संसार से विमुख कर देता है। नीले सौन्दर्ययुक्त बालों को समेट जब नायिका बाँध लेती है और उस पर वेणी बाँधती है तो उसी बालों के झुरमुट में नायक का मन वशीभूत हो रम जाता है। इस तरह बाँधत और छुटावैं शब्दों को नया अर्थ देकर बदले हुए परिवेश प्रभविष्णु बना दिया है।

---

१. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० सं०, दोहा ३७
२. वही दोहा ९३
३. वही दोहा १९६
४. बिहारी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं०, दोहा २००

"मुह मिठास दृग चीकने भौंहैं सरल सुभाइ ।"[1]

'मिठास' और चीकने लाक्षणिक पद हैं। मिठास मिठाई का गुण है तथा चीकना होना वस्तु के पक्ष में उपयुक्त है पर इस पद में मुह के साथ मिठास एवं दृग के साथ चीकना का प्रयोग किया गया है। इनका लक्ष्यार्थ है विनम्रतापूर्ण वचन तथा स्नेह व्यक्त करने वाले।

"लगे दुहुन के इक बेर ही चल चित, नैन गुलाल।"[2]

'गुलाल' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्यार्थ लाल रंग है पर लक्ष्यार्थ है अनुराग। पूरे पद का अर्थ है—नायक और नायिका के एक साथ चित्त चलायमान हुए अर्थात् एक दूसरे का एक दूसरे के प्रति आकर्षण हुआ और स्नेह सिक्त नेत्र दोनों के मिले। इस कथन में गोपनीयता भी बनी रही तथा वचन भंगिमा में वैदग्ध भी आ गया।

"यह न कहूँ अब लौं सुनी मरि मारियै जु मीतु।"[3]

'मरि' तथा मारियै पद लाक्षणिक हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—दुखी होना और दुख देना। सम्पूर्ण पद उपालंभ का है जिसमें कहा गया है कि ऐसे मित्र के सम्बन्ध में अब तक नहीं सुना गया है जो स्वयं दुखी होकर अपने मित्र को दुखी बनाता है।

"फूली फाली फूल सी फिरति जु विमल विकास।
भोरतरैयाँ होहु ते चलत तोहिं पिय पास।"[4]

'भोरतरैयाँ' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रभाहीन होना।

'सुभर भरयौ तुव गुन-कननि पचयौ कपट कुचाल।"[5]

'गुन' पद लाक्षणिक है। गुन का विपरीत भाव से इस पद में लक्ष्यार्थ अवगुण है।

"करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफरत करत खूँद सी नैन।।"[6]

'खूँद' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्यार्थ है पैर से भूमि खोदना। खूँद का प्रयोग घोड़े के लिए किया जाता है। इस पद में खूँद का प्रयोग नेत्रों के लिए किया गया है। इसका लक्ष्यार्थ है—नायिका के नेत्र लज्जावश झुके तो हैं पर नायक को

---

१. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० सं० दोहा ३२३
२. वही दोहा ३५२
३. वही दोहा ३७०
४. वही दोहा ४५८
५. बिहारी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं०, दोहा ६७४
६. वही दोहा ८०

देखने के लिए कनखियों से हर सम्भव उपाय कर रहे हैं। कवि मध्या नायिका के नेत्रों का बिंब इस पद में प्रस्तुत किया है।

"भौंहनि त्रासति, मुँह नटति, आँखिन सो लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति कर, इँची आगें आवत जात।।"[१]

'लपटाति' लाक्षणिक पद है। लपटाति का वाच्यार्थ लिपटना, आलिंगन करना है पर इस पद का इस दोहे में नेत्रों के पक्ष में प्रयोग किया गया है। नेत्र लिपटने में असमर्थ हैं इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है नेत्र में स्नेह का भाव छलक रहा है। इस सम्पूर्ण दोहे में नायिका की चेष्टाओं का वर्णन है। इस तरह 'लपटाति' पद से नए अर्थ की योजना कवि को अभिप्रेत है।

सारोपा गौणी लक्षणा:--

"डारे ठोढ़ी-गाड़ गहि नैन-बटोही मारि।
चिलक-चौंध में रूप-ठग हाँसी-फाँसी डारि।।"[२]

'ठोढ़ी-गाड़', 'नैन-बटोही', 'रूप-ट्ग' और हाँसी-फाँसी लाक्षणिक पद हैं। ठोढ़ी, नैन, रूप एवं हाँसी उपमेय हैं। गाड़, बटोही, ठग तथा फाँसी उपमान हैं। इन पदों का आधार सादृश्य और धर्म साम्य है। इस तरह उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके अर्थ वैशिष्ट्य उत्पन्न किया गया है। इस तरह के कथन से बिंब गोचर हो गया है और संवेदन संकेतित सौंदर्य को नया आयाम मिल गया है।

"सनि-कज्जल चख-झख-लगन, उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेश सब देहु।।"[३]

चख-झख लाक्षणिक पद है। 'चख' उपमेय है और झख उपमान है। आधार सादृश्य है। इस तरह उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके कवि वस्तु को गोचर बनाया है तथा लौकिक सौंदर्य का आलौकिक विधान किया है।

"ज्यौं-ज्यौं जोबन-जेठ दिन-कुच मिति अति अधिकाति।
त्यौं-त्यौं छिन-छिन कटि-छपा छीन परति नित जाति।।"[४]

'जोबन-जेठ' और कटि-छपा लाक्षणिक पद है। जोबन तथा कटि उपमेय हैं। जेठ और छपाकर उपमान हैं। इनका आधार साधर्म्य है। इस तरह वस्तु को गोचर कराने के लिए कवि ने उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप किया है।

"दृग-खंजन गहि लै चल्यौ चितवनि-चैंपु लगाइ।"[५]

---

१. बिहारी, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं०, दोहा ४९५
२. वही दोहा २५५
३. वही दोहा ६४८
४. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्र० सं० दोहा ११३
५. वही दोहा १४७

'दृग-खंजन' तथा 'चितवनि चैंपु' लाक्षणिक पद हैं। दृग और चितवनि उपमेय हैं। खंजन एवं चैंपु उपमान हैं। इनका आधार रूप साम्य एवं साधर्म्य हैं। दृग पर खंजन के सौंदर्य का पूर्णारोप करके तथा चितवनि पर चैंपु के चिपकने के गुण का आरोप करके कवि ने बिंब को स्पष्ट किया है और इस तरह वस्तु को संवेदनीय बनाया है।

"बाला-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख-घाम।
फेरि डहडही कीजिए सुरस सींचि घनश्याम॥"[1]

'बाला-बेलि' और 'रूखी रुख-घाम' लाक्षणिक पद हैं। बाला तथा रूखी रुख उपमेय है। बेलि एवं घाम उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

"नव नागरितन-मुकुल लहि जोबन-आमिर जोर।"[2]

'तन-मुलुक' और 'जोबन-आमिर' लाक्षणिक पद हैं। तन तथा जोवन उपमेय हैं। मुलुक एवं आमिर उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इस तरह उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को गोचर बनाया है।

"सब अँग करि राखी सुँघर नाइक-नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी-पातुर राय।।"[3]

'नाइक नेह' तथा 'पुतरी-पातुर' लाक्षणिक पद हैं। नाइक एवं पुतरी उपमेय हैं। नेह तथा पातुर उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके वस्तु को गोचर बनाया गया है।

"बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ।"[4]

'संपति-सलिलु' तथा 'मन-सरोज' लाक्षणिक पद हैं। संपति तथा मन उपमेय और सलिलु एवं सरोज उपमान हैं। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को स्पष्ट किया गया है।

"ए तेरे सब तैं विषम ईछन-तीछन बान।[5]

'ईछत तीछन वान' लाक्षणिक पद है। ईछन (कटाक्ष) उपमेय और तीछन वान उपमान है। आधार गुण साम्य है। इस तरह नेत्र के बिंब को गोचर किया गया है।

---

१. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं०, दोहा २१६
२. वही दोहा २२०
३. वही दोहा २८४
४. वही दोहा ३३१
५. वही दोहा ३४६

"अलि इन लोइन-सरनु कौ खरौ विषम संचार।"[१]

'लोइन-सरनु' लाक्षणिक पद है। लोइन (नेत्र) उपमेय और सरनु उपमान है। आधार सादृश्य है। नेत्रों पर वाण की तीव्रता एवं विषमता का आरोप करके कवि ने बिंब को प्रभविष्णु बनाया है।

"अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख चन्द।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनन्द॥"[२]

'दृग खंजन', मुख चन्द' और सुन्दरि सरद लाक्षणिक पद हैं। दृग, मुख तथा सुन्दरि उपमेय एवं खंजन चन्द और सरद उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने वस्तु को संवेदनीय एवं गोचर बनाने के लिए इन पदों में बिंब विधान किया है।

"लाज-लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँह जोर तुरंग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥"[३]

'लाज-लगाम' लाक्षणिक पद है। लाज उपमेय और लगाम उपमान है। इनका आधार गुण साम्य है। लाज पर लगाम का आरोप करके कवि ने लाज के धर्म का बिंब संवेदनीय बनाया है।

"रूप-सुधा-आसव छक्यौ आसन पियत बनै न।
प्यालै ओठ प्रिया-बदन रह्यौ लगाएँ नैन॥"[४]

'रूप-सुधा-आसव' लाक्षणिक पद है। रूप सुधा उपमेय और आसव उपमान है आधार सादृश्य है इस तरह उपमेय पर उपमान की मादकता का आरोप करके कवि ने बिंब को प्रभावशाली बनाया है।

"चुनरी श्याम सतार नभ मुख ससि की उनहारि।
नेह दबावत नींद लौं निरखि निसा सी नारि॥[५]

'चुनरी स्याम सतार नभ' तथा मुख ससि', लाक्षणिक हैं। चुनरी एवं मुख उपमेय हैं। स्याम सतार नभ और ससि उपमान हैं। कवि ने उपमानों का उपमेय पर आरोप करके भाव बिंबों को गोचर करके संवेदना उत्पन्न किया है।

'खौरि-पनिच, भृकुटी-धनुष, बधिक-समर तजि कान।
हनत तरुन-मृग, तिलक-सर, सुरक-भाल भरि तानि॥"[६]

---

१. बिहारी सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० दोहा २४
२. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा ४८७
३. बिहारी सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० दोहा ६१३
४. वही तृ० सं० दोहा ५८६
५. वही तृ० सं० दोहा १८४
६. वही तृ० सं० दोहा १३५

'खौरि-पनिच', 'भृकुटी-धनुष', 'तिलक-सर' और तरुण-मृग लाक्षणिक पद हैं। खौरि भृकुटी, तिलक तथा तरुन, उपमेय एवं पनिच; धनुष, सर और मृग उपमान हैं। इस तरह कवि ने उपमेयों पर उपमानों का आरोप करके बिंब को स्पष्ट कर संवेदनीय बनाया है।

"कौड़ा आँसू बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूँद, दृग-मलंग डारे रहत॥"[1]

दृग-मलंग लाक्षणिक पद हैं। इसमें दृग उपमेय और मलंग उपमान हैं। इस तरह कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके नेत्रों को योगी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :-

"हाहा बदन उघारि दृग सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन कें परै हँसी ससी की होय॥"[2]

'सरोजन' तथा 'ससी' पद लाक्षणिक हैं। ये क्रमशः उपमान हैं नेत्र एवं मुख के कवि का कथन संकेतित है। इस तरह से सौन्दर्य को एक नया आयाम प्राप्त हो गया है।

"कहि लहि कौन सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुबास बन देती जौ न बताइ॥"[3]

'सौनजाइ' लाक्षणिक पद है। सादृश्य के आधार पर इसका लक्ष्यार्थ है गौर वर्णीय-यौवन गन्ध से युक्त नायिका इस तरह कवि ने उपमान के माध्यम से बिंब को सापेक्ष्य और संवेदनीय बनाया है।

"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा देखि बिहंग विचारि।
बाज पराएँ पानि परि तूँ पच्छीन न मारि॥"[4]

'बाज' तथा 'पच्छीन' लाक्षणिक पद हैं। बाज का लक्ष्यार्थ है समर्थ सेनानी एवं पच्छीन का लक्ष्यार्थ है सजातीय। इस तरह बाज और पच्छीन उपमान हैं। कथ्य संकेतित है और उपमानों के सहारे बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"रनित भृंग-घटावली झरित दान मधुनीर।
मन्द-मन्द आवतु चल्यौ कुंजरु कुंज समीर॥"[5]

---

१. बिहारी सं० बिश्वनाथ प्रसाद मिश्र तृ० सं० दोहा १२१
२. वही तृ० सं०, दोहा ७००२
३. बिहारी रत्नाकर, सं जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं, दोहा १३३
४. बिहारी सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, तृ० सं० दोहा ६८९
५. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं०, दोहा ३८८

इस संपूर्ण दोहे में वसन्त की वायु और हाथी के आगमन की तुलनात्मक बात कही गई है पर वसन्त का नाम नहीं लिया गया है। इस पद में वसन्त आगमन ही व्यंग है।

"को छूट्यौ इहिं जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत त्यौं त्यौं उरझत जात।।"[1]

'कुरंग' पद लाक्षणिक है। कुरंग उपमान है मन का इसका आधार गुण साम्य है। कवि ने मन की सांसारिक उलझनों में फँसे रहने की स्थिति को कुरङ्ग उपमान के माध्यम से विवित किया है। इस तरह भाव गोचर भी हो जाता है साथ ही कथ्य संवेदनीय भी हो गया है।

निष्कर्ष—

'बिहारी सतसई' की भाषा बड़ी मँजी हुई, कसी हुई, व्याकरण सम्मत और चुस्त है। भाषा मँजी तथा चुस्त होने के कारण उसमें मुहावरे और लोकोक्तियों का स्वाभाविक प्रयोग होना अभिव्यंजना की दक्षता है। अभिव्यंजन के इस कौशल के कारण मुहावरे और लोकोक्तियाँ अपने चमत्कार युक्त लाक्षणिक स्वरूप में ही रूढ़ होती जा रही हैं और धीरे-धीरे-अभिधा-शक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करती जा रही हैं। प्रारंभ में इनके प्रयोग के साथ जो 'प्रयोजन' था वह इनका साथ छोड़ चुका है। इसीलिए अब ये निरूढ़ा के क्षेत्र में प्रवेश कर गई हैं। बहुत से इनकी बिरादरी के बन्धु बान्धव अभिधा के क्षेत्र में पहुँच चुके हैं और कालान्तर में ये भी पहुँचने वाले हैं। समस्त सृष्टि ही परिवर्तनशील है, फिर शब्द सृष्टि ही क्यों न परिवर्तशील हो?

निरूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत जिन मुहावरों के उदाहरणों को उद्धृत किया गया है वे उपर्युक्त कथन के अनुसार हैं जैसे:—'खरी पातरी कान की तथा छै छिगुनी पहुँचो गिलत आदि मुहावरों का प्रयोजन नष्ट हो गया है क्योंकि इनके सुनते ही इनका लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ के रूप में आ उपस्थित होता है। विद्वान श्रोता अथवा पाठक तो इनके मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अन्तर अवश्य बनाए हुए हैं पर साधारण पाठक अथवा श्रोता इनके लक्ष्यार्थ को ही मुख्यार्थ के रूप में ग्रहण करता है।

निरूढ़ा लक्षणा के क्षेत्र में ही कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध शब्द भी आते हैं। इस तरह भाषा के क्षेत्र में लक्षणा शक्ति सदैव नए अर्थों की खोज करती रहती है और भाषा की परिवर्तनशील प्रकृति के कारण ऐसे लाक्षणिक शब्द कालान्तर में प्रयोजन त्यागकर रूढ़ तथा अभिधेय होते रहते हैं।

लोकोक्तियाँ अपने साथ एक पूरी कथा लिए हुए होती हैं। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि एक कथा काल प्रवाह में घिसते-घिसते अपने सूक्ष्म रूप में हमारे

---

१. बिहारी-रत्नाकर, सं० जगन्नथदास 'रत्नाकर' प्र० सं० दोहा ६७१

समक्ष रह गई हैं। किन्तु ये कथाएँ जन साधारण के मस्तिष्क की विचार सरणि में इस तरह घुल मिल गई हैं कि उनका लक्ष्यार्थ ही आज हमारे सामने उपस्थित होता है जैसे 'गुड़हर का फूल होकर आ गए हों', 'एवं पंचाली का चीर होना। इनके सुनते या पढ़ते ही लड़ाई-झगड़ा होना और बढ़ना ही अर्थ सामने आता है। बलि बवन की ब्योंतु कहते ही छल-कपट की बात सामने आती है। प्राचीन लाक्षणिक कहानियों का जो रूप आज सुरक्षित है उन्हें देखकर यही प्रतीत होता है कि ये लोकोक्तियाँ भी कभी इसी कोटि की थीं। काव्य रचनाकार ने एक दिन 'प्रयोजन'से ओत-प्रोत हो उन-कथाओं की अर्गला खटखटाई होगी। आज वे ही अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ हो गई हैं। इसी तरह से निरन्तर लक्षणा अर्थ के नए क्षेत्र का शोध करती है और उन्हें लोक प्रसिद्ध बनाकर अभिधा का शब्द भंडार भरती रहती है।

शुद्धा उपादान लक्षणा का प्रयोग बिहारी-सतसई में प्रायः नहीं के बराबर है। इसका कारण यह है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का इसमें घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अर्थ में प्रयोजन तथा चमत्कार निहित रहने पर भी काव्य की रमणीयता में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है। जब हम कहते हैं कि 'भाले जा रहे हैं।" तब इस कथन के साथ हमारे मन में जड़ यंत्र और ले जाने वालों की स्थिति स्पष्ट रहती है। वास्तविकता यह है कि जिस शब्द का हम प्रयोग करते हैं,उसका अंशतः आधार भाव और अंशतः सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्व होते हैं। रीति-कालीन काव्य विशेष रूप से चमत्कार को तथा दूर की कौड़ी लाने को अधिक आश्रय देता था। इसी कारण उपादान शुद्धा लक्षणा को इसमें अधिक अवकाश नहीं मिल सका।

शुद्धा लक्षण लक्षणा के प्रयोग 'सतसई' में पर्याप्त मात्रा में हुए हैं। इस तरह के प्रयोगों में वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का संबन्ध-दूर का होता है। लक्षण-लक्षणा के क्षेत्र में नए अर्थ की खोज निरंतर चलती रहती है। इस विभिन्न भावों का आरोप विभिन्न परिस्थितियों, वस्तुओं, चेष्टाओं तथा अवस्थाओं पर होता रहता है। जब कवि 'तृषा' का प्रयोग दर्शन के लिए करता है तो तृषा की वेदना, चाह, आकर्षण, अनिवार्यता और उसके तीव्रावेग का एक साथ अर्थारोप करता है। इस तरह तृषा जन्य समस्त भाव अर्थ की रमणीयता और चमत्कार की अभिवृद्धि करने लगते हैं उदाहरण के लिये 'गदराने', 'डसि जाइ'बाँधत आदि के प्रयोग ऐसे ही हैं। 'गदराना' शब्द फसल की बाली अथवा फल के लिए-प्रयुक्त होता है, डसना साँप का धर्म है, तथा बँधना किसी स्थूल वस्तु का संभव है पर कवि नारी की युवावस्था का संकेत गदराने से उसकी विरह वेदना की पीड़ा का संकेत डसने से एवं मन को नियंत्रित करने के लिए बाँधने शब्द का प्रयोग करता है। लक्षणा के कारण यहाँ इन शब्दों को नया अर्थ विस्तार मिला है। इस तरह के प्रयोग सतसई में स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं।

'सतसई' का विषय नारी के नख-शिख वर्णन तथा उसकी विविध चेष्टाओं से

संबन्धित है। काव्य के माध्यम से नारी के रूप, गुण, भाव, चेष्टा एवं अवस्था का बिंब प्रस्तुत करना ही कवि का विशेष लक्ष्य था। अति विरल यद्यपि इस प्रकार की अर्थ योजना द्वारा कार्य कारणादि आधाराधेय बिंबों की सुन्दर योजना संभव थी, किन्तु कवि का इस ओर विशेष आकर्षण नहीं था।

गौणी सारोप एवं गौणी साध्यावसाना का प्रयोग बिहारी सतसई' में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि इनकी भित्ति सादृश्य पर आधारित है और कवि को नारी के रूप, अवस्था, चेष्टा आदि भावों को संवेदनशील एवं अनुभूति गम्य बनाने के लिए सादृश्य के आधार पर अप्रस्तुत विधान करना आवश्यक था। रीति-काल में अलंकरण की प्रवृत्ति भी अधिक थी इसीलिए तो बिहारी के एक-एक दोहे में अनेकों अलंकार उलझे पड़े हैं। इन अलंकारों के विधान में रूपक, परिकरांकुर, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि मूल में लक्षणा शक्ति व्याप्त रहती है। इसी तरह उस काल में नायिका भेद का विशेष प्रचलन होने के कारण बिहारी के दोहों में अनेक प्रकार की नायिकाओं की झाँकियाँ देखी जा सकती हैं। इन्हीं प्रसंगों में लक्षणा के प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। इन प्रयोगों से अर्थ की संवेदनीयता में वृद्धि हुई है। उपमेय और उपमान के माध्यम से बिंब में अलौकिकता उत्पन्न की गई है तथा अनुभूतियों को तीव्रावेग के साथ विस्तार मिला है। इस तरह के प्रयोगों से काव्य की रमणीयता एवं चमत्कार में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है।

रीति सिद्ध कवि बिहारी ने रीति सम सामयिक रूढ़ियों को अनावश्यक रूप से कहीं भी स्वीकार नहीं किया है फिर भी उन पर परम्परागत रूढ़ियों का प्रभाव तो था ही। इसी कारण 'सतसई' में ऐसे उदाहदण भी मिल जाते हैं—

"बुधि अनुमान प्रमान स्रुति किए नीठि ठहराय।
सूछम कटि पर ब्रह्म की, अलख लखी नहिं जाय॥"[१]

इस दोहे में कटि की सूक्ष्मता का बोध कराने के लिए ब्रह्म की निराकारता का सहारा लिया गया है। इससे सूक्ष्मता का बोध तो अवश्य हो जाता है पर काव्य के सौन्दर्य में कोई अभिवृद्धि नहीं होती है। इसी तरह का एक दूसरा सोरठा देखिए जिसमें कवि नेत्रों को मलंग (मुस्लिम फकीर) कहता है।

"कौड़ा आँसू बूँद, कसि साँकर बरुनी सजल।
कीने बदन निमूँद, दृग मलंग डारे रहत॥"[२]

इस सोरठे में नेत्र के योगी रूप का बिंब अवश्य सापेक्ष्य हो जाता है, पर

---

१. बिहारी, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, तृ० सं० दोहा ४७५
२. वही दोहा १२१

इससे काव्य के सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होती है। इस तरह के प्रयोगों से अर्थ की रमणीयता की अभिवृद्धि नहीं होती है। यद्यपि ऐसे उदाहरण बिहारी में बहुत थोड़े पाए जाते हैं।

'मतिराम'

रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल मतिराम में भी अलंकरण की प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। इनकी अलंकार योजना बड़ी स्पष्ट और स्वच्छ है। अलंकार योजना का उद्देश्य भाव और वस्तु को अधिक प्रेषणीय और गोचर-प्रत्यक्षीकरण के उपयुक्त बनाना है। अनुभूतियों को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए चित्रों की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी ही आवश्यकता चित्रों को रूप-रंग देने के लिए अलंकार की होती है। सौन्दर्य की आधारशिला रूप, रङ्ग, क्रिया, गुण एवं भाव होते हैं।

साम्य-मूलक अलंकार के अन्तर्गत जो सामान्य विषय गृहीत होते हैं उन्हें अप्रस्तुत कहा जाता है। अप्रस्तुत के ग्रहण का मूल उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया और भाव को स्पष्ट करना है। इनका चयन प्रकृति एवं उससे इतर जगत से किया जाता है। कवि सादृश्य, आरोप, संभावना आदि के प्रयोगों द्वारा मुख्य विषय की अनुभूति को जितना ही तीव्र बना सकता है उतनी ही उसकी कला निखर पड़ती है। मतिराम ने अप्रस्तुत योजना प्रकृति और लोक दोनों से की है। रूप सौन्दर्य चित्रण का विषय होने के कारण प्रकृति की स्थिति उद्दीपन तथा अप्रस्तुत रूप में ही ग्रहण की गई है। उद्दीपन के अतिरिक्त आलम्बन आदि प्रकार से भी प्रकृति का उपादान इनके काव्य में मिलता है। प्रकृति से ग्रहण किए गए परम्परागत उपमानों को मतिराम ने नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी तरह लोक से ग्रहण किए गए अप्रस्तुत भी उनके अपने हैं। दोनों प्रकार के अप्रस्तुत उपमान लक्षणा शक्ति पर आधृत होने के कारण मुख्य विषय के रूप, गुण, क्रिया एवं भावों की अनुभूति कराने में बड़े सशक्त हैं।

मतिराम ने अलंकारों के लक्षण और उदाहरण वाले ग्रन्थ भी लिखे हैं, साम्य-मूलक अलंकार इन्हें बहुत रुचते थे, इसलिए इनके विवेचन में इनकी प्रवृत्ति अधिक रमी है। उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षा उनकी, रचनाओं के अभिन्न अंग हैं। इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने मूर्त, अमूर्त सभी प्रकार के अप्रस्तुतों को जुटाने का प्रयास किया है। डा० महेन्द्रकुमार, 'मतिराम' कवि और आचार्य' में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं—"कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकारों के लक्षण उदाहरण लिखने के नाते यों तो मतिराम ने किसी भी अलंकार को अपनी रचनाओं में बिना उपयोग के छोड़ा नहीं, पर जहाँ तक उनके प्रिय अलंकारों का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह कहा सकता है कि सामान्यतः साम्य और औचित्य की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति रही है।"[1]

---

१. मतिराम कवि और आचार्य, डॉ० महेन्द्रकुमार, पृ० २०२

वाच्यार्थ रमणीयता के कारण रसास्वाद में सहायक होते हैं, किन्तु रस की आस्वादनीयता की वृद्धि के लिए वाच्यार्थ को सूक्ष्मता प्रदान की जाती है। अर्थगत सूक्ष्मता लक्षणा और व्यंजना शक्तियों के प्रयोग से ही आती है। अभिधा काव्य-विषय को ग्रहण कराके दूर हट जाती है, जबकि लक्षणा उसके मूर्तरूप की अपेक्षा उसके गुणों के निकट ले जाती है और व्यंजना से इन गुणों के अन्तः क्षेत्र की झलक मिल जाती है। मतिराम ने इन तीनों शक्तियों के प्रयोग में सिद्ध हस्तता दिखाई है। लक्षणा के प्रयोग अलंकारिक हैं एवं अनुभूति को स्पष्टता प्रदान करते हैं।

यहाँ 'मतिराम सतसई में आए हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोग, जिनसे काव्य का अर्थ चमत्कृत हुआ है, उदाहरण स्वरूप दिए जा रहे हैं—

निरूढ़ा लक्षणा—

"राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह।।"[१]

'परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिन खेह' मुहावरा है। दस हजार मुट्ठी धूल आँख में पड़ना तो असंभव ही है। इसका लक्ष्यार्थ है आँखों में देखने की शक्ति न रह जाए। इस मुहावरे में लक्ष्यार्थ ही परम्परा से रूढ़ हो गया है।

"नींद, भूख अरु प्यास तजि करती हो तन राख।
जलसाई बिन पूजिहैं क्यों मन के अभिलाख।।"[२]

'करती हो तन राख' लाक्षणिक पद है। इसका वाच्यार्थ है शरीर को राख करती हो। शरीर का राख होना तो तभी सम्भव है जब मृत्यु के पश्चात् चिता पर जला दिया जाए, किन्तु इसका लक्ष्यार्थ है कि शरीर को क्यों क्षीण बनाती हो। अपने लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"सूखी सुता पटेल की सूखी ऊखनि देखि।
अब फूली फूली फिरै फूली आहरि देखि।।"[3]

'फूली-फूली फिर' लाक्षणिक पद है। फूलना पुष्प धर्म है, पर इस पद में नारी के पक्ष में कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रमुदित होकर प्रसन्नता व्यक्त करना। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

'सब सिंगार सुन्दरि सजैं बैठी सेज बिछाइ।
भयौ द्रौपदी को बसन, बासर नहिंन बिहाइ।।"[४]

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई, सं० डॉ० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं०, दोहा ४
२. वही दोहा २२
३. वही दोहा ६७
४. वही दोहा २७३

'भयौ द्रोपदी को बसन' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है वृद्धि को प्राप्त हो गया है अर्थात् जिसका अन्त ही नहीं होता है। इसी लक्ष्यार्थ में यह लोकोक्ति रूढ़ हो गई है।

"तरु ह्वै रह्यो करार को, अब करि कहा करार।
उर धरि नन्दकुमार कौ, चरन कमल सुकुमार॥"[1]

'तरु ह्वै रह्यौ करार को' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है कि अगले क्षण सत्ता समाप्त होने वाली है। यह मुहावरा अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है। वाच्यार्थ पर इसके अब श्रोता अथवा पाठक का ध्यान नहीं जाता है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा:—

"सूखति है वह सुन्दरी कनक वेलि अभिराम।
वाकी तपनि मिटै, जु रस बरसो घन घनश्याम॥"[2]

'सूखति है' और 'रस बरसो' पद लाक्षणिक हैं। सूखना पेड़, पौधों तथा वनस्पतियों का संभव है सुन्दरि का नहीं। इसका लक्ष्यार्थ है—क्षीण होना और इसी प्रकार रस बरसो का लक्ष्यार्थ है दर्शन दो। इस तरह लक्षणा ने शब्दों को अर्थ का नया आयाम देकर गौरवान्वित कर दिया है। पद का भावार्थ यह हो गया है कि सुन्दरि क्षीण होती जा रही है अतः घनश्याम दर्शन देकर विरह वेदना से मुक्त करो।

"नारि नैन के नीर को नीरधि बढ़ै अपार।
जारे जौन वियोग की बड़वानल की झार॥"[3]

'नीरधि बढ़ै अपार' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है विरहिनी ने अत्यधिक रुदन किया। इस तरह के कथन द्वारा कवि प्रतिभा शब्दों में नए अर्थ का विधान करके लक्षणा के क्षेत्र को विस्तृत करता है।

"ग्रीषम हूँ रितु मैं भरो दुहूँ कूल पैराउ।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गाँउ॥"[4]

'खारे जल' पद लाक्षणिक है। इसका वाच्यार्थ है खारा जल पर लक्ष्यार्थ है आँसू अर्थात् निरन्तर आँसुओं की वर्षा होती रहती है। इसी 'ग्रीषम रितु' भी लाक्षणिक पद है। इसका वाच्यार्थ गर्मी का मौसम है पर लक्ष्यार्थ है विरहावस्था। इस

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई, सं० डॉ० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं० दोहा ३४२
२. वही दोहा २८
३. वही दोहा ३९
४. वही दोहा ६१

तरह मौसम और नदी की बात प्रत्यक्ष में कवि करता है पर परोक्ष रूप से विरहावस्था में वियोगिनी की अवस्था का बिंब प्रस्तुत करता है ।

"कोटि-कोटि मतिराम कहि जतन करो सब कोइ ।
फाटे मन अरु दूध मैं नेह न कबहूँ होइ ।।"[१]

'फाटे' और 'नेह' पद लाक्षणिक हैं । वस्त्रादि के पक्ष में फाटना तो सम्भव है पर मन के पक्ष में नहीं । इसका लक्ष्यार्थ है अप्रसन्नता अथवा रुष्टता । नेह मन के पक्ष में तो उचित है पर दूध के पक्ष में सम्भव नहीं है । अतः इसका लक्ष्यार्थ घृत है ।

' मो मन तम-तोमहि हरौ राधा को मुखचंद ।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंद नंदन आनन्द ।।"[२]

'तम-तोमहि' पद लाक्षणिक है । इसका वाच्यार्थ अन्धकार है पर लक्ष्यार्थ अज्ञान तथा बुराइयाँ हैं । अपने लक्ष्यार्थ में ही यह पद इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि अब यह कवि प्रयोग प्रसिद्धि के कारण निरूढ़ा के क्षेत्र में जा पहुँचा है ।

गौणी सारोपा लक्षणा—

"मो मन तम-तोमहि हरौ राधा को मुखचंद ।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नंद नंदन आनन्द ।।"[3]

'मुखचंद' पद लाक्षणिक है । मुख उपमेय और चंद उपमान है । इनका आधार सादृश्य है । कवि ने उपमेय पर उपमान की विशेषताओं का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है । इस तरह समस्त पद का भावार्थ यह हुआ कि जिस राधा के मुखचंद के दर्शन से श्रीकृष्ण का आनन्दित हृदय सागर की तरह लहराने लगता है, वही मुख मुझे भी दर्शन देकर मेरे अन्तर की मलिनताओं तथा अन्धकार को दूर कर, आनन्द का संचार करे ।'

"नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर ।
जैसे करत गँवारि के दृग-धनुहीं के तीर ।।"[४]

"नैन कमान सर' तथा 'दृग धनुहीं के तीर' लाक्षणिक पद हैं । इनमें 'नैन' और 'दृग' उपमेय हैं । 'कमान सर' एवं 'धनुही के तीर' उपमान हैं । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके नेत्रों के प्रभाव के बिंब को संवेदनीय बनाया है । इसका आधार गुण साम्य है ।

---

१. महाकवि मतिराम परिशिष्ट, मतिराम सतसई सं० डॉ० त्रिभुवनसिंह प्र० स० दोहा ७०
२. वही दोहा १
३. वही दोहा १
४. वही दोहा ५

"पानिप मैं घर मीन को कहत सकल संसार।
दृग मीनन को देखियत पानिप पारावार॥"[1]

'दृग मीनन' तथा 'पानिप पारावार' लाक्षणिक पद हैं। दृग एवं पानिप उपमेय और मीनन तथा पारावार उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। दृग पर मीन का आरोप करके सौन्दर्य एवं चंचलता को संवेदनीय बनाया है। इसी प्रकार पानिप पर पारावार का आरोप करके सौन्दर्य की व्यापकता का बिंब को गोचर कराया है।

"सूखति है वह सुन्दरी कनक बेलि अभिराम।
वाकी तपनि मिटै, जु रस बरसो घन घनश्याम॥[2]

'सुन्दरी कनक बेलि' लाक्षणिक पद है। इसमें सुन्दरी उपमेय है और कनक बेलि उपमान है। आधार सादृश्य है। सुन्दरी पर कनक बेलि के रंग सौन्दर्य तथा नाजुकता का आरोप किया गया है। इस तरह कवि ने लौकिक चित्रों को अलौकिकता प्रदान की है।

"खेलत मार सिकार है डोरे पास समेत।
नैन मृगन सों बांधि कै नैन मृगन गहि लेत॥"[3]

'नैन मृगन' पद लाक्षणिक है। नैन उपमेय और मृगन उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। नैन पर मृग का आरोप करके मृग नेत्र का सौन्दर्य और उसके निरीह शिकार बनने के गुण का आरोप किया गया है। इस तरह स्नेह की स्थिति का सुन्दर बिंब कवि ने संवेदनीय बनाया है।

"पानिप पूर पयोधि में रूप जाल बगराइ।
नैन मीन ए नागरनि बरबट बाँधत आइ॥"[4]

'पानिप पूर पयोधि', 'रूप जाल', 'नैन मीन' और बरबट लाक्षणिक पद हैं। पानिप, रूप, नैन तथा बर उपमेय है एवं पयोधि, जाल, मीन और बट उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने पानिप की अगाधता, रूपाकर्षण तथा उसमें नेत्रों के फँसने की स्थिति का बिंब संवेदनीय बनाता है और बर पर बट का आरोप करके दाम्पत्य जीवन की अविछिन्नता का संकेत कवि करता है। इस तरह इन बिंबों के द्वारा सम्पूर्ण भाव सहृदय के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई सं० डॉ० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं० दोहा १७
२. वही दोहा २८
३. वही दोहा ३३
४. वही दोहा ७२

"क्यों न फिरै सब जगत में करत दिगबिजै मार ।
जाके दृग सावंत सर कुबलय जीतनवार ।।"[१]

'दृग सावंत सर' लाक्षणिक पद है । इसमें दृग उपमेय और सावंत सर उपमान हैं । इसका आधार सादृश्य है । इस तरह कवि ने नेत्र के सौन्दर्य के प्रभाव को संवेदनीय बनाया है ।

"जोबन मद गज मंद गति चली बाल पति गेह ।
पगनि लाज आँदू परी, चढ़्यौ महावत नेह ।।"[२]

'जोबन मद' तथा 'लाज आँदू' पद लाक्षणिक हैं । इन पदों में उपमेय और उपमान दोनों हैं । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंबों को गोचर एवं संवेदनीय बनाया है ।

"चढ़ै उरोज पहार ए, उर उनके अठिलाहिं ।
तो तन नित लाली चढ़ै, ललित लाल पियराहिं ।।"[३]

'उरोज पहार' लाक्षणिक पद है । उरोज पर 'पहार' की ऊँचाई का आरोप करके बिंब को गोचर किया गया है । इसका आधार सादृश्य है ।

"मेरे दृग बारिद वृथा बसत बारि प्रवाह ।
उठत न श्रंकुर नेह को तो उर ऊसर माँह ।।"[४]

'दृग बारिद' तथा उर ऊसर पद लाक्षणिक हैं । इनमें दृग और उर उपमेय तथा बारिद एवं ऊसर उपमान है । उपमेय पर उपमानों के गुण विशेष का आरोप करके भाव को गोचर बनाया गया है । इनका आधार गुण साम्य है ।

"राधा चरन सरोज नख इन्द्र किए ब्रजचन्द ।
मोर मुकुट,चन्द्रकनि तू चख चकोर आनन्द ।।"[५]

'चरन सरोज', 'नख इन्द्र' तथा 'चख चकोर' लाक्षणिक पद हैं । चरन, नख एवं चख उपमेय और सरोज, इन्द्र तथा चकोर उपमान हैं । चरन पर सरोज के सौन्दर्य का, नख पर इन्द्र की कांति का और चक्षुओं पर चकोर की स्नेह निष्ठा का आरोप करके कवि ने बिंब को गोचर कराया है ।

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई, सं० डा० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं० दो० २३८
२. वही दोहा २७७
३. वही दोहा ३७७
४. वही दो० ३८९
५. वही दो० ३९०

"धरै कौन विधि धीर वह, सुनो धीर बलवीर।
काम तीर को भीर भरि हियरो भरचो तुनीर।।"[1]

'काम तीर' तथा 'हियरो तुनीर' लाक्षणिक पद हैं। काम एवं हियरो उपमान हैं और तीर तथा तुनीर उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"सिला सघन घनस्याम उर तिय कुच सैल कठोर।
मुकुत हार दुरि जात हैं परिरम्भन के जोर।।"[2]

'कुच सैल' लाक्षणिक पद हैं। इसमें कुच उपमेय है और 'सैल' उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है।

"जौ वियोग बड़वागि की ज्वाल न नेक जर्यो न।
सो सागर अनुराग को सूखत जानि पर्यो न।।"[3]

'वियोग बड़वागि' लाक्षणिक पद हैं। वियोग उपमेय और बड़वागि उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है।

"करो कोटि अपराध तुम, वाके हिये न रोष।
नाह सनेह समुद्र में, बूढ़ि जात सब दोष।।"[4]

'सनेह समुद्र' लाक्षणिक पद है। सनेह उपमेय और समुद्र उपमान है। आधार सादृश्य है। 'सनेह' पर समुद्र की अगाधता का आरोप करके कवि ने स्नेह की उत्कृष्टता को गोचर कराया है।

गौणी साध्यवसाना:—

"पावै ऐपन ओपनी, कहै कुरण्टक कौन।
सोनो सोनजुही लहै ललित देह दुति सोन।।"[5]

'सोनजुही' पद लाक्षणिक है। सुन्दर गौर वर्णीय नारी का सोनजुही उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमान द्वारा ही उपमेय का यहाँ बोध कराया गया है।

"सुबरन बरन सुबास जुत, सरस दलनि सुकुमार।
ऐसे चम्पक कौं तजै तै ही भौंर गवाँर।।"[6]

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई, सं० डा० त्रिभुवनसिंह, प्र० सं० दो० ५१८
२. वही दो० ५३३
३. वही दो० ६२६
४. वही दो० ६६४
५. वही दो० ३७
६. वही दो० ७४

चम्पक तथा भौंर लाक्षणिक पद है। दोनों पद क्रमशः प्रेमिका और प्रेमी के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इस तरह कवि ने कथन की गोपनीयता बनाए रखकर सहृदय के समक्ष्य भाव को संवेदनीय बना दिया है। इस तरह इसका लक्ष्यार्थ यह हुआ कि गौर वर्णीय, यौवन गन्ध से युक्त और रस पूर्ण नायिका का नायक क्यों परित्याग कर रहे हो ? यह परित्याग का समय नहीं है।

"दिनकर-तनया श्याम जल द्वै घट भरे बनाइ।
ताके भर गरुए भए हरएँ धारति पाइ।।"[१]

'द्वै घट' पद लाक्षणिक है। यह पद नारी के दोनों उरोजों का उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। इस तरह कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय के बिंब को संवेदनीय बना दिया है।

"चलो लाल वह बाग में, लखो अपूरब केलि।
आलबाल घन समय को ग्रीषम रितु की बेलि।।"[२]

'ग्रीषम रितु की बेलि' लाक्षणिक पद है। यह पद वियोगिनी नायिक का उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने ग्रीषम ऋतु की वेलि कहकर विरह विदग्धा की क्षीणता तथा वेदना का बिंब गोचर करा दिया है।

"लोक प्रसून पराग तें लखत पिंजरनि भृंग।
भए चँबेली के विरह पीत रंग सब अंग।।"[३]

'भृंग' और 'चँवेली' पद लाक्षणिक हैं। ये क्रमशः नायक तथा नायिका के उपमान हैं। कवि ने उपमान के माध्यम से ही उपमेय के बिंब को संवेदनींय बना दिया है। इनका आधार सादृश्य है।

"भौंर भाँवरे भरत हैं कोकिल कुल मँडरात।
या रसाल की मंजरी सौरभ सुभ सरसात।।"[४]

'भौंर', 'कोकिल' तथा मंजरी पद लाक्षणिक हैं। ये क्रमशः नायक सखी और नायिका के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने कथन को गोपनीय रखते हुए भी सहृदय के समक्ष भाव को संवेदनीय बना दिया है।

---

१. महाकवि मतिराम, परिशिष्ट, मतिराम सतसई, प्र० सं० डा० त्रिभुवनसिंह, दो० १९०
२. वही दो० २३१
३. वही दो० ३७२
४. वही दो० ५६९

निष्कर्ष:—

मतिराम के समय तक काव्य में निरन्तर प्रयोग के कारण ब्रज-भाषा में पर्याप्त परिमार्जन हो चुका था। अतः मतिराम सतसई की भाषा बड़ी मँजी हुई तथा चुस्त है। इसमें मुहावरों और लोकोक्तियों का जो स्वाभाविक प्रयोग हुआ है, उससे मतिराम का कौशल प्रकट होता है। इस प्रकार के प्रयोग निरूढ़ा लक्षणा पर आश्रित हैं। इनसे वाक्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है। ऊपर के उदाहरणों में आए हुए कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ यहाँ इसी दृष्टि से विचारणीय हैं। वे इस प्रकार हैं:—'करती हो तन राख', फूली फूली फिरै', 'परियौ आँखिन खेह', 'भयौ द्रौपदी को बसन' आदि। ये प्रयोग आरम्भ में सप्रयोजन थे, किन्तु आगे चलकर वे रूढ़ हो गए। तन को राख करने का लक्ष्यार्थ है शरीर को क्षीण करना, फूली-फूली फिरै का लक्ष्यार्थ है आनन्दित होना, परियौ आँखिन खेह का लक्ष्यार्थ है आँखों में देखने की शक्ति न रह जाना और भयो द्रौपदी को बसन का लक्ष्यार्थ है जिसका अन्त न हो। कवि-प्रौढ़ोक्ति के कारण ये लोकोक्तियाँ और मुहावरे अपने वाच्यार्थ को छोड़ चुके हैं और लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गए हैं।

लक्षण-लक्षणा निरन्तर नए अर्थों का शोध करती रहती है और शब्दों को अर्थ का नया आयाम देती रहती है। मतिराम सतसई में लक्षण-लक्षणा का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है। इस तरह के प्रयोग में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का दूर का सम्बन्ध होता है। कवि विभिन्न चेष्टाओं, परिस्थितियों तथा दशाओं की अभिव्यक्ति के लिए नए प्रतीकों को खोजता रहता है। जब कवि कहता है कि—'नीरधि बढ़ै अपार' तो उसका प्रयोजन होता है नारी के रुदन को प्रस्तुत करना अथवा जब वह कहता है कि तुम्हारे गाँव में खारे जल की नदी बहती है तो भी उसका प्रयोजन यही होता है कि वियोगिनियाँ निरन्तर रुदन करती रहती हैं। इसी प्रकार लक्षण-लक्षणा के प्रयोग द्वारा कवि शब्दों को नए अर्थ से मण्डित करते रहते हैं। 'मतिराम सतसई' में स्थान-स्थान पर ऐसे प्रयोगों को देखा जा सकता है।

समस्त रीतिकाल में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान थी, इसीलिए मतिराम सतसई में भी अलंकरण की प्रवृत्ति अधिकाधिक है। कथन को सशक्त, चमत्कार युक्त तथा बिंबों को संवेदनीय बनाने के लिए कवि को अप्रस्तुत विधान करना पड़ता है। रूपक, अतिशयोक्ति, परिकरांकुर, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि के मूल में लक्षणा-शक्ति निहित रहती है। सारोपा और साध्यावसाना गौणी लक्षणा का प्रयोग 'मतिराम सतसई' में अत्यधिक हुआ है। इस तरह कवि अपनी अभिव्यक्ति में प्रेषणीयता लाता है और लौकिक सौन्दर्य को अलौकिकता प्रदान करता है।

मतिराम रीतिकालीन कवि थे। रीतिकालीन रूढ़ियों का भी इनके अप्रस्तुत विधान पर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों में कवि भाव को प्रेषणीय बनाने में

सफल अवश्य हो जाता है पर सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर पाता है। यद्यपि ऐसे उदाहरण मतिराम के काव्य में विरल हैं जैसे:—"नैन मीन ए पलक में मन जहाज गिल जाइ।" इस पद में कवि मन की अवस्था का बिंब प्रेषण करने के लिए जहाज उपमान का सहारा लेता है पर बिंब में सौन्दर्य का विधान नहीं हो पाता। ऐसे प्रयोग लक्षणा के असाधु प्रयोग कहे जाएँगे।

'रसनिधि' (संवत् १६६० से संवत् १७१७)

रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह था। ये दतिया रियासत के अन्तर्गत बरौनी इलाके के जागीरदार थे। 'रसनिधि-सतसई' इनके 'रतन-हजारा' का संक्षिप्त संस्करण है।[1] इनके रतन-हजारा, विष्णु पद और कीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीत संग्रह, स्फुट दोहा, रसनिधि सागर, अरिल्ल, हिंडोले आदि कई ग्रन्थ खोज में प्राप्त हुए हैं। इनके अधिकतर ग्रन्थ प्रेम भावना की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित हैं। इनकी कविता से इनके प्रेम की तन्मयता का सर्वत्र परिचय मिलता है। इनकी कविता में फारसी तबियतदारी के भी दर्शन होते हैं, इसी कारण से इनके प्रेम की तन्मयता के साथ ही साथ अभिव्यंजना में संयम की कमी भी दिखाई पड़ती है।

स्नेहाभिव्यक्ति में बिंबों की स्पष्टता, भावों की तीव्रता, संप्रेषणीयता एवं संवेदनशीलता के लिए कवि ने जहाँ प्रयास किया है वह लक्षणा पर ही आधारित है। विरह की विविध अवस्थाओं के चित्रण के लिए इन्होंने जहाँ अप्रस्तु-योजना की है वहाँ भी प्रायः लक्षणा-शक्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने मुहावरे और लोकोक्तियों का कम प्रयोग किया है। फिर भी इनके प्रयोग स्वाभाविक हैं और अपने स्थान पर चमत्कार उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे ही लाक्षणिक प्रयोगों के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं, जिनके आधार पर इनके काव्य में प्रयुक्त लाक्षणिक प्रयोगों की रूप-रेखा सामने आएगी। यहाँ पर इनकी 'सतसई' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग दिए जा रहे हैं जो इस प्रबन्ध से सम्बन्धित हैं।

निरूढ़ा लक्षणा :—

> **"जिन काढ़ौ ब्रजनाथ जू मो करनी कौ छोर।**
> **मो कर नीके कर गहौ रसनिधि नन्दकिसोर॥"[2]**

इसमें 'कर गहौ' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है सहारा देना अथवा शरण देना। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

---

१. रसनिधि-सतसई रसनिधि कवि के 'रतन-हजारा' का संक्षिप्त संस्करण है।
['सतसई-सप्तक' प्रस्तावन, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, सं० १९३१ ई० पृ० ३५]

२. सतसई-सप्तक, रसनिधि सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, १९३१, दो० २२

"सज्जन पास न कहु अरे ये अनसमझी बात।
मोम-रदन कहुँ लोह के चना चबाए जात॥"[1]

इसमें 'लोहे के चने चबाना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है कठिन कार्य करना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"बहुत निकाइन तै लख्यौ तेरौ रूप निकाइ।
तब अनुरागी दृग रहे तेरे हाथ बिकाइ॥"[2]

इसमें 'हाथ बिकाना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है वशीभूत होना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"दृग-दुस्सासन लाल के ज्यौं-ज्यौं खैंचत जात।
त्यौं-त्यौं द्रौपदि-चीर लौं मन पट बाढ़त जात॥"[3]

इसमें 'द्रौपदि-चीर लौं बाढ़त जात' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है जिसका अन्त न हो। यही लक्ष्यार्थ ही लोकोक्ति का मुख्यार्थ हो गया है।

"धरि सौनै कै पींजरा राखौ अमृत पिवाइ।
विष कौ कीरा रहत है विष ही में सुख पाइ॥"[4]

इसमें 'विष का कीड़ा विष में ही सुखी रहता है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है नीच व्यक्ति नीचता में ही सन्तुष्ट रहता है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"चित चुगली लागे करन नैना लगि लगि कान।
सिद्ध कला जब तैं इन्हें लला पढ़ाई मैन॥"[5]

इसमें 'नैना लगि लगि कान' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है नैन कटाक्ष करने लगे हैं। इस प्रकार इस पद को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

'जो भावै सो कर लला इन्हें बाँध वा छोर।
है तुव सुबरन रूप के ये मेरे दृग चोर॥"[6]

इस दोहे में नेत्रों के लिए बाँधना तथा चोर पद का प्रयोग किया गया है

---

१. सतसई-सप्तक, रसनिधि सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, १९३१, दो० ८५
२. वही दोहा १३४
३. वही दोहा २४७
४. वही दोहा ६५३
५. वही दोहा १०८
६. वही दो० १४४

किन्तु नेत्र न तो बाँधे ही जा सकते हैं और न ही चुरा सकते हैं। इसलिए इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है इनको वशीभूत करो एवं स्वरूप के प्रति आसक्त हैं। इस प्रकार कवि ने इन पदों को नए अर्थ से मण्डित कर दिया है।

'पल पिंजरन मैं दृग-सुवा जदपि मरत है प्यास।
तदपि तलफ जिय राख ही रूप-दरस-रस आस।।"[1]

इसमें 'प्यास' पद लाक्षणिक है। नेत्र के पक्ष में प्यास पद का प्रयोग किया है जो असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है दर्शन की तीव्र-अभिलाषा।

"खोर खोर सब देत हैं मेरे नैनन खोर।
लता मनोहर रूप की देत न कोऊ खोर।।"[2]

इसमें दोहे के अन्तिम पंक्ति का 'खोर' पद लाक्षणिक है। नेत्रों में रूप का 'खोर' देना असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है दर्शन देना।

"रूप किरकिरी पर गई जब तैं दृगन मँझार।
लाल भए तब तैं रहत बरषत अँसुवन धार।।"[3]

इसमें 'बरषत' पद लाक्षणिक है। वर्षा करना बादल का धर्म है किन्तु यहाँ नेत्रों के लिए कहा गया है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है निरन्तर आँसू बहता रहता है।

"अरे बैद चहिए दवा सो नहिं तेरे पास।
नैन जखम तिनि रूप रस आवत हैगो रास।।"[4]

इसमें 'जखम' पद लाक्षणिक है। नेत्र से जख्म होना सम्भव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है स्नेह-वेदना। इस प्रकार इस पद को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

"अब लग बेधत मन हते दृग अनियारे बान।
अब बंसी बेधन लगी सप्त सुरन सौं प्रान।।"[5]

इसमें 'वेधत' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है छेदना। इस दोहे में दृग और वंशी के पक्ष में बेधना शब्द का प्रयोग हुआ है जो असम्भव है साथ ही प्राण का बिधना भी असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ स्नेह-वेदना उत्पन्न करना है।

---

१. सतसई-सप्तक, रसनिधि-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, १९३१, दोहा १५४
२. वही दो० १५७
३. वही दो० १६०
४. वही दो० १६८
५. वही दो० १९२

"तोहि बजै विष जात चढ़ि आइ जान मन मैर।
बंसी तेरे बैर कौ घर घर सुनियत घैर।।"[1]

इसमें 'विष जात चढ़ि' लाक्षणिक पद है। वंशी के बजने से विष चढ़ना असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है काम वेदना व्याप्त हो जाती है।

"भावंता लखि लगत पल जानत कौ कहि देत।
पल ओटन सौं नैन ये रूप स्वाद कौं लेत।।"[2]

इसमें स्वाद लेना पद लाक्षणिक है। स्वाद लेना जीभ द्वारा ही सम्भव है पर यहाँ दृग के लिए कहा है जो असम्भव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है रूप दर्शन का आनन्द प्राप्त करना।

"यातैं पल-पलना लगत हेरत आनन्दकन्द।
पियत मधुर छबि दृगन के जात ओठ ह्वै बन्द।।"[3]

इसमें 'पलना लगत', 'पियत' तथा 'ओठ बन्द होना' पद लाक्षणिक हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है बेचैन रहना, दर्शन करना और आनन्द निमग्न हो जाना। इस प्रकार कवि ने इन पदों को अर्थ का नया आयाम प्रदान कर दिया है।

"जो कहियै तौ साँच कर को मानै गह बात।
मन के पग छाले परे पिय पै आवत जात।"[4]

इसमें 'मन के पग छाले परे' पद लाक्षणिक है। इसमें मन के पग में छाले पड़ना कहा गया है। मन को पैर ही नहीं होते फिर छाला पड़ना तो बिल्कुल असंभव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मन बार-बार प्रिय के पास जाने का श्रम करता है।

सारोप गौणी लक्षणा:—

"काल-पखेरू तैं सही यों तन खेत उबेर।
यह बिरियाँ ऐसे समय हरिया हरिया टेर।।"[5]

इसमें 'काल-पखेरू' तथा तन खेत' लाक्षणिक पद हैं। इनमें—काल एवं तन उपमेय हैं और पखेरू तथा खेत उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

---

१. सतसई-सप्तक, रसनिधि-सतसई, सं बाबू श्यामसुन्दरदास, १९३१, दो० १९४
२. वही दो० २५०
३. वही दो० ३३१
४. वही दोहा ३६१
५. वही दोहा १६

"रसनिधि मन मधुकर रमंहि जो चरनांबुज मांहि ।
सरस अनखुलौ खुलत है खुलौ खुलोई नांहि ।।"[१]

इसमें 'मन मधुकर' तथा 'चरनाँबुज' लाक्षणिक पद हैं । इनमें मन एवं चरण उपमेय हैं और मधुकर तथा अंबुज उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । उपमेय का उपमान पर आरोप करके भाव को तीव्र बनाया गया है ।

"अबलख नैन तुरंग ये पलकैं पाषर डार ।
आयो मदनसवार ह्वै अब को सकै सम्हार ।।"[२]

इसमें 'नैन तुरंग' 'पलकै पाषर' तथा मदन सवार पद लाक्षणिक हैं । इनमें नैन, पलकें एवं मदन उपमेय हैं और तुरंग, पाषर तथा सवार उपमान है । इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है । उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है ।

"बदन-सरोवर तैं भरे सरस रूप रस मैन ।
डीठ-डोर सौं बाँधि कै डोलत सुन्दर नैन ।।"[3]

इसमें 'बदन-सरोवर' तथा 'डीठ-डोर' लाक्षणिक पद हैं । इन बदन एवं डीठ उपमेय हैं और सरोवर तथा डोर उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को गोचर कराया गया है ।

"रूप-नगर बस मदन नृप दृग-जासूस लगाइ ।
नेहिन-मन कौ भेद उन लीनौ तुरत मँगाइ ।।"[४]

इसमें 'रूप-नगर' मदन नृप' तथा दृग जासूस' लाक्षणिक पद हैं । इनमें रूप, मदन एवं दृग उपमेय हैं और नगर, नृप तथा जासूस उपमान हैं । इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संवेदनीय बनाया है ।

"रूप-समुद छबि-रस भरौ अति ही सरस सुजान ।
ता मै तैं भर लेत दृग अपनै घट उनमान ।।"[५]

इसमें 'रूप-समुद' तथा 'छबि-रस' लाक्षणिक पद हैं । इनमें रूप एवं छबि उपमेय हैं और समुद्र तथा रस उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है ।

---

१. सतसई-सप्तक, 'रसनिधि-सतसई' सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, १९३१, दोहा ३५
२. वही दोहा ९८
३. वही दोहा १०५
४. वही दोहा ११३
५. वही दोहा ११८

"रूप-बाग में रहत हैं बागवान तुव नैन।
मन-धन लै छबि-अमृत-फल दैन कहत पै दैं न ।।"[१]

इसमें 'रूप बाग,' 'मन-धन' तथा 'छबि-अमृत-फल' लाक्षणिक पद हैं। इनमें रूप, मन, छबि उपमेय हैं और बाग, धन तथा अमृत-फल उपमान हैं। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"तौ कै से तन पाते नेही-नैन मराल।
जौ न पावते रूप-सर छबि मुक्ताहल लाल ।।"[२]

इसमें 'नैन-मराल' 'रूप-सर' तथा 'छबि-मुक्ताहल' लाक्षणिक पद हैं। इनमें नैन, रूप, एवं छबि उपमेय हैं और मराल, सर तथा मुक्ताहल उपमान हैं इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को स्पष्ट किया गया है।

"सुमन सहित आँसू-उदक पल-अंजुरिन भरि लेत।
नैन-व्रती तुव चंद-मुख देखि अरघं कौं देत ।।"[३]

इसमें 'आँसू-उदक,' पल-आँजुरिन' तथा नैन व्रती लाक्षणिक पद हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। इनमें आँसू, पल तथा नैन उपमेय हैं और उदक, अँजुरिन एवं व्रती उपमान हैं। इस प्रकार उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"रूप-नगर दृग-जोगिया फिरत सु फेरी देत।
छबि-मन पावत है जहाँ पल-झोरी भरि लेत ।।"[४]

इसमें 'रूप-नगर,' 'दृग जोगिया, 'छबि-मन' तथा 'पल-झोरी' लाक्षणिक पद हैं। इनमें रूप, दृग, छबि, एवं पल उपमेय है और नगर, जोगिया मन तथा झोरी उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

"त्रपत न मानत नैन ये लेत रूप-रस-दान।
रहत पसारै लोभिया निस बासर पल-पान।।"[५]

इसमें 'लोभिया' पद लाक्षणिक है। यह पद नेत्रों का विशेषण है, किन्तु यहाँ उपमान

---

१. सतसई-सप्तक, रसनिधि-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास सं० १९३१ दोहा,१२०
२. वही दोहा १२९
३. वही दोहा १७६
४. वही दोहा १९७
५. वही दोहा २२९

की तरह प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार कवि ने इसी उपमान द्वारा ही नेत्र उपमेय का बोध कराया है।

"को अवराधे जोग तुव रहु रे मधुकर मौन।
पीतांबर के छोर तें छोर सकै मन कौन।।"[1]

इसमें 'मधुकर' पद लाक्षणिक है। गोपियों ने उपालंभ में उद्धव को मधुकर कहकर संबोधित किया था। यहाँ भी मधुकर उद्धव का उपमान होकर आया है। कवि ने इसी उपमान द्वारा ही उपमेय की प्रतीति करा दिया है।

"सूरस मधुप गुंजत रहै लेत सुमन की बास।
कुम्हल्यानै फिरता नहीं अली रली ता पास।।"[2]

इसमें 'मधुप' तथा 'सुमन' पद लाक्षणिक हैं। ये दोनों पद क्रमशः—नायक नायिका के उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार गुण साम्य है। यहाँ उपमान द्वारा ही उपमेय की प्रतीति कराई गई है।

'ससि चकोर के दरद कौ जब तुहिं असर न होइ।
कुहू निसा षोड़स कल तब तैं बैठत खोइ।।"[3]

इसमें 'ससि' तथा 'चकोर' लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद क्रमशः नायक एवं नायिका के उपमान हैं। इनका आधार गुण साम्य है। कवि ने उपमान द्वारा ही बिंब को संप्रेषणीय बना दिया है।

"जानत सही चकोर कर ससि सौ प्रेम सलूक।
अमृत सराबी के रसहि समुझहि कहा उलूक।।"[4]

इसमें 'चकोर', 'ससि', तथा 'उलूक' लाक्षणिक पद हैं। ये पद क्रमशः नायिका, नायक और स्नेह-रस हीन व्यक्ति के उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार गुण साम्य है। उपमान के माध्यम से ही यहाँ उपमेय की प्रतीति करा दी गई है।

रस निधि के लाक्षणिक प्रयोग स्वाभाविक हैं। इनके द्वारा भावों में तीव्रता आई है, बिंब की संप्रेषणीयता में वृद्धि हुई है और बिंबों की संवेदन सामर्थ्य बढ़ी है। पदों के अर्थ को नया आयाम देने में भी इन्हें सफलता मिली है। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग इनकी सतसई में पाए जाते हैं। ऐसे स्थलों पर भी लक्षणा का चमत्कार होता है। इनकी भावाभिव्यक्ति का क्षेत्र शृंगार-रस है।

---

१. सतसई-सप्तक, रसनिधि-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सं० १९३१ ई० दोहा ३६५
२. वही दोहा ६६४
३. वही दोहा ६६६
४. वही दोहा ६७३

इसलिए जीवन के विविध रूपों की छटा इनकी 'सतसई' में नहीं दिखाई पड़ती है। इसी कारण से इनके लाक्षणिक अप्रस्तुत-विधान एक निश्चित सीमा में ही बँधे हुए हैं।

महाराज विक्रमसाहि (संवत् १८३९-१८८६)

महाराज विक्रमसाहि बुन्देलखंड की चरखारी रियासत के राजा थे। इनका पूरा नाम विक्रमादित्य था। ये बड़े साहित्यानुरागी और गुणग्राही नरेश थे। 'सतसई' हरिभक्ति-विलास, व्रजलाला आदि इनकी रचनाएँ हैं। इनकी कविता साधारणतया अच्छी और सरस है। बिहारी को आदर्श मानकर इन्होंने सतसई की रचना की, पर कला का वह उत्कर्ष इनकी कविता में नहीं पाया जाता जो बिहारी और मतिराम की कविता में पाया जाता है। विक्रम सतसई में भी पर्याप्त मात्रा में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं, उनमें से कुछ यहाँ उदाहरण के रूप में दिए जा रहे हैं।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"रूप-सिंधु तेरो भर्‌यौ अति घनि अधिक अथाह।
जे बूड़त हैं बिन कसर ते पावत मन चाह॥"[1]

इसमें 'बूड़त' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है एक निष्ठ भाव से स्नेह में तन्मय होना। इस प्रकार पद नए अर्थ से मंडित हो गया है।

'जलचर थलचर गगनचर मोहि रहत सब जीव।
चढ़ी रहत मोहन दृगन तेरी छबि सब जीव॥"[2]

इसमें 'चढ़ी रहत' पद लाक्षणिक है। दृग पर छवि का चढ़ना असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मोहन के नेत्रों को तुम्हारी छवि ही भाती है। इस प्रकार पद को नए अर्थ का आयाम मिल गया है।

"बन तज चलिए कुंज कौ परत सघन सखि बुन्द।
नहिं जानत इहि गाउं के क्यौंरे है मुख मुन्द॥"[3]

इसमें 'चलिए कुंज कौ' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है 'रति' अभि-लाषा का संकेत। इस प्रकार भाव में प्रेषणीयता उत्पन्न की गई है।

"मानि सु यह साँची कहत मोहि रावरी आन।
लगी रहत उनके दृगनि तो मुख की मुसक्यान॥"[4]

इसमें 'लगी रहत' पद लाक्षणिक है। 'मुसक्यान' दृग में लगी रहना असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है उनको देखते ही प्रसन्न हो जाती हो।

---

१. सतसई-सप्तक, विक्रम-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, सं० १९३१ ई० दोहा ७२
२. वही दोहा ८०
३. वही दोहा ८८
४. वही दोहा ९२

सारोपा गौणी लक्षणा—

"राते पट बिच कुच-कलस लसत मनोहर आब ।
भरे गुलाब सराब सौं मनौ मनोज नवाब ॥"[1]

इसमें 'कुच-कलस' लाक्षणिक पद है । इस पद में कुच उपमेय और कलश उपमान है । इसका आधार सादृश्य है । उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को स्पष्ट किया गया है ।

"गति गयंद कटि केहरी श्रीफल उरज उतंग ।
बदन चन्द दृग झख जितौ भौंहैं धनुष अनंग ॥"[2]

इसमें 'गति गयंद', 'कटि केहरी', 'बदन चंद', 'दृग झख' तथा 'भौंहैं धनुष' पद लाक्षणिक हैं । इनमें गति, कटि, बदन, दृग एवं भौंह उपमेय हैं और गयंद, केहरि, चन्द, झख तथा धनुष उपमान हैं । इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनशील बनाया है ।

"नहिं नजरत हियरौ जरत चकित चितै चहुँ ओर ।
तिय तेरे मुख चन्द के मेरे नैन चकोर ॥"[3]

इसमें 'मुख चन्द' तथा 'नैन चकोर' लाक्षणिक पद हैं । इनमें मुख तथा नैन उपमेय हैं और चन्द एवं चकोर उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है ।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

"तरुन तिहारे दृगनि की भए नहीं छबि लीन ।
ताते बनचारी भए अलि खंजन मृग मीन ॥"[4]

इसमें 'अलि' 'खंजन' :मृग' तथा 'मीन' लाक्षणिक पद हैं । ये सभी पद नेत्र के उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । कवि ने इन्हीं उपमानों के ही माध्यम से बिंब को संप्रेषणीय बनाया है ।

"जो पराग मकरन्द मधु कमल फूल मैं होइ ।
मधुकर तू चाहत लह्यौ कनक कली मैं सोइ ॥"[5]

इसमें 'कमल' 'मधुकर' तथा 'कनक कली' लाक्षणिक पद हैं । ये क्रमशः प्रतीक हैं स्वनायिका, नायक एवं परकीया नायिका के । इनके एकात्म्य का आधार

---

१. सतसई-सप्तक, विक्रम-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास सं० १९३१ ई० दोहा ५६
२. वही दोहा ६६
३. वही दोहा ८१
४. वही दोहा १८७
५. वही दोहा ३३०

गुण सादृश्य है। इस प्रकार प्रतीकों के माध्यम से ही भाव को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"पंकज के धोखे मधुप कियो केतकी संग।
अन्ध भयो कंटक विधो भयो मनोरथ भंग॥"[1]

इसमें 'मधुकर', 'पंकज' तथा 'केतकी' लाक्षणिक पद हैं। ये सभी प्रतीक हैं नायक, स्वकीया नायिका एवं परकीया नायिका के। इनके एकात्म्य का आधार गुण साम्य है। इस प्रकार कवि ने इन्हीं प्रतीकों के ही माध्यम से भाव को संवेदनशील बनाया है।

इनके लाक्षणिक प्रयोग संवेदन तथा संप्रेषण की सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकार के अनेक प्रयोग 'सतसई' के ७०० पदों में बिखरे पड़े हैं। इनसे काव्य की रमणीयता, भाव की तीव्रता तथा बिंब की संप्रेषणीयता में शक्ति आ गई है। क्रिया पदों के लाक्षणिक प्रयोगों की भी इनकी रचना में बहुलता है, जिससे बिंब गोचर कराने की सामर्थ्य में वृद्धि हुई है।

रामसहाय दास (सं० १८६० – १८८० तक)

रामसहाय दास की प्रमुख रचना 'राम सतसई' है। इनकी 'सतसई' सरस और स्वाभाविक रचना है। इसमें माधुर्य एवं प्रसाद गुण की प्रचुरता है। स्थान-स्थान पर इनकी रचना में लाक्षणिक प्रयोग पाए जाते हैं। यहाँ उनमें से कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"विधु बंधुर मुख भा बड़ो बारिज नैन प्रभाति।
भौंह तिरीछी छबि गड़ी रहति हिये दिन राति॥"[2]

इसमें 'गड़ि' लाक्षणिक पद है। हृदय में छवि का गड़ना असंभव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है वशीभूत करना। इस प्रकार इस पद को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

"हँसि आवै हँसि जात है कसि अँगियै अँगिराय।
भौंहनि कों सतराय कै अंखियान सों बतराय॥"[3]

इसमें 'बतराय' पद लाक्षणिक है। आँखों से बात करना असंभव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है आँखों से इशारा करना। इस प्रकार यह पद नए अर्थ से मंडित हो गया है।

---

१. सतसई-सप्तक, विक्रम-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सं० १९३१ ई० दोहा ३३५
२. वही दोहा ५७
३. वही दोहा ९३

"पुहुपित देखि पलास-बन तव पलास तन होइ।
अब मधुमास पलास भो सुचि जवास सम सोइ।।"[१]

इसमें 'पलास' लाक्षणिक पद है। तन का पलास वृक्ष होना तो संभव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है आनन्दित होना। इस प्रकार शब्द को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

सारोपा गौणी लक्षणा:—

"मन नितंब पर गामरू तरफरात परि लंक।
वर बेनी नागिन हन्यौ रवर बीछी को डंक।।"[२]

इसमें 'वेनी नागिन' लाक्षणिक पद है। इस पद में वेनी उपमेय और नागिन उपमान है। इसका आधार साहृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"गहि बरुनी बरछी बनी अरु कटाक्ष तरवारि।
नैन बीर लैं भीर धसि धीर अमी रहि मारि।।"[३]

इसमें 'बरुनी बरछी' तथा 'कटाक्ष तरवारि' लाक्षणिक पद हैं। इनमें बरुनी एवं कटाक्ष उपमेय और बरछी तथा तरवारि उपमान है। इनके एकात्म्य का आधार गुण साम्य है। उपमेय का उपमान पर आरोप करके भाव को संवेदनशील बनाया गया है।

"अंग कंप स्वर भंग भो विबरन अति मन रंज।
नैननंद मुखचंद सों मूंदि गए दृगकंज।।"[४]

इसमें 'मुखचन्द' तथा 'दृग कंज' लाक्षणिक पद हैं। इनमें मुख एवं दृग उपमेय हैं और चन्द तथा कंज उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार साहृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को स्पष्ट किया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"रमन गमन सुनि सखिन तन तकि न कहत कछु बार।
नैननि इन्दीवरनि तें बहति कलिंदी धार।।"[५]

इसमें 'कलिंदीधार' पद लाक्षणिक है। यह पद आँसू के उपमान के रूप में

---

१. सतसई-सप्तक, राम-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सं० १९३१ ई० दोहा १३०
२. वही दोहा ९६
३. वही दोहा १५९
४. वही दोहा १९५
५. वही दोहा १४३

यहाँ प्रयुक्त है। आधार गुण सादृश्य है। उपमान द्वारा ही भाव को संप्रेषणीय प्रदान की गई है।

"ससि लखि जगत विदित कहो जाय कमल कुँभिलाय।
यह ससि कुँभिलानो अहो कमलहि लखि केहि भाय॥"[१]

इसमें द्वितीय पंक्ति में आए हुए ससि तथा कमल लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद क्रमशः नायिका और नायक के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने यहाँ उपमान के ही द्वारा भाव को संप्रेषणीय बना दिया है।

'राम-सतसई' में लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता नहीं है, फिर भी पर्याप्त लाक्षणिक प्रयोग इसमें हुए हैं। इन प्रयोगों द्वारा पर्याप्त चमत्कार एवं काव्य में चारुता उत्पन्न हुई है।

---

१. सतसई-सप्तक, राम-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सं० १६३१ ई० दोहा ११३

चतुर्थ अध्याय

"रीति-मुक्त स्फुट काव्य और लक्षण का सौन्दर्य"

'रीति-मुक्त काव्य का' अभिप्राय यह है कि वह काव्य जो रीति के बंधन से मुक्त हो। रीति-मुक्त कवि हृदय की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अनुसार काव्य रचना करते थे। इनकी रचनाओं में प्रेम का जो स्वच्छन्द और तीव्र अनुभूति पूर्ण स्वरूप उपलब्ध होता है, वह समस्त काव्य-शास्त्रीय रुढ़ियों और मर्यादा से सर्वथामुक्त है। इनके प्रेम में वियोग-पक्ष की प्रधानता है क्योंकि वियोगाग्नि में तपकर ही प्रेम का सुवर्ण उज्ज्वल होता है। इसी की प्रधानता इनके काव्य में दिखाई पड़ती है। वियोगावस्था में प्रिय सम्मुख नहीं रहता है,इसलिए वियोगी अपनी समस्त वृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुख हो जाता है। इसी कारण से रीति-मुक्त कवियों की दृष्टि अन्तर्वृत्तियों के निरूपण में ही व्यस्त दिखाई पड़ती है। इन कवियों की वियोग विषयक धारणा भी बड़ी विलक्षण है क्योंकि संयोगावस्था में भी वियोग इनका पीछा नहीं छोड़ता है। वस्तुतः यह वियोग की चरमावस्था है। रीतिमुक्त कवि अपनी इसी विशिष्ट वियोग भावना के कारण ही मुक्त अथवा स्वच्छन्द कवि कहे जाते हैं। इनकी यह प्रेम की परि पपीहे की निष्ठा अपने आप में संजोए हुए है।

रीति-मुक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग केवल हृदय की उदारता और प्रेम के निर्मल रूप में ही नहीं दिखलाया, अपितु भाषा और अभिव्यंजना शैली में भी दिखलाया है। रीतिकाल में प्रचुर मात्रा में काव्य लिखा गया, हिन्ही का भांडार सुन्दर उक्तियों और रमणीय प्रसंगों से भर गया। यह सब होने पर भी बिहारी, मतिराम, पद्माकर जैसे कुछ कवियों को छोड़कर अन्य रीति बद्ध रचना करने वाले कवियों ने भाषा पर विशेष ध्यान नहीं दिया। रीति-मुक्त कवियों ने इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया। इन्होंने शब्दों को अंगभंग होने और प्रयोग को बिगड़ने से बचाया। घनानन्द ने तो ब्रज-भाषा का ऐसा सुस्पष्ट रूप प्रस्तुत किया कि उसके आधार पर ब्रज-भाषा का व्याकरण लिखा जा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि-रीति-युक्त कवियों का प्रेममार्ग एक पृथक काव्य मार्ग है जिसमें भाषा, भाव तथा शैली का विशिष्ट प्रयोग हुआ है।

यहाँ पर इन्ही रीति-मुक्त कवियों आलम, घनानन्द, बोधा और ठाकुर की रचनाओं में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का क्रमशः निरूपण और उनकी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, संवेदनीयता और संप्रेषणीयता का विवेचन किया जा रहा है।

शृंगारिक धाराः—

आलम

आलम रीति-मुक्त धारा के प्रमुख कवि थे। इन्होंने प्रेमोन्मत्त पपीहे की भाँति अपनी 'प्रेम पीर' काव्य में उँड़ेल दी है। इन्होंने काव्य में शृंगार रस की ऐसी उन्मादिनी सरिता प्रवाहित की कि सहृदय रसिकों का मन उसमें आकंठ निमग्न होने को लालायित हो उठा। इनकी रचनाओं में तन्मयता और सच्ची निष्ठा पाई जाती है, इसका कारण इनका उदात्त प्रेम है। भाषा, भाव तथा अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से ब्रजभाषा काव्य में इनका स्थान घनानन्द के समकक्ष है।

ये प्रेमोन्मत्त गायक तो थे ही, इनकी दृष्टि विरह की अन्तर्वृत्तियों के निरूपण पर विशेष रूप से जमी रही। इसी कारण रीति से मुक्त हो कर काव्य का एक स्वच्छन्द प्रवाह इन्होंने प्रवाहित किया। हृदयानुभूतियों को ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने के लिए इन्होंने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पदावलियों की रचना की। इस कारण इनकी रचना में लाक्षणिक चित्रात्मकता उत्पन्न हो गई। इन्होंने अभिव्यंजना कौशल के लिए अलंकृत शैली का तो प्रयोग किया, पर उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने दी।

यहाँ इनकी रचना 'आलमकेलि' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा:—

''आलम' लै राई लोन वारि फेरि डारि नारि
बोलि धौं सुनाइ धुनि कनक कँगन की ॥''[1]

'राई लोन वारना' मुहावरा है। इसका लाक्ष्यार्थ है सौन्दर्य को दृष्टि न लगे इसका उपाय करना।

"छाह हूँ के छल मिलि हौंही भई तेरी छाँह,
जौ लौं परछाँही पर छाही आनि छाई है।"[2]

'हौंहूँ भई तेरी छाँह' एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है तुम्हारे आत्यधिक निकट आ गई हूँ अथवा तुम्हारे साथ-साथ लगी रहती हूँ। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अधर सुखात लूझें आधिया न आवै बात,
आधो मुख देखि मन आधोआध ह्वै गयो ॥"[3]

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, सं० १९७९ प्रथमावृत्ति पृ० ३, पं० सं० ६
२. वही पृ० १४ पं० सं० ३१
३. वही पृ० २० पं० सं० ४७

'मन आधोआध ह्वै गयो' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मन घायल हो गया। अपने इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"कमल से हाथ रंभ जंघा गौन हाथी को सो,
हाथ ही हाथन सब स्यान मूसि लै गई।"[१]

'हाथ ही हाथन मूसि लै गई' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है देखते-देखते चुरा ले गई। इसी लक्ष्यार्थ में ही अब मुहावरे का मुख्य अर्थ व्यक्त होने लगा है।

" कहै कवि 'आलम' कुमारी वृषभान की सु,
ऐसी सुकुमारि देखि छतिया सिराति है॥"[२]

'छतिया सिराति है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है मन आनन्दित होता है अथवा मन में चाह पैदा होती है। यही लक्ष्यार्थ अब मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है। लक्ष्यार्थ जब लोक प्रसिद्ध पा जाता है तब शब्द का मुख्यार्थ हो जाता है और निरूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत आ जाता है।

"खरी है निसाँसी तें तौ कीनी है बिसासी मारि,
दसईं दसा सी लाख भाँति लखि लेखिहौ।"[३]

'दसईं दसा' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है विरहावस्था की दसईं दशा अर्थात् मृत्यु। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"डोले डोले बोलौ बैन जी पर ते डोलति हैं,
पी पर तिया ते भये पीपर के पात हौ॥"[४]

'भए पीपर के पात हौ' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है चंचल हो गए हो। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अंज भरे कंचनहिं कीरा कहूँ कोरत है,
कंटक की कोर कहूँ हीरा बेधे जात हैं।"[५]

'कंटक की कोर कहूँ हीरा बेधे जाते हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है सुकोमल वस्तु का प्रभाव कठोर वस्तु पर नहीं पड़ता। इसी लक्ष्यार्थ में ही अब मुहावरे का मुख्यार्थ प्रतीत होने लगा है।

"सीस चढ्यो रजनीस जबै तन की थिक बवन छाँह भई है।"[६]

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९७९, पृ० ५२ प० सं० ९२
२. वही पृ० ३३ प० सं० ७६
३. वही पृ० ५२ प सं १२३
४. वही पृ० ७२ प० सं० १७२
५. वही पृ० ८३ प० सं० १९८
६. वही पृ० १४४ प० सं० ३७२

'बावन छाँह भई है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अत्यधिक छोटी हो गई है। सम्पूर्ण पंक्ति का अभिप्राय है अर्द्ध रात्रि के समय अभिसारि का के तन की स्थिरता अत्यधिक छोटी हो गई है अर्थात् स्थिरता समाप्त हो गई है।

शुद्धा उपादान लक्षणा—

"फूल्यो सुजुन्हाई कुसुमाकर' की औ, फूल्यो बन बन रसबीथिन बिहरि लै।"[1]

'फूल्यो बन' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है वन के पेड़-पौधे फूले।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"आलम कहै हो रूप आगरो समातु नाहीं,
छबि छलकति इहाँ कौन की समाई है।"[2]

'समातु' और 'छलकति' लाक्षणिक पद हैं। समाना तथा छलकना का जल आदि पदार्थों के सम्बन्ध में प्रयोग तो उपयुक्त हो सकता है पर रूप के सम्बन्ध में समाना एवं छलकना असम्भव है। इसलिए इन पदों का लक्ष्यार्थ है रूप अत्यधिक द्युतिमान हुआ है तथा छवि सौन्दर्य अपनी सीमा को पार कर गया है। इस प्रकार कवि ने शब्द के अर्थ को नया आयाम दिया है।

"आली लौं लौं चलि जौ लौं लाली में लपेटो ससि,
रबि को न छबि छिन जोन्ह ना जनाई है।"[3]

'लपेटो' 'रवि को न छबि' तथा 'जोन्ह ना जनाई है' लाक्षणिक पद हैं। लाली के पक्ष में लिपटना कहना असम्भव है क्योंकि लाली वस्त्रादि की तरह लिपटने वाली वस्तु नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ लाली से युक्त है। 'रवि को न छबि' का लक्ष्यार्थ है सूर्यास्त हो चुका है और 'जोन्ह ना जनाई' का लक्ष्यार्थ है चन्द्र की किरणें स्पष्ट नहीं हुई हैं अर्थात् प्रकाश नहीं हुआ है। दोनों पदों का सम्मिलित लक्ष्यार्थ है अभी धुँधलका अर्थात् गोधूली का समय है।

"फूली सुजुन्हाई कुसुमाकर' की रैन की औ,
फूल्यो बन घन रसबीथिन बिहरि लैं।"[4]

'फूली' पद लाक्षणिक है। फूलना पुष्प धर्म है किन्तु इसमें चन्द्र के लिए प्रयुक्त है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है प्रकाशित होना।

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९७९, पृ० १५ प० सं० ३३
२. वही पृ० ८ प० सं० १७
३. वही पृ० १४ प० सं० ३१
४. वही पृ० १५ प० सं० ३३

"चूर ह्वै के केत्यो केहू बाँकी सूधी चालि आली,
तू तो चलि आई बाके नैनाऊ न चले है ।"[1]

'चूर ह्वै के' तथा 'नैनाऊ न चले हैं' लाक्षणिक पद हैं । व्यक्ति के पक्ष में चूर होना असम्भव है क्योंकि चूर तो कोई वस्तु ही हो सकती हैं । नेत्रों को पद नहीं होते कि वे चल सकें । इसलिए पद के अर्थ प्राप्ति में मुख्यार्थ से बाधा पड़ रही है । इस प्रसंग में इन पदों का लक्ष्यार्थ दुखी होकर निराश होना और दिखाई न पड़ना अथवा एकटक देखते रह जाना है । कवि प्रतिभा ने इन पदों को नए अर्थ से मण्डित कर दिया है ।

"तरल तुरंग नैन तरुनाई भरि आई,
गोरे मुख सोहै अरुनाई अधरन की ।"[2]

'तरल' तथा 'भरि' पद लाक्षणिक हैं । तरलता तो जल आदि पदार्थों में होती है 'तुरंग नैन' के पक्ष में तरल का प्रयोग असम्भव है । इसी प्रकार भरना वस्तु का धर्म है तरुणाई का नहीं । इसलिए इनका लक्ष्यार्थ है 'चंचल' और छाना । पद का अभिप्राय है चंचल नेत्र रूपी तुरंगों में तरुणाई छा गई है अथवा प्रतीत होने लगी है ।

"फूल ही के भार भरि सीस फूल फूलि रहे,
फूली साँझ फूली आवै फूलन की माल सी ।"[3]

'फूलि' तथा 'फूली' लाक्षणिक पद हैं । फूलना पुष्प धर्म है किन्तु यहाँ फूलना आभूषण, संध्या एवं व्यक्ति के लिए प्रयुक्त है । इसलिए क्रमशः इनका लक्ष्यार्थ है शीश फूल का शोभित होना, संध्या का विकसित रूप और हर्षित होना ।

"रोयबो है कान्ह सु तो सोयबो को नेहु नहीं,
नेम यहै पेम-पथु आए दुख बोयगो ।"[4]

'सोयबो' तथा 'वोयगो' पद लाक्षणिक हैं । स्नेह के पक्ष में सोना एवं दुख के पक्ष में बोना असम्भव है । इसलिए इनका लक्ष्यार्थ है । 'स्नेह में आनन्द' और दुख का प्रारम्भ । इस प्रकार के प्रयोग द्वारा कवि ने इन पदों को नए अर्थ से विभूषित कर दिया है ।

"भली भई भोर भए पावं धारे भावते जू,
हम अन भावती हैं भावतिनु भाए हौं ।"[5]

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९७९ पृ० २० प० सं० ४
२. वही पृ० ३७ प० सं० ८७
३. वही पृ० ३८ प० सं० ८९
४. वही पृ० ४२ प० सं० ९९
५. वही पृ० ७३ प० सं० १७४

'भलीभई' तथा 'भावते जू' लाक्षणिक पद हैं। खंडिता नायिका प्रातः नायक के आने पर कहती है जबकि नायक के शरीर पर पूर्व रति के चिन्ह वर्तमान हैं। अतः विपरीत लक्षणा द्वारा इन पदों का लक्ष्यार्थ है बुरा किया और न भाने वाले।

गौणी सारोपा लक्षणाः—

"तेरोई मुखारबिंद निंदै अरबिन्दै प्यारी,
उपमा को कहै ऐसी कौन जिय में खगै।"[1]

'मुखारबिंद' पद लाक्षणिक है। मुख उपमेय और अरबिंद उपमान है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके मुख सौन्दर्य को सम्वेदनीय बनाया गया है। इनका आधार भी साहृश्य है।

"हीरा से दसन मुख वीरा नासा कीर चारु,
सोने से सरीर रचि चीर चली धाम को।"[2]

'नासा कीर' पद लाक्षणिक है। इसमें नासा उपमेय और कीर उपमान है। इनका आधार साहृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

"मंजन के आदि ते वै न्यारे हैं सिंगार हार,
अंजन की रेख दृग खंजनु में धारिलै।"[3]

'दृग खञ्जनु' पद लाक्षणिक है। इसमें दृग उपमेय और खंजनु उपमान है। इनका आधार साहृश्य है। दृग पर खंजन का आरोप करके दृग के सौन्दर्य के बिंब को संवेदनीयता प्रदान की गई है।

"सेत संख विधु जोति अंजन जहर सजि,
बक्रधनु अरुन सुमनि संग लाए हैं।
पेम सुरा सूधे धेनु सुन्दर समान रंभा,
'आलम' चपल हय काय के सधाए हैं।
प्रीति मधु पूतरी कलय लच्छी पूरन,
धनन्तरि सुदिष्टि गज गति पलटाए हैं।
काहे को समुद्र मथि देव तान श्रम कीनो,
चौदह रतन तिय नैननि में पाए हैं॥"[4]

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति सं० १९७९, पृ० १० पद सं० २१
२. वही पृ० १०, पद २२
३. वही पृ० १५, पद ३३
४. वही पृ० १५, पद ३४

'सेत संख', 'अंजन जहर', 'वक्रधनु', 'अरुन सुमनि', 'पेमसुरा', सूधे धेनु', 'चपल हय', 'प्रीति मधु', 'पूतरी लच्छी' और 'गज गति' लाक्षणिक पद हैं। इनमें उपमेय और उपमान दोनों वर्तमान हैं। इनका आधार भी सादृश्य है। कवि ने उपमेयों पर उपमानों का आरोप करके समुद्र विमन्थन की उपलब्ध वस्तुओं का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। नेत्रों में सभी रत्नों की व्याप्ति बताकर सांग रूपक का अद्भुत रूपक खड़ा कर दिया है।

"पग डगमगात हेरत हँसत बिरह भुअंगम को डस्यो।"[१]

'विरह भुअंगम' लाक्षणिक पद है। इसमें विरह उपमेय और भुअङ्गम उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। विरह पर भुअङ्गगम के डसने का आरोप करके कवि ने विरह वेदना की भयंकरता को प्रस्तुत किया है। विरह की वेदना के बिंब को सम्वेदनीय बनाने के लिए ही विरह को भुअङ्गम कहना पड़ा है।

गौणी साध्यावसाना लक्षणा :—

"काम रस माते ह्वै करेरी केलि कीन्ही कान्ह,
फूलनि की मालिका ह्व मीड़ि मुरझाई है।"[२]

'फूलन की मालिका' पद लाक्षणिक है। यह पद उपमान है नायिका का कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय की प्रतीति करने का प्रयास किया है इस प्रकार कथ्य भाव गोपनीय रहते हुए भी सहृदयजनों को सुलभ करा दिया है। उपमेय और उपमान का आधार सादृश्य है।

"वदन बिलोकि साध सुधा की बिबुध करें,
कुमुदिनि फूली जानि कुमुद को बन्धु है।
चंपा, सिंह, सारस करिनि, कोकिला, कदलि,
बीजु, बिंब, लीने सब ही को मन बन्धु है।"[३]

'चंपा', 'सिंह', 'सारस' 'करिनि', 'कोकिला', 'बजु' और 'बिंब' लाक्षणिक पद हैं। ये सभी नारी के अवयवों के उपमान हैं। चंपा शरीर का, सिंह कटि का, सारस उरोज का, करिन गति का कोकिला कंठ माधुर्य का कदली जाहु का, बीजु दंत का और बिंब अधर का उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने यहाँ उपमानों के माध्यम से ही नारी सौन्दर्य को संवेदनीय बनाया है।

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९७९, पृ० १५२ पद सं० ३९७
२. वही पृ० २५, पद ५७
३. वही पृ० ३४, पद ७९

" 'आलम' मयंक पूरो परिवा सो ह्वै गयौ है,
कुहू जौ न परै तौ रही हौ कला एक हूँ ।"[१]

'मयंक' तथा 'परिवा' लाक्षणिक पद है । मयंक उपमान है मुख का और परिवा उपमान है विरह जन्य वेदना का । इनका आधार सादृश्य है । कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय का सौन्दर्य संवेदनीय बनाया है । विरह जन्य वेदना के मुख पर लक्षित होने के भाव को कवि ने मयंक पूरो परिवा सो कहकर भाव को प्रस्तुत कर दिया है ।

"फूलि फुलवारी रही उपमा न जाइ कही,
कहाँ धौं सराहौं ताते जोति अधिकानी है ।
'आलम' कहै हो धरी मोतिन की पाँति खरी,
हीरन की काँति छबि देखि कै लजानी है ।"[२]

'फूलि फुलवारी' पद लाक्षणिक है । यह नव यौवना नायिका का उपमान है । उपमान द्वारा ही उपमेय के सौन्दर्य को संप्रेषणीय बनाया गया है ।

'आलमकेलि' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग बड़े स्वच्छ और सस्पष्ट हैं। इनसे काव्य की चारुता की वृद्धि हुई है । भावों की संप्रेषणीयता, संवेदनीयता और बिंब-गोचरता में इन लाक्षणिक प्रयोगों से पर्याप्त सहायता मिली है । इस प्रकार कवि ने इन प्रयोगों द्वारा भावों में तीव्रता उत्पन्न कर दी है । इस लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के कारण इनका काव्य प्रभावशाली हो उठा है और पद-पद पर अभिव्यंजना की दक्षता के भी दर्शन होते हैं ।

'घनानन्द'

रीतिकाल के फुटकर कवियों में कुछ ऐसे कवि हैं, जिन्हें प्रेम के उन्मत्त गायक के रूप में स्वीकार किया गया है । इन्हीं प्रेम के उन्मत्त गायकों में एक प्रमुख गायक घनानन्द थे । घनानन्द अपने आन्तरिक प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य की चौड़ी भूमि चाहते थे । वे रीतिकाल की बँधी-बँधाई रूढ़ियों में उलझना नहीं चाहते थे, क्योंकि रीतिबद्ध काव्य रचना अधिकतर वहिर्वृत्ति के निरूपण में व्यस्त थी और इन्हें अपने हृदयवेग को अन्तर्वृत्ति के निरूपण में लगाना था । इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने रीति से मुक्त होकर एक स्वच्छन्द मार्ग पर अपनी काव्य सरिता को प्रवाहित किया । कला की कारीगरी दिखाने में इन्होंने अपने को परेशान नहीं किया, बल्कि इनके हृदय का वेग ही कविता का रूप धारण करके प्रकट हुआ है । वस्तुतः वे

---

१. आलमकेलि, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति सं० १९७९ पृ० ४७ प० सं० १११
२. वही पृ० १४९ प० सं० ३९१

काव्यमूर्ति थे। इनके काव्य ने ही इनका निर्माण किया था।[1] इनके काव्य में वाणी का विस्तार हुआ है और वे इसकी सीमा से भली भाँति परिचित थे। इन्होंने अपनी रचना में लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पदावली को अपनाकर हृदयानुभूतियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने का अद्भुत कौशल दिखाया है। इसीलिए इनके भावों के कोश का वाणी के द्वारा समुचित रूप से उद्घाटन हो सका। इन्होंने हृदय की अनेक सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों को विरोध मूलक या वक्रोक्ति पद्धति से अभिव्यक्ति किया है। इस सम्बन्ध में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का मत द्रष्टव्य है—

"वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुतः ये ही जानते थे। भावों का कोश वाणी के प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं में थी। हृदगंत अनुभूतियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए भाषा की गति निरंतर बाधित होती रहती है। इन (रीतियुक्त) कवियों ने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पद्धति पर अधिकाधिक चलकर यह बाधा दूर कर दी है।"[2]

घनानन्द कवित्त' के प्रायः प्रत्येक पद में लक्षणा का कोई न कोई स्वरूप अवश्य वर्तमान है। मुहावरों का सुन्दरतम प्रयोग इनकी रचना में पाया जाता है। इस प्रकार इनकी रचना अर्थ की शक्ति से संपन्न होकर सामने आती है। वाग्योग का ऐसा सुन्दरतम विधान रीतिकाल में अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने अलंकृत शैली का व्यवहार अपनी रचना में किया है, पर पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि हृदय की स्थिति का सच्चा आभास देने के लिए। प्रेम की विषमता के निरुपण के लिए इन्होंने 'विरोधाभास' का सहारा लिया है, पर इससे मुहावरे दानी में कहीं बल नहीं पड़ने पाया है। इन्हीं में से कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

निगूढ़ा लक्षणा:—

"पहिलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यों फिरि तेह कै तोरियै जू।
निराधार अधार दै धार-मझार, दई! गहि बाँह न बोरियै जू।
घन आनंद आपने चातिक कों, गुन-बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।
रस प्यास कै प्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यों बिस घोरियै जू॥"[3]

'गहि बाँह न बोरियै' तथा 'बिसास मैं यों बिस घोरियै' लाक्षणिक पद हैं। दोनों मुहावरे हैं। इनका लक्ष्यार्थ है 'सहारा देकर बेसहारा करना' और विश्वास को अविश्वास में बदलना'। अपने इन्हीं लक्ष्यार्थों में ये मुहावरे रूढ़ हो गए हैं।

---

१. 'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोंहि तौ मेरे कवित्त बनावत।' 'घनानन्द कवित्त' सं० वि० प्र० मिश्र, च० सं० पद २०६
२. घनानन्द कवित्त सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रस्तावन, चतुर्थ सं०, पृ० ५
३. घनानन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ४६, पद सं० १४

"जब तें निहारे घन आनंद सुजान प्यारे
तब ते अनोखी आगि लागि रही चाह की ।।"[१]

'आग लगना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है तीव्राकर्षण । इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"जीवनि मूरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस ।।"[२]

'सदाई अमावस' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है सदैव उदासीनता छाई रहती है। अपने इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"हाय दई ! न बिसासी सुनै कछु, है जग बाजति नेह की डौंडी ।"[३]

'है जग बाजति नेह की डौंडी' में डौंडी बजना मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रसिद्ध होना। इसी अर्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अब बिन देखें जान प्यारे यों अनन्दघन,
मेरा मन भँवै भटू, पात ह्वै बधूरे को ।।"[४]

'पात ह्वै बधूरे कों' लाक्षणिक पद है। यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है चक्कर खाते रहना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"जरि बरि छार ह्वै न जाय हाय ऐसी बैसि,
चित्त-चढ़ी मूरति सुजान क्यौं उतारियै ।"[५]

'छार होना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है नष्ट हो जाना। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"तिन्हैं यें सिराति छाती तोहि वे लगति ताती,
तेरे बाँटें आयौ है अँगारनि पै लोटिबो ।।"[६]

'सिराति छाती', तोहि वे लगति ताती' तथा 'अँगारनि पै लोटिबो' मुहावरे हैं। इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः है आनन्द मिलता है, तुमको संताप होता है और दुख सहना। इन्हीं लक्ष्यार्थों में ये मुहावरे रूढ़ हो गए हैं। इस प्रकार के कथन द्वारा जहाँ एक ओर साहित्यिक कलात्मक अभिरुचि का पता लगता है वही दूसरी ओर भंगिमा में वक्रता और चमत्कार भी उत्पन्न होता है।

---

१. घनानन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ४८ प० सं १८
२. वही पृ० ५२ प० सं० २४
३. वही पृ० ५२ प० सं० २५
४. वही पृ० ५८ प० सं० ३५
५. वही पृ० ६८ प० सं० ५१
६. वही पृ० ७२, पद सं० ५६

"अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछू मन भाई सु कीजियै जू।"[१]

'सब सीस चढ़ाय लई' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है सब कुछ स्वीकार कर लिया है। इसी अपने लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"जीवन अधार जान सुनियै पुकार नेकु,
आनाकानी दैबो दैया घाय कै सो लौन है।"[२]

'दैबो घाय लौन है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'कष्ट को और भी कष्ट-दायक बनाना।' इस लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"तपति-बुझावनि अनंदघन जान बिन,
होरी सी हमारे हियें लागियै रहति है॥"[३]

'होरी सी हमारे हियें लागियै रहति है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'हृदय सदैव तुम्हारे विरह में दग्ध रहता है अर्थात् विरहाग्नि जलती रहती है। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

'लखि सूनो सकै कित, रावरो ह्वै, बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ॥"[४]

'बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'विरह नित्य-प्रति कष्ट को बढ़ा रहा है।' अपने इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"पौन को प्रबेश हो न जहाँ घनआनन्द पै,
तहाँ लै कहाँ तैं बीच पारे परबत हैं॥"[५]

'बीच पारे परबत हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'दूर जा बसे हो'। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

'तेरी बाट हेरत हिराने औ' पिराने पल,
थाके ये विकल नैना ताहि नपि नपि रे॥"[६]

'बाट हेरत' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—'प्रतीक्षा करना'। अपने इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

---

१. घनानन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ७६ प० सं० ६८
२. वही पृ० ८१ प० सं० ७१
३. वही पृ० ८३ प० सं० ७४
४. वही पृ० ८४ प० सं० ७६
५. वही पृ० ९६, प० सं० १०३
६. वही पृ० ९९, प० सं० १०६

"बुरो जनि मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु,
रसना के छाले परैं प्यारे नेह-नावं छ्वै ॥"[१]

'रसना के छाले परैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'अत्यधिक कष्ट होना।' इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"पौन सों जागति आगि सुनी ही पै पानी तें लागति आँखिन देखी।"[२]

'पानी ते आगि लागति' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'रोते-रोते हृदय में असह्य वेदना होने लगती है। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"जब तें तुम आवनि-औधि बदी,
तब तें अँखियाँ मग माँपति हैं ॥"[३]

'मग माँपति हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'प्रतीक्षा करना।' इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"आवरी ह्वै बाबरी तू तावरी परति काहे,
ते ह्वाँ घर बसे, ह्याँ उजारि बसि को रहै ॥"[४]

'घर बसाना' तथा 'घर उजाड़ना' मुहावरे हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—'प्रेम करना' और प्रेम को समाप्त करना।" अपने इन्हीं लक्ष्यार्थों में ये मुहावरे रूढ़ हो गए हैं।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाव-भरी,
लसति ललित लोल चख-तिरछानि मैं।"[५]

'लपेटी' लाक्षणिक पद है। वस्त्रादि का लपेटना तो संभव है पर लाज के पक्ष में लपेटना संभव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है 'युक्त'। इस प्रकार कवि ने अवस्था विशेष के नेत्रों की छवि को कलात्मक सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत किया है। 'लपेटी' पद प्रयोग द्वारा लाज की व्यापकता भी व्यक्त की गई है और शब्द को नया आयाम भी मिल गया है।

"झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि ह्वै।
हँसि बोलन मैं छबि-फूलन की बरषा, उर-ऊपर जाति है ह्वै।

---

१. घनानन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० १०१, प सं० १११
२. वही पृ० ११२, प० सं० १३२
३. वही पृ० १३०, प० सं० १६२
४. वही पृ०१३६, प० सं० १७४
५. वही पृ० प० ४०, सं० १

लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै ।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।।"[१]

'काननि द्वै' 'तरंग उठै' तरंग उठै' तथा 'रूप अबै धर च्वै' लाक्षणिक पद हैं। इनका मुख्यार्थ है कानों को छूना, लहर उठना और रूप का चूना कानों को छूकर नेत्र शोभित हैं। इस कथन से काव्य सौन्दर्य में वृद्धि नहीं होती है इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है विशाल नेत्र तरंग का उठना जल में ही संभव है, किन्तु यहाँ अंग में तरंग उठना कहा गया है जो असम्भव है। अत: इसका लक्ष्यार्थ है 'सौन्दर्य' रूप कोई तरल पदार्थ नहीं है जो कि चू पड़ेगा। इस वचन भंगिमा का लक्ष्यार्थ है अत्य-धिक रूपवान होना। इस प्रकार कवि ने विशाल नेत्रों की शोभा, अङ्ग-अङ्ग में सौन्दर्य की कान्ति और श्रेष्ठ स्वरूप का बिंब प्रस्तुत किया है।

"तब तौ छबि पीवत जीवत हे; अब सोचन लोचन जात जरे।"[२]

'छवि पीवत' तथा लोचन जात जरे' पद लाक्षणिक हैं। छवि जल नहीं है कि उसे पीया जा सके और सोच अग्नि नहीं है कि उससे नेत्र जल सकें। अत: इनका लक्ष्यार्थ है—'सौन्दर्य दर्शन' और दुखी होना। इस प्रकार इन पदों को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

"जहाँ ते पधारे मेरे नैननि ही पाँव धारे,
वारे ये बिचारे प्राव पैंड पैंड पै मनौ।"[3]

'नैननि ही पाँव धारे' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है—मेरे नेत्रों पर पैर रखकर गए। किन्तु नेत्रों पर पैर रखकर जाना संभव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मेरे नेत्र निरंतर उनका जाना एकटक देखते रहे। इस वचन भंगिमा से कवि ने स्नेहाभाव के आधिक्य और विरह वेदना दोनों को एक साथ प्रस्तुत करके काव्यानन्द की वृद्धि की है।

"जीवनमूरति जान को आनन है बिनु हेरें सदाई अमावस।"[४]

'सदाई अमावस' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है सदैव अमावस बना रहता है पर इसका लक्ष्यार्थ है सदैव उदासीनता बनी रहती है। इस प्रकार 'अमावस' शब्द को कवि प्रतिभा ने नए अर्थ से मण्डित कर दिया है।

---

१. घनानन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४०, पद सं० २
२. वही पृ० ४५, पद १३
३. वही पृ० ४६, पद २०
४. वही पृ० ५२, पद २४

"देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
मसमी विथा पै नित लंघत करति हैं।"[१]

'निपेटनि' तथा 'लंघन करति हैं' पद लाक्षणिक हैं। इनका मुख्यार्थ है पेटू (अधिक खाने वाली) और भूखे रहना, किन्तु आँखें खा नहीं सकती हैं फिर भूखे रहने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः इनका लक्ष्यार्थ है आँखें अधिक दर्शन चाहती हैं एवं अब दर्शन ही नहीं होता है। इस प्रकार कवि ने वचन वक्र भंगिमा द्वारा काव्य में सौन्दर्य का सृजन किया है।

"सींचे रस रंग अंग-अंगनि अनंग सौंपि
अंतर मैं विषम विषाद-बेलि बै चलै।"[२]

'सींचे' पद लाक्षणिक है। सींचना जल के पक्ष में तो सम्भव है पर अंग-अंग के रस से सींचना असम्भव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है स्नेह उत्पन्न करना। इस प्रकार कथन का अभिप्राय यह है कि—अपने प्रेम के रंग से युक्त मेरे अंगों को काम के हवाले करके और मेरे अन्तर में भीषण विरहाग्नि को अंकुरित करके स्वयं चले गए।

"विष लै बिसार्‌यौ तन, कै बिसासी आपचार्‌यौ,
जान्यौ हुतो मन, तैं सनेह कछु खेल सो।"[३]

'विष' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ जहर है पर इसका लक्ष्यार्थ है 'विरह-व्यथा'। इस प्रकार कवि ने शब्द को एक नए अर्थ से मण्डित किया है।

"तपति उसास, औधि रूँधियै कहाँ लौं दैया,
बात बूझें सौननि ही उत्तर उचारियै।
उड़ि चल्यौ रंग कैसें राखियै कलंकी मुख,
अनलेखें कहाँ लौं न घूँघट उघारियै।।"[४]

'रूँधियै' तथा 'रंग उड़ना' लाक्षणिक पद हैं। वृक्षादि रूँधे जा सकते हैं पर प्राण नहीं। इसी प्रकार रंग कोई पक्षी नहीं है कि उड़ जाएगा। अतः इनका लक्ष्यार्थ है 'प्राण रखना' और विवर्ण होना।

"कित को ढरिगौ वह ढार अहो जिहि मो तन आँखिन ढोरत हे।"[५]

---

१. घनानंद कवित्त, सं० पं० विश्नाथ प्रसाद मिश्र, सं पृ० ५४ प० सं० २६
२. वही पृ० ५५ प० सं० ३१
३. वही पृ० ५८, प० सं० ३७
४. वही पृ० ६८ पं० सं० ५१
५. वही पृ० ८६ पद ८७

'आँखिन ढोरत' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है आँखें ढुलकाना । भाव की स्पष्टता के लिए इसका लक्ष्यार्थ 'कृपा दृष्टि करते थे' ग्रहण किया जाता है।

"सुख मैं मुख चन्द बिना निरखें नख तें सिख लौं विष पागनि है।"[1]

'विष पागनि' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है जहर में लिपटना। पर यहाँ इसका लक्ष्यार्थ है विरह वेदना का व्याप्त होना। इस प्रकार कवि अन्तर दशा का सुन्दर भाव सहृदय तक प्रेषित कर सका है।

"ह्वैं है सोऊ घरी भाग-उघरी अनन्दघन,
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमें।।"[2]

'घरी भाग उघरी,' 'सुरस' बरसि' तथा 'देखिहौ हरी' लाक्षणिक पद हैं। इनका मुख्यार्थ है- खुले भाग्य वाली घड़ी' 'रस बरसना' और हरी देखना और इनका लक्ष्यार्थ है 'सौभाग्य युक्त क्षण,' दर्शन देना एवं प्रसन्न देखना। इस प्रकार की वचन वक्रोक्ति द्वारा कवि ने अभिव्यंजना का सौन्दर्य बढ़ा दिया है।

"जान धन आनन्द यौं दुसह दुहेली दसा-
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।"[3]

'प्रान पिसे चपि चपि रे' लाक्षणिक पद है। प्राण का पिसना और दबना असंभव है इसलिए इस पद का लक्ष्यार्थ 'विरह में घुटना' ग्रहण किया गया है। कवि ने इस प्रकार अन्तर्दशा की मार्मिक अभिव्यक्ति इस प्रसंग में की है।

"घन आनन्द जीवन-रूप सुजान ह्वै पावत क्यौं दृग-प्यास नहीं।
अरु फूलि रहे कुसुमाकर से सु कहूं पहचान की बास नहीं।।"[4]

'दृग-प्यास' फूलि रहे' तथा 'पहचान की बास नहीं' लाक्षणिक पद हैं। इस पद में दृग के पक्ष में प्यास का, कृष्ण के पक्ष में फूलि' का और पहचान के पक्ष में 'बास' का प्रयोग किया गया है। प्यास व्यक्ति का, फूलना और बास पुष्प का धर्म है। अत: इसका लक्ष्यार्थ है दर्शन की चाह, प्रसन्नता एवं नामोनिशान नहीं है।

"उघरि नचे हैं, लोक लाज तें बचे हैं पूरी
चोपनि रचे हैं, सुदरस लोभी रावरे।।"[5]

'उघरि नचे हैं' तथा 'लोक लाज तें बचे हैं' लाक्षणिक पद हैं। इनका मुख्यार्थ है खुल्लमखुल्ला नाच रहे हैं और लोक लाज से दूर ही रहते हैं पर लक्ष्यार्थ है-

---

१. घनआनंद कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं० पृ० ९३ प० सं० ९४
२. वही पृ० ९८ प० १०६
३. वही पृ० १०० प० १०९
४. वही पृ० १०१ प० ११२
५. वही पृ० १०३ प० ११५

बिना किसी की चिन्ता किए नेत्र प्रिय को देखते हैं एवं लोक लज्जा का भी त्याग कर दिया है।

"चूर भयौ चित पूरि परेखनि एहो कठोर, अजौं दुख पीसत।
साँस हियें न समाय सकोचनि, हाय इते पर बान कसीसत॥"[1]

"चूर भयौ चित' तथा 'साँस हियें न समाय' लाक्षणिक पद हैं। इसमें चित के चूर होने की बात कही गई है, पर चित्त कोई वस्तु तो है नहीं कि चूर हो जाए। इसी प्रकार हृदय में श्वाँस नहीं समाती है कहना उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि श्वाँस तो हृदय में ही समाती है। इसलिए इनका लक्ष्यार्थ है चित्त दुखी हो गया है और मुँह से एक बात भी नहीं निकल सकी।

"ह्वै है कौन घरी भाग-भरी पुन्य-पुंज-फरी
खरी अभिलाषनि सुजान पिय भेटिहौं।
अमी-ऐन आनन कों पान, प्यासे नैननि सौं
चैननि ही करिकै, वियोग-ताप मेटिहौं।"[2]

'पुन्य-पुंज-फरी' तथा 'आनन कों पान' लाक्षणिक पद हैं। फलना फल का धर्म है और तरल पदार्थ का पान हो सकता है। इसलिए इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः 'पुण्य के परिणाम स्वरूप मिला हुआ सुख' एवं 'मुख का दर्शन। इसी प्रकार 'प्यासे' पद भी लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है दर्शन की इच्छा रखने वाले।

"दृग नीर सों दीठिहि देहुँ बहाय पै वा मुख कों अभिलाखि रही।
रसना विष बोरि गिरांहि गसौं, वह नाम सुधानिधि भाखि रही॥"[3]

'दीठिहि देहुँ बहाय' तथा 'रसना विष बोरि' लक्षणिक पद है। इनका लक्ष्यार्थ है 'नेत्रों' से देखने की शक्ति समाप्त हो जाए' और जिह्वा को कठोर तम दण्ड देना।

"हम नामं-अधार जिवावत ज्यौं तुम दै बिसवास-बिषै बरसौ।"[4]

'बिषै बरसौ' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है विष की वर्षा करते हो पर लक्ष्यार्थ है विरह जन्म दुख की वृद्धि करते हो।

घनआनंद जीवन-दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।"[5]

हियें परसौ पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है हृदय को स्पर्श करो पर लक्ष्यार्थ 'हृदय में अनुभव करो'।

---

१. घनआनन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० १०४ पद ११७
२. वही पृ० १०५, पद ११९
३. वही पृ० १०६, पद १२१
४. वही पृ० १०९ पद १२७
५. वही पृ० १०९ पद १२८

"न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं।"[१]

'जागे पर सोवित हैं' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है 'जागने पर भी सोती हैं पर इसका लक्ष्यार्थ है आँखें किसी पदार्थ को नहीं देखती हैं। कवि ने आंखों की तन्मयता एवं व्यग्रता को इस वचन वक्रता द्वारा व्यक्त किया है।

"स्रोन सुधाई सनी बतियनि बिना इन काननि लै कहा प्याऊँ।"[२]

'प्याऊ' पद लाक्षणिक है। कान के द्वारा पीना संभव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है 'सुनना'। इस प्रकार कवि ने शब्द को अर्थ से मंडित कर दिया है और इससे अनुभूति में भी तीव्रता आ गई है।

'औसर सम्हारौ न तौ अनआयबे के संग,
दूरि देस जायबे कौं प्यारी नियराति है।"[३]

'दूर देस जायबे' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है दूर देश जाना पर इससे अर्थ की मार्मिकता की सिद्धि नहीं होती है। अतः इसका लक्ष्यार्थ मृत्यु के निकट पहुँचना ग्रहण किया जाता है।

"लोयन लाल गुलाल भरे कि खरे अनुराग सों पागि जगाए।
कै रस-चाँचरि-चौचँद मैं छतिया पर छैल नखच्छत छाए।
भीजि रहे स्रम-नीर सुजान धरौ डग ढ़ीलियै लागो सुहाए।
भोरहू ऐसी खिलारिनि पै, घनआनँद का छल छूटन पाए॥"[४]

'लोयन लाल गुलाल भरे' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है नेत्रों में गुलाल भरा है पर इससे उक्ति सौन्दर्यमयी नहीं होती है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है रात भर जागने के कारण नेत्रों में अरुणिमा छायी है। इसी प्रकार 'नखच्छत' 'स्रम-नीर' तथा डग ढीलियौ पदों द्वारा रति क्रीड़ा की ओर संकेत किया गया है। रति खंडिता नायिक प्रातः आए हुए नायक को इस तरह उपालंभ देती है कि आपके आँखों की अरुणिमा, वक्षस्थल पर के नखक्षत पसीने की बूँद और शरीर की शिथिलता इस बात की सूचक है कि रात आप कहीं अन्यत्र रम कर आए हैं।

"सैननि ही बरस्यौ घनआनंद भीजनि पै रंग रीझनि मोहै।"[५]

'रंग रीझनि मोहै' लाक्षणिक पद है। इसमें रंग के रीझकर मुग्ध होने की बात कही गई है पर जड़ रंग क्या रीझेगा और मुग्ध होगा। इसलिए पद का लक्ष्यार्थ है 'स्नेह स्नेह-सिक्त होकर स्वयं विमुग्ध हो गया अर्थात् प्रियतम के स्नेहाभिव्यक्ति

---

१. घनआनंद कवित्त, सं०पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, सं०पृ० ११६ प०सं० १३६
२. वही पृ० १२६ प० १५५
३. वही पृ० १४४ प० १९०
४. वही पृ० २०१ प० ३११
५. वही पृ० २०२ प० ३१६

द्वारा प्रियतमा स्नेह-सिक्त हो गई। परस्पर की स्नेहावस्था विमुग्ध सी प्रतीत हो रही थी। इस प्रकार की वचन भंगिमा द्वारा कवि ने स्नेहावस्था की उच्च-भूमि की अनुभूति पाठक तथा श्रोता तक संप्रेषित करने का प्रयास किया है।

"झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित-कचाई पाक्यौ
ताके गुन गन घन आनँद कहा गनौ।"[1]

'गुन' पद लाक्षणिक है। विपरीत लक्षणा से इसमें लक्ष्यार्थ अवगुण ग्रहण किया जाता है। समस्त पंक्ति विरोध मूलक वैचित्र से द्युतिमान हो उठी है।

"उजरनि बसी है हमारी अँखियान देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते वसत है।"[2]

'उजरनि बसी है' लाक्षणिक पद है। उजड़ना और बसना में विरोध मूलक वैचित्र्य भी है। 'उजरनि' का लक्ष्यार्थ है उदासी। इसका अभिप्राय यह है कि हमारी आँखों में उदासी छायी है।

"तेरे तौ न लेखो, मोंहि मारत परेखो महा,
जान घनआनँद पै खोइबो लहा लहों।"[3]

'मारत परेखो' और 'खोइबो लहा लहौं' लाक्षणिक पद हैं। मारना तो किसी व्यक्ति के पक्ष में संभव है। पश्चाताप के नहीं। खोना और लाभ पाना में विरोध मूलक वैचित्र है। इस प्रकार इन पदों का लक्ष्यार्थ है-पश्चाताप के दुख से अत्यधिक दुखी और उनके प्रेम में पड़कर सब कुछ भूल जाती हूँ।

"गतिन तिहारी देखि थकिन मैं चली जाति,
थिर चर दसा कैसी ढकी उघरति है।
कल न परति कहूँ कल जो परति होय,
परनि परी हौं जानि परी न परति है।
हाय ! यह पीर प्यारे कौन सुनै, कासों कहौं,
सहौं घनआनंन क्यौं ग्रंतर अरति है।
भूलनि चिन्हारी दोऊ हैं न हो हमारें तात
बिसरनि रावरी हमैं लै विसरति है॥"[4]

---

१. घनआनंद कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र चतुर्थ सं० पृ० २०, प० सं० २०
२. वही पृ० ६७ प० ५०
३. वही पृ० ७५ प० ६१
४. वही पृ० ११६ प० १४४

'ढकी उघरति है, 'परनि परी हौं' तथा बिसरनि रावरी हमैं लै बिसरति है' लाक्षणिक पद हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है 'स्थिर और अस्थिर दशाएँ स्पष्ट नहीं हैं', 'ऐसी अवस्था में हूँ' और आपके भूलने में मैं अपनी सत्ता भूल जाती हूँ। समस्त कवित्त में विरोधाभास का चमत्कार है। इस प्रकार कवि ने अद्भुत लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा विरह जन्य अन्तर्दशा का चित्रण किया है।

गौणी सारोपा लक्षणाः—

"हिय खोपनि चोपनि-कोंपनि झालरि लाज के ऊपर छाय गई।"[1]

'हिय खोपनि' लाक्षणिक पद है। हिय उपमेय और खोपनि (छप्पर) उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है।

छवि को सदन, मोद मंडित बदन चंद,
तृषित चखनि लाल कब धौं दिखायहौ।[2]

'बदन चंद' लाक्षणिक पद है। बदन (मुख) उपमेय और चंद उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"एक बिसास की टेक गहें लगि आस रहे बसि प्रान-बटोही।"[3]

'प्रान-बटोही' लाक्षणिक पद है। प्राण उपमेय और बटोही उपमान है। आधार गुण सादृश्य है। प्राण पर बटोही का आरोप करके कवि ने मरणासन्न दशा का बिंब संवेदनीय बनाया है।

"आस ही अकास-मधि अवधि-गुनैं बढ़ाय,
चोपनि चढ़ाय दीनौ, कीनौ खेल सो यहै।
निपट कठोर ये हो ऐचत न आप-ओर
लाड़िले सुजान सों दुहेली दशा को कहै।
अचिरजमई मोहिं भई घनआनँद यौं
हाथ साथ लग्यौ, पै समीप न कहूं लहै।
विरह समीर की झकोरनि अधीर, नेह-
नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहे।।"[4]

---

१. घनआनंद कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं० पृ० १०८, प० सं १२५
२. वही पृ० ४१ प० सं० ३
३. वही पृ० ४४ प० सं० ९
४. वही पृ० ४६-४७ प० सं० १६

'आशा अकास', 'अवधि-गुनै', और विरह-समीर लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में आशा, अवधि तथा विरह उपमेय हैं एवं आकाश, गुन और समीर उपमान हैं। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है। इस समस्त रूपक में जीव को गुड़ी बनाकर उड़ाने की बात की गई है। समस्त छन्द में कई मुहावरे भी फँसे पड़े हैं जैसे—डोर बढ़ाना, चोप चढ़ाना, खेल करना, हाथ लगा होना आदि।

"सु न जानियै धौं कित छाय रहे दृग-चातिग-प्रान तपे तरसें।"[1]

'दृग-चातिग' लाक्षणिक पद है। दृग उपमेय और 'चातिग' उपमान हैं। इनका आधार गुण साम्य है। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

'आसा-गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती
पूरे पन-सिंधु मैं न बूड़त सकाय हौं।
दुख-दव हिय जारि, अंतर उदेग-आँच
रोम रोम त्रासनि निरन्तर तचाय हौं॥"[2]

'आसा-गुन' 'भरोसा-सिल' 'पन-सिंधु' 'दुख-दव' और उदेग-आँच सभी पद लाक्षणिक हैं। इनमें आशा भरोसा, पन, दुख तथा उदेग उपमेय हैं और गुन, सिल, सिधु, दव एवं आँच उपमान हैं। सबका आधार सादृश्य है। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके बिंब को स्पष्ट एवं संप्रेषणीय बनाया है।

"क्यौं करि थाह लहै घनआनँद चाह-नदी तट ही अति औंडी।"[3]

'चाह-नदी' लाक्षणिक पद है। चाह उपमेय है और नदी उपमान है। इसका आधार गुण सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"उठि न सकत, ससकत नैन-बान बिंधे,
इते हू पै विषम विषाद-जुर लू बरै।
सूरे पन-पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ,
प्रीति बोझ बापुरे भए हैं दबि कूलरे॥"[4]

'नैन-बान' तथा 'हेत-खेत' लाक्षणिक पद हैं। इनमें नैन एवं हेत (प्रेम) उपमेय और बान तथा खेत उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर

---

१. घनआनन्द कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ४७ प० १७
२. वही पृ० ५१ पद २३
३. वही पृ० ५२ पद २५
४. वही पृ० ६६ पद ४९

उपमान का आरोप करके भावों को स्पष्टता तथा बिंब को संवेदनीयता प्रदान की गई है।

"कहाँ ऐतो पानिप बिचारी पिचकारी धरै,
आँसू-नदी नैननि उमगियै रहत है।"[१]

'आँसू-नदी' लाक्षणिक पद है। आँसू उपमेय और नदी उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"विरहा-रवि सों घट-व्योम तच्यौ बिजुरी सी खिवैं इकली छतियाँ।
हिय सागर तें दृग मेघ भरे उघरे बरसैं दिन औं रतियाँ॥"[२]

'विरहा-रवि', घट-व्योम', 'हिम-सागर' और 'दृग-मेघ' लाक्षणिक पद हैं। इनमें विरहा, घट, हिय तथा दृग उपमेय है एवं रवि, व्योम, सागर और मेघ उपमान हैं। आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का पूर्णारोप करके वाष्पीकरण का बिंब संवेदनीय बनाया है। इस प्रकार लौकिक विरहावस्था का अलौकिक चित्र कवि प्रतिभा ने प्रस्तुत किया है।

"चाह-बेली-सफल करन घनआनँद यौं,
रस दै दै उर-आलबालहि भरत हौ।"[३]

'चाह-बेली' तथा 'उर-आलबाहि' लाक्षणिक पद हैं। इनमें चाह एवं उर उपमेय और बेलि तथा आलबाल उपमान हैं। इस प्रकार कवि ने सूक्ष्म बिंबों को स्थूल बिंबों के सहारे स्पष्ट करने तथा संवेदनीय बनाने का प्रयत्न किया है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणाः—

चातिक है रावरो अनौखी मोह आवरो,
सुजान-रूप बावरो, बदन दरसाय हौ।"[४]

'चातिक' पद लाक्षणिक है। यह पद उपमान है स्नेही का कवि ने उपमान के माध्यम से ही उपमेय की प्रतीति कराने का प्रयास किया है। इस प्रकार बिंब को सहृदयजनों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

मोंहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आँहि,
कहा कछू चंदहिं चकोरन की कमी है।"[५]

'चंदहिं' तथा चकोरन पद लाक्षणिक हैं। दोनों पद भगवान तथा भक्त

---

१. घनआनन्द कवित्त, सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ८२ पद ७४
२. वही पृ० ९० पद ८९
३. वही पृ० १३३ पद १६८
४. वही पृ० ४५ पद १०
५. वही पृ० ५७ पद ३३

अथवा प्रेमी एवं प्रेमिका के उपमान हैं। आधार सादृश्य है। कथन में गोपनीयता बनाए रखकर भी कवि ने अनुभूति को संवेदनीय बनाया है।

'आरतिवंत पपीहन को घनआनँद जू पहचानौ कहा तुम।''[1]

'पपीहन' तथा घनआनंद लाक्षणिक पद हैं। दोनों पद भक्त, भगवान अथवा प्रेमिका तथा प्रेमी के उपमान हैं। उपमान द्वारा उपमेय का बोध कराकर कवि ने साहित्यिक सौन्दर्य को मार्मिक एवं अनुभूति की तीव्रता प्रदान की है। इसका आधार सादृश्य है।

''मृदु तौ चित के पन पै इत के निधि हौ हित के, रुचि मीनन की।''[2]

'मीनन' पद लक्षणिक है। यह पद उपमान है भक्त अथवा स्नेही का। आधार सादृश्य है। कवि ने उपमान के माध्यम से ही उपमेय का बोध कराके अनुभूति में तीव्रता और बिंब में संवेदनीयता पैदा कर दी है।

''सुख-स्वेद कनी मुखचन्द बनी बिथुरी अलकावलि भांति भली।
मद-जोवन, रूप छकीं अँखियाँ, अवलोकनि आरस रंग-रलीं।
घनआनँद ओपित ऊँचे उरोजनि चोज मनोज की ओज दली।
गति ढीली लजीली रसीली लसीली सुजान मनोरथ-बेलि फली।।''[3]

'मनोरथ-वेलि फली' लाक्षणिक पद है। 'वेलि' नारी का उपमान है। आधार सादृश्य है। कवि ने उपमान के द्वारा उपमेय का बोध कराया है। समस्त कवित्त में नायिका के स्वरूप का चित्रण किया गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि घनानन्द के काव्य में सर्वत्र लक्षणा का वैभव बिखरा हुआ है। मुहावरे तथा लोकोक्तियों का इतना सुन्दर एवं उचित प्रयोग समस्त रीतिकाल में अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता। इनसे जो लाक्षणिक चित्रात्मकता काव्य में आई है उससे भावों में तीव्रता और संप्रेषणीयता प्रचुर मात्रा में आ गई है। प्रयोजनवती लक्षणा के माध्यम से इन्होंने काव्य में जो लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की छटा दिखाई है, वह तो अनुपमेय ही है। लक्षणा के इस प्रयोग वैचित्र्य की ओर रीति-बद्ध कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। वे शास्त्रीय रूढ़ियों की घिसी-पिटी परम्पराओं के पालन में ही लगे रहे हैं। आचार्य शुक्लजी ने भी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना मत इसी प्रकार प्रकट किया है:—

''लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों में उसके भीतर

---

१. घनआनँद कवित्त, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चतुर्थ सं०, पृ० ११३ पद १३४
२. वही पृ० १३१ पद १६४
३. वही पृ० २०२ पद ३१४

बहुत ही कम पैर बढ़ाया ! एक घनानन्द ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोगवैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी। खेद है कि फिर वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिककाल के उत्तरार्द्ध में अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही, 'अभिव्यंनावाद के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुई।"[१]

घनानन्द ने अपनी रचनाओं में जो लक्षणा का वैभव भर दिया है, यह हिन्दी के छायावादी-काव्य में उपलब्ध होने वाली लाक्षणिकता के लिए पूर्वपीठिका का काम करता है।

'बोधा'

बोधा की गणना रीतिकालीन-काव्य में रीति-मुक्त कवियों में की जाती है। ये एक रसिक कवि थे, इसी कारण इन्होंने रीति-ग्रन्थ न लिखकर अपनी तरंग में कवित्त और सवैयों की रचना की। इनकी रचना 'इश्कनामा' रीतिकाल की एक प्रमुख कृति है। इसका वर्ण्य-विषय श्रृंगार-रस है। इस ग्रन्थ में, इनकी प्रेम भावना की अभिव्यक्ति, मर्मस्पर्शी ढंग से हुई है। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का मत द्रष्टव्य है:—

"प्रेम की पीर' की अभिव्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है।"[२] वस्तुतः ये बड़े ही भावुक और रसज्ञ कवि थे। इससे इनकी रचना के प्रत्येक पद में इनकी प्रेम की उमंग छलक उठी है। इन्होंने अपने काव्य में भावों को स्पष्ट करने के लिए लाक्षणिक चित्रात्मकता की सहायता ली है। इनके काव्य में निरूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणाओं की प्रचुरता है। इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा काव्य की चारुता में वृद्धि हुई है। 'इश्कनामा' में आए हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोगों का यहाँ दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"वरही कर प्रीति पयोधर सों परलै बृजराज के माथे मढ़ै।
पुनि राग सों प्रीति कुरंग करी वह राग कुरंग के श्रिग कढ़ै।।"[३]

'माथे मढ़ै' तथा 'श्रिग कढ़ै' मुहावरे हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है उत्तरदायित्व वहन करना और मृत्यु का कारण बनना। अपने इन्हीं लक्ष्यार्थों में ये मुहावरे रूढ़ हो गए हैं। सहृदय का ध्यान अब इनके मुख्यार्थ की ओर नहीं जाता है।

---

१. हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृ० २९५
२. वही पृ० ३२३
३. इश्कनामा, बोधाकृत, प्रथम बार १८९३ ई०, पृ० २-३ पद ७

"बड़ी आँखें तिहारी लगैं ये लला
लगि जैहैं कहूँ तौ कहा करबौ ।।"[१]

'आँखें लगैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है स्नेह के वशीभूत होना। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है और लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ हो गया है।

"जैसे भये लखि सावन के
अँधेरे नर को सुहरो हरो सूझै ।"[२]

'सावन के अँधरे नर को सुहरो हरो सूझै' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है जैसी भावना होती है वैसी ही प्रतीति होती है। अपने लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"ब्याउर के उर की परपीर कों
बाँझ समाज में जानत को है ।"[३]

सम्पूर्ण पद एक मुहावरा है 'बाँझ कि जान प्रसव की पीरा।' इसका लक्ष्यार्थ है जो दुख सहे होता है वही दुख के दर्द का अनुमान कर सकता है। अपने इसी लक्ष्यार्थ में यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"नेह तज्यौ घर सों बर सों बरहू बटपार के हाथ बिकाने ।
त्यागि तिन्हैं तिनुका करि कूबरी हाथ लै अधिक रात पराने ।।"[४]

'हाथ बिकाने' तथा 'तिनुका करि' मुहावरे हैं। इनका लक्ष्यार्थ है—आत्म-समर्पण करना और कहीं का न रखना। ये मुहावरे इन्हीं लक्ष्यार्थों में ही रूढ़ हो गए हैं।

"बोधा दशा अपनी कहु भृंग
किधौं कछु गाँठि तें माल हिरानो ।"[५]

'गाँठि ते माल हिरानो' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पास की सुरक्षित संपत्ति का खोना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"रति को ना नेवारी नेवारी व्यथा मन मारी नहीं मन क्यों मथिये ।"[६]

'मन मथिए' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है परेशान करना। अपने इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्रथमबार, १८९३ ई०, पृ० १४ पद १८
२. वही पृ० १६ पद २५
३. वही पृ० २५ पद १
४. वही पृ० २६ पद ५
५. वही पृ० २९-३० पद १७
६. वही पृ० ३१ पद २१

"पातहू के खरकै छरकै
धरकै उर लाय रहै सुकुमारी।"[1]

पातहू के खरके' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ थोड़ा-सा भी सन्देह होने पर सावधान हो जाना। यही लक्ष्यार्थ ही इस मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा —

"प्रीति करै कमलनि कसि, जनु मनु पीस।
तब कस चढ़ै न मितवा, सिव के सीस॥"[2]

'पीस' पद लाक्षणिक है। तन तथा मन के पक्ष में पीस शब्द का प्रयोग किया गया है। तन एवं मन का पिसना संभव नहीं है। इस पद का लक्ष्यार्थ है मिटाकर इस प्रकार पीसने शब्द को लक्षण-लक्षणा-शक्ति द्वारा नया अर्थ प्रदान किया गया है।

"यह प्रेम को पन्थ हलाहल है
सु तौ वेद पुरानऊं गावत हैं।"[3]

'हलाहल' पद लाक्षणिक है। पन्थ का हलाहल होना संभव नहीं है। इसका लक्ष्यार्थ है दुखदायी। कवि ने दुखदायी न कहकर प्रेम पन्थ को हलाहल कहकर भाव में तीव्रावेग पैदा कर दिया है।

"बाल रमै मधु मास छकी
यह क्वैलिया पापिनि पीसई डारति।"[4]

'पीसई' लाक्षणिक पद है। कोयल का पीसना संभव नहीं है। इसका लक्ष्यार्थ है अत्यधिक दुखी करना। यहाँ शब्द को अर्थ का नया आयाम कवि द्वारा प्रदान किया गया है।

"ता मृगनैनी की चाह चितौनि
चुभी चित्त मैं चित्त सो पहिचानत।"[5]

'चुभी' पद लाक्षणिक है। चुभना तो किसी नोकदार वस्तु का संभव है पर यहाँ चाह का चुभना कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है चाह का हृदय में स्थान बना लेना।

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्र० बा०, १८९३ ई०, पृ० ३३ प० सं० २७
२. वही पृ० ३ प० सं० ८
३. वही पृ० ३ प० सं० १०
४. वही पृ० १०-११ प० सं० ८
५. वही पृ० १३ प० सं० १५

"मुसकाइ कै बोलै तौ बाट परै
नखहू शिख लौं विष सों भरिहै ।"[1]

'विष' पद लाक्षणिक है। नख से शिख तक विष भरना तो संभव नहीं है। विष का यहाँ लक्ष्यार्थ है काम भावना को अथवा स्नेह को प्रज्वलित करना। इस प्रकार कवि ने विष शब्द को एक नए अर्थ से यहाँ मंडित कर दिया है। यही लक्षण-लक्षणा का नए अर्थ की शोध का कार्य है।

"कुचन बीच मनु उरझो, सकै न छोरि ।
रघवा लै चित अँटको, सँकरी खोरि ।।"[2]

'उरझो' तथा 'अँट को' पद लाक्षणिक हैं । किसी वस्तु का उलझना और अँटकना तो संभव है पर मन और चित्त का नहीं। अतः इनका लक्ष्यार्थ है विमुग्ध होना।

"जिहि गिरवर कर धारिसि, तारसि गीध ।
तेहि चरनन कवि बोधा, मो मनु बीध ।।"[3]

'बीध' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है विद्ध करना अथवा छेदना। इस बरवै में इसका लक्ष्यार्थ है, मन में स्नेह पैदा हो गया है। इस प्रकार शब्द को अर्थ का नया आयाम प्राप्त हो गया है।

"कवि बोधा छूटें सुख स्वाद सबै
बिन काज हनाहक जीव जरै ।"[4]

'स्वाद' तथा 'जरै' पद लाक्षणिक हैं। स्वाद तो किसी वस्तु को खाकर जाना जा सकता है पर सुख ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे खाया जा सके। इस प्रकार जीव का जलना भी संभव नहीं है क्योंकि जीव सूक्ष्म है और अजर अमर है। अतः इन पदों का लक्ष्यार्थ है आनन्द और कष्ट सहना। यह नव अर्थ की शोध का कार्य लक्षण-लक्षणा द्वारा ही सम्पन्न होता है।

"दहिये विरहानल दाहन सों निज पापन तापन को सहिये ।
चहियै सुख तौलौं रहै दुख कै दृग वारियै बोधन कै चहिये ।।
कवि बोधा इते पै हितू न मिलै मनकी मनही मै पचै रहिये ।
गहिये मुख मौन भई सो भई अपनी करि काहू सों का कहिये ।।"[5]

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्र० बा०, १८९३ ई०, पृ० १५ प० सं० २१
२. वही पृ० १८, प० सं० ३०
३. वही पृ० १८, प० सं० ३१
४. वही पृ० १९, प० सं० ३५
५. वही पृ० २२, प० सं० २

'तापन' तथा 'पचै' लाक्षणिक पद हैं। इनका मुख्यार्थ है जलन और पचाना किन्तु पाप अग्नि नहीं है कि उसमें जलन हो और मन की बात या विचार खाद्य-पदार्थ नहीं है कि उसे पचाया जा सके। अतः इनका लक्ष्यार्थ है दुख देना और प्रकट न करना। इस प्रकार इन शब्दों को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

"हिय फाटो तू मेरी जोवान सुने
उन ते घटि कमै बखानतु है।"[1]

'फाटो' पद लाक्षणिक है। फटना किसी वस्तु का संभव होता है पर यहाँ हृदय का फटना कहा गया है जो संभव नहीं है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है हृदय का दुखी होना अथवा अप्रसन्न होना। फटने से वस्त्र के अलग-अलग जिस तरह टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार दो हृदयों में स्नेह का सम्बन्ध जो तादात्म उपस्थित करता है अप्रसन्नता द्वारा पुनः दोनों हृदय दो खंडों में विलग हो जाते हैं।

गौणी सारोपा लक्षणा—

"तव नेह नफा दिल मोल कियो
छवि आपनी लैकै बयाने दई।"[2]

'नेह नफा' लाक्षणिक पद है। नेह उपमेय है और नफा उपमान। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को स्पष्ट तथा संप्रेषणीय बनाया है। स्नेह को व्यावारिक स्वरूप में रखकर स्वार्थपूर्ण स्नेह का स्वरूप इस पद में स्पष्ट किया गया है।

"घाटन बाटन हाटन मैं
मृगतृष्णा तरंगिनि लौं तरियै लैं।"[3]

'मृगतृष्णा तरंगिनी' लाक्षणिक पद है। मृगतृष्णा उपमेय और तरंगिनि उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"सब जग देख्यौ बोधा, एक न दीख।
देह भिखारी दिल को, दरसन भीख।"[4]

'देह भिखारी' तथा 'दरसन भीख' लाक्षणिक पद हैं। देह एवं दरसन उपमेय हैं और भिखारी तथा भीख उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भावों को संप्रेषणीय बनाया है।

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्र० बा० १८९३ ई०, पृ० २८, प० सं० ११
२. वही पृ० ६, प० सं० १९
३. पृ० ७ प० सं० २१
४. वही पृ० ७ प० सं० २४

"बसु रे बसु राधे के पायन मैं
मन जोगिया प्रेम वियोगिया रे ।।"[1]

'मन जोगिया' पद लाक्षणिक है। मन उपमेय और जोगिया उपमान है। इनका आधार सादृश्य साम्यता है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"प्रेम कोठरी कुलुफ लख, बोधा कठिन अपार।
रची जुलुफ महबूब की, रुचिर कंचुकी तार ।।"[2]

'प्रेम कोठरी' पद लाक्षणिक है। प्रेम उपमेय तथा कोठरी उपमान है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

"कवि बोधा मनोज के ओजनि सों
विरही-तन तूल भयो जरिहै।"[3]

'तन तूल' लाक्षणिक पद है। तन उपमेय और तूल उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। तन पर तूल का आरोप करके बिंब की जलनशीलता के बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"पहिचाने प्रेम रकाने जे
बेपरद दरद दरियाव हिलै।"[4]

'दरद दरियाव' लाक्षणिक पद है। इसमें दरद उपमेय और दरियाव उपमान है। इनका आधार विस्तार साधर्म्य साम्य है। 'दरद' के बिंब को दरियाव के आरोप द्वारा संप्रेषणीय बनाया गया है।

"मन भृंग अहे अहरात कहा
बसु रे बसु गोरी के पायन मैं ।।"[5]

'मन भृंग' लाक्षणिक पद है। मन उपमेय और भृंग उपमान है। इनका आधार गुण साम्य है। मन की चंचलता के बिंब को भृंग के आरोप द्वारा संवेदनीय बनाया गया है।

"दहिये विरहानल दाहन सों
निज पापन तापन को सहिये ।।"[6]

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्र० बा० १८९३ ई०, पृ० १७ प० सं० २७
२. वही पृ० २४, प० सं० ९
३. वही पृ० ३४, प० सं० २
४. वही पृ० ९, पद सं० ४
५. वही पृ० १७, प० सं० २६
६. वही पृ० २२, पद सं० २

'विरहानल' पद लाक्षणिक है। विरह उपमेय और अनल उपमान है। इनका आधार साद्दश्य है। विरह की कष्टदायी प्रवृत्ति का बिंब अनल के आरोप द्वारा संप्रेषणीय एवं संवेदनीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

"लखि चीकने पातन पेड़ बड़ो रहै फूलन सों छवि छाइ सबै।
तकि ऐसो सुबास सुवा बिल सो पलिबे की तहाँ सचु पाइ सबै॥
कवि बोधा भुवान फँसो फल में पछितात विदा यहि माँगि अबै।
सठ सेमर ने यह ज्वाब दयो हम सों तुम सों पहिचान कबै॥"[१]

'सुवा' तथा सेमर पद लाक्षणिक हैं। सुवा उपमान है प्रेमी का और सेमर उपमान है प्रेमिका का। इनका आधार गुण साद्दश्य है। इस प्रकार कथन की गोपनीयता को स्थापित करते हुए कवि ने सहृदय-जनों तक अपने भावों को संप्रेषित कर दिया है।

'बिन स्वाद पुरानी लता सिगरी तिनहू मैं कछू गुन ज्ञान न तो।
लखि केतकी और नेवारी जुही मनमानै न सेवती बीच रतो॥
कवि बोधा न प्रापति आदर को दरकार करो करि येक मतो।
यहि आसरे या बगिया बिलम्यौ वा चमेली नबेली सो नेह हतो॥"[२]

'पुरानी लता' तथा 'चमेली' लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद उपमान हैं पुरानी प्रेमिका और नवीन प्रेमिका के। इस प्रकार कथन की गोपनीयता के साथ कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"कछू मालती के बिछुरे तब ते
भ्रमरै भहिरेवे की वाय लगी।"[३]

'मालती' तथा 'भ्रमरै' पद लाक्षणिक हैं। दोनों पद उपमान हैं प्रेमिका और प्रेमी के। कवि ने स्नेह की गोपनीय अवस्था को मालती और भ्रमर के माध्यम से संवेदनीय बनाया है।

'इश्कनामा' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग हृदय को संवेदनशील बनाने की पर्याप्त सामर्थ्य रखते हैं। कवि ने अन्तर्वृत्तियों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए लाक्षणिक चित्रात्मकता की सहायता ली है। इन लाक्षणिक बिंबों की गोचरता से काव्य में सौष्ठव एवं भाव में तीव्रता और संप्रेषणीयता आ गई है।

---

१. इश्कनामा, बोधाकृत, प्र० बा०, १८९३ ई०, पृ० २८, पद सं० १३
२. वही पृ० ३०, पद २०
३. वही पृ० ३१, पद २२

ठाकुर

ठाकुर स्वच्छन्द काव्य-धारा के गण्यमान कवि हैं। इनकी रचनाओं के दो संग्रह 'ठाकुर ठसक' और 'ठाकुर शतक' नाम से पाए जाते हैं। कुछ कवित्त, सवैयों में तो अवश्य भिन्नता है, पर अधिकतर पद दोनों में समान ही हैं। 'ठाकुर ठसक' का पाठ अधिक शुद्ध प्रतीत होता है। ठाकुर के काव्य में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता सर्वत्र वर्तमान है। इनकी अनुभूति में तीव्रता, कल्पना में यथार्थता और शब्द-चयन में आडम्बर का अभाव है। बोल-चाल की चलती भाषा में अपने भावों को इन्होंने व्यक्त किया है, इसलिए इनके काव्य में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इन सभी प्रयोगों में लक्षणा की चित्रात्मकता वर्तमान है। ठाकुर प्रधानतः शृङ्गारी कवि थे फिर भी इनके काव्य में लोक व्यवहार के अनेक पक्षों का सन्निवेश हुआ है। ऐसे प्रसंगों पर भी लाक्षणिक पदावली द्वारा इन्होंने भावों को संप्रेषणीय बनाया है। यहाँ पर ऐसे ही कुछ लाक्षणिक प्रयोगों को दिया जा रहा है।

निरूढा लक्षणा :--

"या जग में फिर जीबो कहा जब आँगुरी लोग उठावन लागे।"[१]

'आँगुरी लोग उठावन लागे' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है कलंकित होकर जीना। यही लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ के रूप में रूढ़ हो गया है।

"थोरिहि बात में धोखो मिटो बढ़ियाई भई कलई कढ़ि आई।"[२]

'कलई कढ़ि आई' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है सत्यता प्रकट हो गई है। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"जो विष खाय सौ प्राण तजै, गुड़ खाय सो काहे न कान छिदावै।"[3]

'गुड़ खाय सो काहे न काम छिदावै' एक लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है लालच में पड़कर कष्ट सहना पड़ता है।

"राजा ह्वै कै तजै न्याउ संगी ह्वै कै करै घाउ,
बारी खेत खाय तो उपाय कहा कीजिये।"[४]

'बारी खेत खाय तो उपाय कहा कीजिये' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है

---

१. ठाकुर ठसक, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति सं० १९८३ पृ० ३८, पद सं० १४९

२. वही पृ० ३८, पद १५०

३. वही पृ० ३८, पद १५२

४. वही पृ० ३८, पद १५४

'रक्षक ही भक्षक हो जाए' अथवा शुभेच्छु ही अपकार करने लगे। इसी लक्ष्यार्थ में ही लोकोक्ति रूढ़ हो गई है।

"मीर बड़े-बड़े जात बहे तहं ढोलिये पार लगावत का है।"[१]

'ढोलिये पार लगावत को है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'तुच्छ व्यक्ति की कौन गणना करता है अर्थात् तुच्छ व्यक्ति का क्या महत्व है। अपने लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"री अब तो घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हैं धूर दई है।"[२]

'तुम्हें धूर दई है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है तुम्हें ललकार दिया है। इसी अपने लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अपने अटके सुन एरी भटू निज सौत के माइके जइयत है।"[३]

'अपने अटके सौत के मायके जइयत है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अपना स्वार्थ होने पर शत्रु के घर भी जाना पड़ता है। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"सब रैन परी न खिझाओ हमें अबै सेर में पोनी कती नहियां।"[४]

'अबै सेर में पोनी कती नहियां' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है 'अभी तो सारा समय शेष है'। यह लोकोक्ति इसी लक्ष्यार्थ को ही व्यक्त करती है।

"मूसर चोट की भीति कहां बजिकै जब मूँड़ दियो ओखरी में।"[५]

'मूसर चोट की भीति कहां जब मूड़ दियो ओखरी में' मुहावरा है इसका लक्ष्यार्थ है 'जब जान बूझकर संकटों में आ पड़े हैं तो उनसे भय क्यों माना जाए'। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"हमें को गनै कासों परोजन है बुनिबे में न बीन बजाइबे में।"[६]

'बुनिबे में न बीन बजाइबे में' एक लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है महत्व हीन होना। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह पद रूढ़ है।

"अधिरात भई हरि आए नहीं हमें ऊमर को सहिया करिगे।"[७]

'ऊमर को सहिया करिगे' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है गूलर के कीड़े की

---

१. ठाकुर ठसक, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९८३, पृ० ३९, पद सं० १५६
२. वही पृ० ३९, पद १५७
३. वही पृ० ३९, पद १५८
४. वही पृ० ३९, प० १५९
५. वही पृ० ३९, प० १६०
६. वही पृ० ४०, प० १६२
७. वही पृ० ४०, प० १६५

तरह हमें अपने आश्रित कर गए। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"नाध नधो है तिहारे पिया सतरातीं कहा कोउ स्यान सिखैहै।"[१]

'नाध नधो है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'कार्य व्यस्त होना।' इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"चल दूर भट्ट हौं वृथा भटकी लगें दूर के ढोल सुहावने रे।"[२]

'दूर के ढोल सुहावने लगते हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अपने निकट-वर्ती व्यक्ति व्यवहारिक यथार्थता के कारण बुरे प्रतीत होते हैं और दूर का व्यक्ति जिससे हमारा व्यवहारिक सम्बन्ध नहीं है भला लगता है पर इसमें सचाई नहीं है। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"माया मिली नहिं राम मिले दुविधा में गए सजनी सुनु दोऊ।"[३]

'दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है एकाग्रचित्त से एक ही इष्ट की साधना करनी चाहिए तभी सफलता मिल सकती है।

"बिन आपने पायें बिवाई गए कोऊ पीर पराई न जानत है।"[४]

सम्पूर्ण पंक्ति एक मुहावरा है। जिसका लक्ष्यार्थ है दुखी व्यक्ति ही दूसरे के दुख का अनुभव कर सकता है। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

"आँधरे साहब के घर में दमरी को हिसाब हजारा को जौ लों।"[५]

पूरी पंक्ति में लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है जो महत्वपूर्ण है उसे तो महत्व नहीं दिया जाता और जो नगण्य है उसे अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इसी लक्ष्यार्थ को ही लोकोक्ति व्यक्त करती है।

"ऊधो जू दोष तुम्हें न उन्हें हम लीन्हीं है आपने हाथ ही बीछी।"[६]

'अपने हाथ में बीछीं लेना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है स्वयं जान-बूझ कर दुखों में आ पड़ना। इसी लक्ष्यार्थ को ही यह मुहावरा व्यक्त करता है।

---

१. ठाकुर ठसक, सं० लाला भगवानदीन, प्रथमावृत्ति, सं० १९८३ पृ० सं० ४०, पद सं० १६७
२. वही पृ० ४१, पद १७३
३. वही पृ० ४०, पद १७५
४. वही पृ० ४२, पद १७६
५. वही पृ० ४२, पद १७८
६. वही पृ० ४२, पद १७९

"हिलिमिलि भाँति भाँति हेत करि देख्यो तऊ
चेट की चबाइन के पेट की न पाई मैं ।।"[1]

'पेट की न पाई' लाक्षणिक पद है । इसका वाच्यार्थ है पेट का न पाना पर लक्ष्यार्थ है-गुप्त विचार का पता न लगना। पेट की न पाई' अपने लक्ष्यार्थ ही रुढ़ हो गया है और भाषा में इसे मुहावरे के रूप में प्रयोग किया जाता है ।

अब रैहै न रैहै यही समयौ,
बहती नदी पाँव पखार लैरी ।।"[2]

'बहती नदी पांव परवार लैरी' लाक्षणिक पद है । इसका वाच्यार्थ है बहती नदी पैर धोलो, पर लक्ष्यार्थ है अवसर से लाभ उठा लो । इसी लक्ष्यार्थ में ही यह रूढ़ हो गया है । और अब भाषा में मुहावरे के रूप में प्रयोग किया जाता है ।

"दस बार बीस बार बरज दई है याहि
एते पै न मानै तौ पै जरन बरन देव ।"[3]

'दस बार बीस बार' और जरन बरन देव' मुहावरे हैं । इनका लक्ष्यार्थ है-अनेकों बार तथा कष्ट सहने दो अथवा दुख उठाने दो । इन्हीं लक्ष्यार्थों में ही ये मुहावरे रूढ़ हो गए हैं ।

"देखति हौं वृज की लुगाइन भयौ धौं कहां
खेत की केहे तो खरियान की समझती ।।"[4]

'खेत की कहे तो खरियान की समझतीं' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है कि-कहने वाला कुछ कहे पर समझने वाला कुछ और ही समझता है । इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है ।

"बरुनीन में नैन झुकैं उझकैं, मनौं खंजन प्रेम के जाले परे ।
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अँगुरीन के पोरन छाले परे ।।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहियै निज प्रीति करे के कसाले परे ।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे ।।"[5]

'छाले परे', 'कसाले परे' तथा 'ताले परे' मुहावरे हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है-आत्यधिक कष्ट होना, दुखदाई और अवसर न प्राप्त होना । इन्हीं लक्ष्यार्थों में ही ये मुहावरे रूढ़ हो गये हैं ।

१, ठाकुर शतक, सं० बाबू काशी प्रसाद, सं० १९६१ पृ० ५ पद सं० १४
२. वही पृ० ९ प० सं० २६
३. वही पृ० १३ प० सं० ३६
४. वही पृ० १५ प० सं० ४०
५. वही पृ० १६ प० सं० ४४

"दूध की माखी उजागर बीर
सुहाइ मैं आँखिन देखत खाई।"[१]

दूध की माखी खाई' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है बुराई तथा बदनामी को स्वीकार कर लेना। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

" हौं करिहौं हित फूलौं फिरं
मन जानत नहिं अजान है येतौ।"[२]

'फूल्यौ फिरं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है आनन्दित होना। यह मुहावरा अपने लक्ष्यार्थ में ही रूढ़ हो गया है।

"स्याम कौ बुलाइ पिय पाइ कै सुनायो सुख
स्याम स्याम स्यामा सौ कहायौ बीस बेर कै।"[३]

'बीस बेर' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अनेकबार। अपने लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अब होन दे बीस बिसैरी हँसो
हिरदै बसी मूरति साँबरी री।"[४]

'बीस बिसै' एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पूर्ण रूप से। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा लोक प्रसिद्ध है।

'फूलो न मोहिं अकेली निहरि कै
भूल्यौ ना तुम गाय चरैया।।"[५]

'फूलो न' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ प्रसंग गत है अभिमान न करो। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"ह्वै है नहीं मुरगा जिहि गाँव
भटू तिहि गाँव का भोर न ह्यै है ?"[६]

'बिन मुर्गा के क्या सवेरा नहीं होता ?' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ यह है कि किसी के लिए कोई काम रुका नहीं रहता है। अपने इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

---

१. ठाकुर शतक, सं० बाबू काशी प्रसाद, सं० १९६१ पृ० १६ प० सं० ४५
२. वही पृ० १७ प० सं० ४७
३. वही पृ० १७ प० सं० ४८
४. वही पृ० १८ प० सं० ५१
५. वही पृ० २१ प० सं० ५९
६. वही पृ० ३० प० सं० ८४

"अब ऊधो सुनो यह प्रीत की रीत
जु काछिये काछ सुई नचिये ।।"[१]

'जु काछिये काछ सुई नचिये' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है जैसा रूप हो वैसा कार्य भी करना चाहिए। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"ऊधौ जु दोष तुम्हैं न उन्हें हम
आपुही पाँव पै पाथर पारे ।।"[२]

'आपुही पाँव पै पाथर पारे' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अपने आप को दुख दे दिया है। इसी लक्ष्यार्थ में यह मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"या कुल रीत बड़ेन को प्रीत
जो बाँहि गहे की निबाहियतु है ।।"[३]

'बाँहि गहे' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है आश्रय देना अथवा शरण देना। अपने लक्ष्यार्थ में ही यह मुहावरा रूढ़ गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"धिक कान जो दूसरी बात सुनै अब सुनै अब एकही रंग रही मिलि डोरी।
दूसरो नाम कुजात कढै रसना जो कहै तो हलाहल बोरी ।।
ठाकुर यों कहती ब्रजबाल सुह्यां बनिता को सुभाव है भोरो।
ऊधो जू वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि तकैं तन गोरो ।।

'हलाहल बोरो' तथा 'जरि जायँ' लाक्षणिक पद हैं। इनका मुख्यार्थ क्रमशः जहर में डुबाना और जल जाना है किन्तु इनका लक्ष्यार्थ है मृत्यु वेदना की तरह यातना देना एवं नष्ट हो जाना। इस तरह कवि ने लक्षण के माध्यम से शब्द को अर्थ का नया आयाम दे दिया है।

'प्रीति हमैं तुमैं टूटि गये की
अबै लों प्रीतत न मानत कोऊ ।।"[४]

'टूटि' पद लाक्षणिक है। टूटना तो किसी वस्तु का सम्भव है पर यहाँ प्रीति के पक्ष में इसका प्रयोग किया गया है। इसका लक्ष्यार्थ है समाप्त हो जाना। प्रीति का टूटना कहकर भाव में तीव्रावेग पैदा किया गया है। इस तरह लक्षणा-शक्ति के द्वारा नए अर्थ की शोध की गई है।

---

१. ठाकुर शतक, सं० बाबू काशी प्रसाद, सं १९६१ पृ० ३५ प० सं० ९९
२. वही पृ० ३६ प० सं० १०१
३. वही पृ० ३७ प सं १०५
४. वही पृ० १, पद सं० २

"जा दिन जान लगे परदेश कौं,
रौंदि हियौ छतिया पै गली करी ।"[१]

'रौंदि' तथा 'गली करी' लाक्षणिक पद हैं । इनका मुख्यार्थ क्रमशः कुचलना और रास्ता बनाना है । हृदय को कुचलना और छाती पर रास्ता बनाना सम्भव नहीं है । इन पदों का लक्ष्यार्थ है हृदय को दुखी करना एवं छाती में विरह वेदना पैदा करना । इस तरह लक्षण-लक्षणा द्वारा इन पदों को अर्थ का नया आयाम मिल गया है ।

"घींच में मीच न नीचहिं सूझत,
मोह की कीच के बीच फँस्यो है ।"[२]

'कीच' पद लाक्षणिक है । इसका मुख्यार्थ है कीचड़ । मिट्टी में ही कीचड़ होना सम्भव है पर मोह में कीचड़ होना सम्भव नहीं है । वस्तुतः इसका लक्ष्यार्थ है उलझाने या फँसाने का साधन । इस तरह कवि ने कीच शब्द को एक नया अर्थ दे डाला है और साथ ही साथ मोह के प्रति घृणा की भावना भी अभिव्यक्त हो गई है ।

"ठाकुर हौं अजामेल ते आगरो पापी उजागरो यों हितयौ रे ।
रावरी और चितौत चितौत किते दिन बीते न तूँ चितयौ रे ।।"[३]

'अजामेल ते आगरो', 'चितौत' तथा 'न चितयौ' लाक्षणिक पद हैं । इनका मुख्यार्थ क्रमशः है—अजामिल से बढ़कर, देखना एवं न देखना पर मुख्यार्थ से भाव स्पष्ट नहीं होता है । इन पदों का लक्ष्यार्थ है महान पापी, आशा करना एवं कृपा न करना । इस तरह इन पदों द्वारा नया अर्थ लक्षित किया गया है ।

"अब का समझावती को समझै बदनामी के बीजन बोय चुकी री ।
इतनो हूँ विचार करौ तो सखी यह लाज की साज को धोय चुकी री ।।[४]

'बीजन बोय' तथा 'साज को धोय' लाक्षणिक पद हैं । इनका वाच्यार्थ है बीज बोना और वस्त्रादि धोना । बदनामी का बीज होता नहीं है जिसे बोया जा सके एवं लज्जा की साज-सज्जा नहीं होती है जिसे कि धोया जा सके । अतः यहाँ पर इनका लक्ष्यार्थ कारण उत्पन्न करना और समाप्त करना है अर्थात् बदनामी का कारण अब उत्पन्न करके व्यर्थ में उससे बचने के लिए किसी को क्यों समझाने का प्रयत्न करती हो । ऐ सखी इतना तो तुम्हें सोच ही लेना चाहिये कि तुमने लोक-लज्जा को समाप्त कर दिया है ।

---

१. ठाकुर शतक, सं० बाबू काशी प्रसाद, सं १९६१, पृ० ७, प० सं० १९
२. वही पृ० १२, प० सं० ३४
३. वही पृ० १४, पं० सं० ३९
४. वही पृ० १५, पं० सं० ४२

"कवि ठाकुर वे पिय दूर वसैं तन मैन मरोर मरेरती सी।
यह पीर न पावति आवति है फिर पापिनी पावस पेरती सी ।।"[१]

'मरोर मरेरती' तथा 'पेरती' पद लाक्षणिक हैं। इनका क्रमशः मुख्यार्थ है मरोड़ना और पेरना, पर न ही व्यक्ति मरोड़ा जा सकता है और न ही पेरा। दोनों पदों का लक्ष्यार्थ है वेदना अथवा दुख देना। इस तरह इन पदों को लक्षण-लक्षणा द्वारा नया अर्थ प्रदान किया गया है!

"खूँद डारी धरनि सरन जल पूरि डारे,
चूर करि डारे सुख विरही तियान के।"[२]

'खूँद' तथा 'चूर' लाक्षणिक पद हैं। इनका वाच्यार्थ है खूनना और चूर करना पर धरती को बादल खून नहीं सकते और न ही सुख कोई वस्तु ही है कि उसे चूर किया जा सके। अतः इनका लक्ष्यार्थ है वर्षा से धरती नम हो गई और विरहिणी की विरह व्यथा बढ़ गई अर्थात् उसके सुख का अन्त हो गया।

'जो अपनो हितकारी महा,
तिनसौं कहूँ डीठ मरोरियतु है।"[३]

'डीठ मरोरियतु है' लाक्षणिक पद है। दृष्टि का मरोड़ना सम्भव नहीं है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है नाराजगी दिखाना अथवा अप्रसन्नता प्रकट करना।

"ठाकुर कहत या जहान मैं जबर फैलो,
मैली भई मति कछु जतन बतावरी।"[४]

'मैली' लाक्षणिक पद है। इसका मुख्यार्थ है गन्दा होना। कपड़ा आदि के पक्ष में ही मैला होना कहना सम्भव है किन्तु यहाँ मति को मैला होना कहा गया है। इसका लक्ष्यार्थ है बुद्धि का भ्रष्ट होना।

गौणी सारोपा लक्षणा:--

"गुन गाहक सौं बिनती इतनी हकनाहक ना हठ गावने हैं।
यह प्रेम बजार के अन्तर सो पर नैन दलाल अँकावने हैं।।
कहि ठाकुर औगुन छोड़ि सबै परवीनन लै परखावने हैं।
अब देखि विचारि निहारि कै माल जमा पर दाम लगावने हैं।।"[५]

'प्रेम बजार' तथा 'नैन दलाल' लाक्षणिक पद हैं। प्रेम एवं नैन उपमेय हैं

---

१. ठाकुर शतक, सं० बाबू काशीप्रसाद सं० १९६१, पृ० १८ पद सं० ५०
२. वही पृ० १९ पद सं० ५४
३. वही पृ० २४ पद सं० ६६
४. वही पृ० ३३ पद सं० ९३
५. वही पृ० २५ पद सं० ६९

और बजार तथा दलाल उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके उपमेय के कार्य-व्यापार का बिंब संप्रेषणीय बनाया है।

"मन मेरो मतंग भयौ मदमत्त सु माया समुद्र मैं आन धस्यौ है।
ज्ञान महावत लाज की अंकुस संक की साकर नाहि गस्यौ है।।
ठाकुर मैं हूँ उपाय किये वह आवै न हाथ कुसंग वस्यौ है।
घीच पै मीच न नीचहिं सूझत मोहि के कीच के बीच फस्यौ है।।"[1]

'माया समुद्र' तथा 'ज्ञान महावत' लाक्षणिक पद हैं। माया एवं ज्ञान उपमेय हैं और समुद्र तथा महावत उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। उपमेय पर कवि ने उपमान का पूर्णारोप करके उपमेय के बिंब को संवेदनीय एवं भाव को तीव्रावेग प्रदान किया है।

"चारहूँ ओर उदौ मुखचन्द-
की चाँदनी चारु निहार लै री।।[2]

'मुख चन्द्र' लाक्षणिक पद है। मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने मुख पर चन्द्र का आरोप करके मुख के बिंब को संवेदनीय बनाया है। इस तरह लौकिक सौन्दर्य को अलौकिकता प्रदान की गई है।

"मन मेरो मतंग भयौ मदमत्त सु,
माया समुद्र मैं आन धस्यौ है।"[3]

'मन मतंग लाक्षणिक पद है। मन उपमेय और मतंग उपमान है। इसका आधार गुण साम्य है। कवि ने मन पर मदमत्त मतंग का आरोप करके मन की अवस्था तथा शक्ति के बिंब को संवेदनीय बनाया है। इस प्रकार सूक्ष्म मन का सहृदय के मन पर एक चित्र खिंच कर रह जाता है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा:--

"डीलदार सीलदार लाज को अहार जिन्हैं तीछन मृगा से देख-देख रहियत है।
मीन और खंजन से अलसे अनोखे देख कंज दलहूँ तै ये विशेष चहियत है।।
ललित ललौहैं कसकौहें चसकौहें जान ठाकुर कहत सुख पाइ रहियत है।
औरन के नैन कहाँ नैन के लेखें आवैं ऐसे नैन होंइ तब नैन कहियत है।।"[4]

'मृगा', 'मीन', 'खंजन' तथा 'कंज' सभी लाक्षणिक पद हैं। नेत्र उपमेय के सभी पद उपमान हैं। कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय के बिंब को संवेदनीय बनाया है। इनका आधार सादृश्य है।

---

१. ठाकुर शतक, सं० बाबू काशीप्रसाद, सं० १९६१, पृ० ३८ प० सं० १०७
२. वही पृ० ९ प० सं० २६
३. वही पृ० ३८ प० सं० १०७
४. वही पृ० ६ प० सं० १६

कवि ठाकुर के पदों में सर्वत्र उनका व्यक्तित्व झाँकता है। 'रीतिकालीन कवि होकर भी वे रीति रूढ़ियों में बँधे नहीं और उनकी रचनाओं में सर्वत्र उनका व्यक्तित्व प्रकट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपनी जो बात कहनी थी उसे उन्होंने निश्छल हृदय से स्पष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है। इनकी रचना में रूढ़ियों को लेकर कलाबाजी भी नहीं दिखाई गई है। लोक मानस के अति निकट सम्पर्क में होने के कारण इन्होंने मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया है। मुहावरों के प्रयोग से काव्य में अभिव्यंजना का कौशल इनकी रचनाओं में सर्वत्र प्रकट हुआ है।

इसके अतिरिक्त कवि की प्रतिभा ने शब्दों को अर्थ का नया आयाम देने में भी पर्याप्त कुशलता दिखाई है। लक्षणा जो निरन्तर नए अर्थ का शोध करके अभिधा का शब्द भण्डार भरने का प्रयत्न और कथ्य को सौन्दर्य एवं संप्रेषणीयता प्रदान करने का कार्य करती है उसका कवि की रचना में अधिकतर स्थलों पर प्रभाव देखा जा सकता है। लक्षण-लक्षणा के सभी उदाहरण इसी कथन को स्पष्ट करते हैं।

साध्यवसाना के प्रयोग विरल हैं। इससे यही कहना पड़ता है कि कवि की प्रवृत्ति अलंकारों की योजना की ओर विशेष उन्मुख नहीं थी, स्वाभाविक कथन में जो अलङ्कार अपने आप आ गए हैं वही काव्य का सौन्दर्य बढ़ाते हैं।

वीर रसात्मक काव्य-धारा

सम्पूर्ण रीति-काल में एक मात्र वीररस के गायक 'भूषण' हैं। इस काल के सभी कवि जब नारी के रूप-रंग के चित्रण में व्यस्त थे, तब भूषण देश-भक्ति के उन्नायक शिवाजी की वीरता का गान कर रहे थे। इन्होंने अपनी वाणी से तत्कालीन जन-मानस को वीरता का प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देकर अनुप्राणित कर दिया। इनके काव्य में ओजस्विता तो अपनी चरम सीमा पर है, किन्तु अभिव्यंजना कौशल में वह दक्षता नहीं दिखाई पड़ती है। रीति-काल तो अलंकरण का युग ही था। इस प्रवृत्ति से ये भी प्रभावित थे। इसलिए इनके काव्य में भी पर्याप्त मात्रा में अलंकारों की योजना हुई है। इन्हीं अलंकारों के माध्यम से इनके काव्य में लाक्षणिक चमत्कार भी उत्पन्न हुए हैं। इन अलंकारों में जैसा कि पिछले अध्यायों में दिखाया जा चुका है, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति परिकरांकुर आदि में आधारभूत लक्षणा शक्ति रहती ही है। उन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों में से कुछ उदाहरणार्थ यहाँ दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

> **"आगरे-अगारन की नाँघती पगारन,**
> **सम्हारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ।"[१]**

इसमें 'कुम्हलानियाँ' पद लाक्षणिक है। कुम्हिलाना पुष्प का धर्म है पर यहाँ बदन (मुख) के लिए प्रयुक्त हुआ है। कवि प्रयोग प्रसिद्धि के कारण यह पद बदन

---

१. शिवा-बावनी, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथमावृत्ति, पृ० ४ प० सं० ९

के लिए भी प्रचलित हो गया है। इसका लक्ष्यार्थ चिन्तित, भयभीत अथवा निराश प्रयोग प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ सा प्रतीत होने लगा है।

"हद्द हिंदुवान की विहद्द तरवारि राखि,
कैयो बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं।"[१]

इसमें 'गुमान झारि डारे हैं' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अभिमान चूर-चूर कर देना है। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है और लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ हो गया है।

"स्याह भए सारी पातसाही के अमीर खान,
काहू को न रह्यो जोम समर-उमाह को।"[२]

इसमें स्याह भए' पद लाक्षणिक है। यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है भयभीत होना, चिन्तित होना अथवा निराश होना। प्रचलन में प्रसिद्ध हो जाने के कारण इसका लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ हो गया है।

'साजि चमू जनि जाहु सिवा पर सोवत जाय न सिंह जगाओ।
तासों न जंग जुरौ न भुजंग महाविष के मुख मैं कर नाओ॥
भूषन भाषति बैरि-बधू जनि एदिल औरंग लौं दुख पाओ।
तासु सलाह की राह तजौ मति नाह दिवाल की राह न धाओ॥"[३]

इसमें 'सोतेसिंह को जगाना' 'सर्प के मुख में अँगुली देना' तथा 'दीवाल की राह दौड़ना' लोकोक्तियाँ हैं। प्रथम दो लोकोक्तियों का लक्ष्यार्थ है मौत को निमन्त्रण देना। तीसरी लोकोक्ति का लक्ष्यार्थ है स्वयं की हानि करना। इनके लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ हो गए हैं।

शुद्धा उपादान लक्षणा—

'हद्द हिन्दुवान की विहद्द तरवारि राखि,
कैयो बार दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं।"[४]

इसमें दिल्ली के गुमान झारि डारे हैं' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है दिल्ली वालों के गुमान को चूर-चूर कर दिया है। यहाँ दिल्ली से दिल्ली वालों का बोध होता है।

---

१. शिवा बावनी,' सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथमावृत्ति, पृ० ६ प० सं० २४
२. वही पृ०१३ प० सं० ३६
३. वही पृ० २० प० सं ६
४. वही पृ० ६ प सं० २४

"सिवराज तेरे त्रास दिल्ली भयो भुवकंप
थर-थर काँपत बिलाइत अरब की।"[1]

इसमें 'दिल्ली भयो भुवकंप' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है कि दिल्ली के लोग भयभीत होकर काँपने लगे। यहाँ दिल्ली का लक्ष्यार्थ दिल्ली वाले हैं।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"सिवा पूछै सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है।"[2]

इसमें 'भृकुटी चढ़ाना' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है क्रोध करना। इस प्रकार कवि ने नए अर्थ का इस पद पर आरोप करके अर्थ का विस्तार कर दिया है।

"हवा हूँ न लागती ते हवा तें बिहाल भईं,
लाखन की भीर मैं सम्हारती न छाती हैं।"[3]

इसमें 'सम्हारती न छाती है' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है छाती भी नहीं ढंक पाती। इस प्रकार कवि ने 'सम्हारती' पद को ढकने के अर्थ से मंडित कर दिया है।

"जानि गैरमिसिल गुसीले गुसा धारि मनु,
कीन्हों ना सलाम न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जिएरे॥"[4]

इसमें 'सिमरे', 'बलकन' तथा 'उड़ाय गए जियरे' पद लाक्षणिक हैं। किसी वस्तु के लिए 'सियरे' और दुग्धादि के लिए बलकन का प्रयोग उपयुक्त होता है पर यहाँ बचन के लिए सियरे और शिवा के लिए बलकन का प्रयोग हुआ है। इसलिए इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है विनयपूर्ण वचन तथा क्रोधित होना। इसी प्रकार 'जी' कोई पक्षी तो है नहीं जो उड़ जाएगा। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है भयभीत होना। इस प्रकार कवि ने भाव को स्पष्ट करने के लिए नए भावपूर्ण अर्थों की सतत खोज की है।

"मारे सुनि सुभट पनारेवारे उदभट,
तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के।"[5]

---

१. शिवा-बावनी, सं० पं०, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथमावृत्ति, पृ० १० प० सं० ३०
२. वही पृ० ३ प० सं० ६
३. वही पृ० ४ प० सं० ११
४. वही पृ० १६ प० सं० ४६
५. वही पृ० १२ प० सं० ३६

इसमें तारे लागे फिरन' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ है आँखों में तारे घूमने लगे पर इसका लक्ष्यार्थ है क्रोधित होना। इस प्रकार कवि ने अर्थ को एक नया आयाम प्रदान कर दिया है।

"रावन के राम कार्तवीज के परसुराम,
दिल्लीपति-दिग्गज के सिंह सिवराज हैं।"[१]

इसमें 'दिल्लीपति-दिग्गज' लाक्षणिक पद है। दिल्लीपति उपमेय और दिग्गज उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बनाया है।

"खग्ग-खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल-भुजंग-मुगलद्दल निगलिगो।"[२]

इसमें 'खग्ग-खगराज' लाक्षणिक पद है। खग्ग (खड्ग) उपमेय और खगराज उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"कूरम कमल कमधुज है कदंब-फूल,
गौर है गुलाब, राना केतकी बिराज है।
पाँडरि पँवार, जुही सोहत है चंदवत,
बकुल बुँदेला, अरु हाड़ा हंसराज है।
भूषन भनत मुचकुन्द बड़गूजर हैं,
बघेले बसंत सब कुसुम समाज है।
सबही को रस लै के बैठि न सकत आय,
अलि अवरंगजेब चंपा सिवराज है॥"[३]

इसमें 'कूरम कमल', 'कमधुज कदंब' 'गौर गुलाब' 'राना केतकी' हाड़ा हंसराज तथा 'बघेले बसंत' लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने बिंब को स्पष्ट किया है। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है।

"दूलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामे वारो,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की।"[४]

इसमें 'दिल्ली दुलहिन' पद लाक्षणिक है। इस पद में दिल्ली उपमेय और दुलहिन उपमान है। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

---

१. शिवा-बावनी, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथमावृत्ति, पृ० २ प० सं० ३
२. वही पृ० ११ पद सं० ३१
३. वही पृ० १५ पद ४२
२. वही पृ० १८ पद सं० ५२

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"सिगरे अमीर भए कुन्द मकरंद भरे,
भृंग सों भ्रमत लखि फूल को समाज है।"[1]

इसमें 'भृंग पद लाक्षणिक है। औरंगजेब का उपमान है। यहाँ कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय के बोध कराने का प्रयत्न किया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूषण के काव्य में प्रचुर मात्रा में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। ये लाक्षणिक प्रयोग मुहावरे तथा लोकोक्तियों के रूप में, शब्दों को अर्थ का नया आयाम देने में और अलंकारों के रूप में हुए हैं। इन प्रयोगों में वर्ण्य-विषय के अनुसार स्वाभाविकता भी है। इतने पर भी इनके लाक्षणिक प्रयोगों से काव्य की वह श्रीवृद्धि नहीं हो पाई जो होनी चाहिए थी। इसका कारण शब्दों की व्यर्थ की तोड़ मरोड़, व्याकरण का उल्लंघन और वाक्य रचना की अव्यवस्था है।

'नीति व्यवहार सम्बन्धी सूक्ति तथा अन्योक्ति काव्य'

रीतिकालीन काव्य में कवियों का एक ऐसा भी वर्ग है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्यों में अभिव्यक्त करता है। इनका उद्देश्य अधिकतर जनसाधारण की बोधवृत्ति को जागृत करना था। इनमें से कुछ एक भावुक तथा प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं, जिन्होंने अन्योक्तियों सूक्तियों आदि के द्वारा भगवतप्रेम, संसार के विरक्ति करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं।

'वृन्द-सतसई' के सात सौ दोहों में नीति व्यवहार सम्बन्धी सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं। वृन्द की प्रसिद्धि इन्हीं सूक्तियों के बल पर आधारित है। इन सूक्तियों में लोक-व्यवहार की शिक्षा एवं ज्ञानोपदेश है। दीनदयाल गिरि कृत 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' का वर्ण्य-विषय ब्रह्मज्ञान और वैराग्य है। इनकी अन्योक्तियों को उच्चकोटि का काव्य कहा जा सकता है। इसी वर्ग में गिरधर कविराय भी आते हैं। इन्होंने घर-गृहस्थी तथा लोक व्यवहार सम्बन्धित बातों को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इनकी कुण्डलियों में भी अन्योक्तियाँ पाई जाती हैं। इसी वर्ग के अन्दर बैताल की भी गणना की जाती है। बैताल ने भी कुण्डलियों की रचना की है। इनका वर्ण्य-विषय लौकिक-व्यवहार है। इन्होंने अपनी सीधी-सादी बात ज्यों की त्यों छन्द बद्ध कर दी है। इनके कथन में अनूठापन भी है फिर भी इन्हें गद्यकार ही कहना अधिक श्रेयष्कर प्रतीत होता है। इसी प्रकार इस वर्ग के अन्य कवियों ने भी अपनी भावनाओं को पद्यबद्ध किया है।

यहाँ पर 'वृन्द-सतसई'' 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' और गिरधर की कुण्डलियों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों की विवेचना की जा रही है और यह दिखाने का प्रयास

---

१. शिवा-बावनी, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रथमावृत्ति, पृ० १४ पद ४२

किया जा रहा है कि इन लाक्षणिक प्रयोगों से किस सीमा तक भाव में तीव्रता, बिंब में गोचरता और काव्य में चारुता आई है।

वृन्द (सं० १७००—सं० १७८०)

वृन्द जी दरबारी कवि थे। इन्हें औरंगजेब, जयसिंह तथा राजसिंह के दरबारों में रहने का अवसर मिला था। वे बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के मनुष्य थे। बादशाह औरंगजेब ने इन्हें 'सच्ची कहने वाला कविराज' की उपाधि दी थी।[1] इनके सत्य-स्वरूप रूपक बचनिका, अलंकार सतसई, श्रृङ्गार शिक्षा, हितोपदेशाष्टक, भाव पंचाशिका, वृन्द विनोद सतसई आदि कई ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु सबसे अधिक प्रसिद्धि इनकी 'सतसई' को ही प्राप्त है। समस्त हिन्दी साहित्य में वृन्द की टक्कर का सूक्तिकार केवल रहीम को कहा जा सकता है। इनकी सूक्तियों में सर्वत्र एकरस विदग्धता है। इनकी भाषा सरल है, मुहावरे और लोकोक्तियों की छटा पग-पग पर दिखाई पड़ती है। चमत्कारिक दृष्टान्तों को ढूँढ़ने में इन्होंने अद्भुत कौशल दिखलाया है। इन्होंने साधारण सी साधारण घटना में से ऐसे आश्चर्य-जनक एवं असाधारण दृष्टान्त ढूँढ़ निकाले हैं कि श्रोता सुनकर चकित रह जाता है। सभी मुहावरे और लोकोक्तियाँ लक्षणा का आधार लेकर ही चमत्कार की सामर्थ्य प्राप्त करती है। ऐसे ही कुछ लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण उपर्युक्त कथन के साक्षीभूत, यहाँ दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

"रस अनरस समझै न कछु पढ़ै प्रेम की गाथ।
बीछू मन्त्र न जानई सांप-पिटारे हाथ ॥"[2]

इसमें 'बीछू मंत्र न जानई साँप पिटारे हाथ' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है 'अज्ञानता का प्रदर्शन'। यही लक्ष्यार्थ ही लोकोक्ति का मुख्यार्थ हो गया है।

"कैसें निबहैं निबल जन कर सबलन सों गैर।
जैसें बसि सागर बिषै कारत मगर सों बैर ॥"[3]

इसमें 'सागर में रहकर मगर से बैर' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है शक्तिशाली व्यक्ति से शत्रुता करना मृत्यु को आमन्त्रण देना है। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

---

१. इनको (वृन्द को) बादशाह ने 'सच्ची कहने वाला कविराज' की उपाधि दी थी। [सतसई-सप्तक सं० बाबू श्यामसुन्दरदास सं० १९३१, प्रस्तावना, पृ० १६]
२. सतसई सप्तक, 'वृन्द सतसई' सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सं० १९३१ ई० दोहा १५
३. वही दोहा १६

"दीबौ अवसर कौ भलौ जासौं सुधरै काम।
खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम॥"[1]

इसमें 'खेती सूखे बरसिबो घन को कौने काम' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अवसर बीत जाने पर किसी वस्तु की प्राप्ति निरर्थक होती है। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"अपनी पहुँच बिचारि कैं करतब करियै दौर।
तेते पाँव पसारियै जैतो लांबी सौर॥"[2]

इसमें 'तेते पाँव पसारियै जैती लाबी सौर' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अपनी सामर्थ्य भर ही कार्य करना चाहिए। इसी लक्ष्यार्थ को ही मुहावरा मुख्यार्थ बना लिया है।

"पिसुन छल्यो नर सुजन सो करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यौ दूध कौ पीपत छाछहिं फूंकि॥"[3]

इसमें 'दूध का जला मट्ठा फूँक कर पीता है' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'व्यक्ति एक बार धोखा खा जाने के बाद बहुत सावधान हो जाता है'। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

"बनती देख बनाइयै परन न दीजै खोट।
जैसी चलै बयार तब तैसी दीजै ओट॥"[4]

इसमें 'जैसी चलै बयार तब तैसी दीजै ओट' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है अवसर के अनुसार अपने को ढाल लेना चाहिए। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"फेर नहैं हैं कपट सों कीजै व्योपार।
जैसैं हाँड़ी काठ की चढ़ै न दूजी बार॥"[5]

इसमें 'हांड़ी काठ की चढ़ै न दूजी बार' लोकोक्ति है। इसका लक्ष्यार्थ है किसी को एक ही बार धोखा दिया जा सकता है। यही लक्ष्यार्थ ही लोकोक्ति का मुख्यार्थ हो गया है।

---

१. सतसई-सप्तक, वृंद-सतसई, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, सां० १९३१ ई दोहा १८
२. वही दोहा १९
३. वही दोहा २०
४. वही दोहा २३
५. वही दोहा ३५

"भाव भाव की सिद्धि है भाव भाव में भेव ।
जो मानौं तो देव है नहीं भीत कौ लेव ।।"[१]

इसमें जो मानों तो देव है नहीं भीत कौ लेव' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है विश्वास ही फलदायी होता है । इसी लक्ष्यार्थ को ही मुहावरा मुख्यार्थ बना लिया है ।

"अति अनीति लहियै न धन जो प्यारौ मन होय ।
पाए सोने की छुरी पेट न मारै कोय ।।"[२]

इसमें 'पाए सोने की छुरी पेट न मारै कोय' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है शक्ति अथवा धन पाकर अन्याय नहीं करना चाहिए । इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है ।

"जासों रक्षा होत है ह्वै ताही सों घात ।
कहा करै कोऊ जबै वारि ककरिया खात ।।"[३]

इसमें 'वारि ककरिया खात' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है रक्षक ही भक्षक हो जाए । इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है ।

"लालच हू ऐसौ भलौ जासौं पूरे आस ।
चाटेहु कहु ओस के मिटैं काहु की प्यास ।"[४]
"बिन स्वारथ कैसें सहै कोऊ करुए बैन ।
लात खाय पुचकारियै होय दुधारू धैन ।।"[५]

इसमें 'लात खाय पुचकारियै होय दुधारू धैन' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है जिससे स्वार्थ की सिद्धि हो उसकी कष्टदायक बातें भी सह लेनी चाहिए । इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है ।

"स्रम ही तैं सब मिलत है बिन स्रम मिलै न काहि ।
सीधी अँगुरी घी जम्यो क्यौं हूँ निकरै नाहि ।।"[६]

इसमें 'सीधी अँगुली से घी नहीं निकलता' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है प्रत्येक कार्य सज्जनता से ही नहीं बनते । इसी लक्ष्यार्थ को ही मुहावरे ने मुख्यार्थ बना लिया है ।

---

१. सतसई-सप्तक, वृंद-सतसई सं० बाबू श्याम सुन्दर दास सं०, १९३१ दोहा ४६
२. वही दोहा ५२
३. वही दोहा ५५
४. वही दोहा ६५
५. वही दोहा १४७
६. वही दोहा १८९

शुद्धा लक्षण-लक्षणा.—

"प्रेम पगत बरजीन क्यौं अब बरजत बेकाज ।
रोम रोम बिष रमि रह्यौ नाहिन बनत इलाज ।।"[1]

इसमें 'विष रमना' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है प्रेम का प्रभाव तन मन पर छा गया। इस प्रकार कवि ने इस पद को अर्थ का नया आयाम प्रदान कर दिया है।

"करियै सुख कौं होत दुख यह कहु कौन सयान ।
वा सौनै कौं जारियै जासों टूटै कान ।।"[2]

इसमें 'टूटना' पद लाक्षणिक है। कान का टूटना तो असंभव है। अतः यहाँ इसका लक्ष्यार्थ है 'कष्ट होना'। इस प्रकार इस पद को कवि ने नए अर्थ से मंडित कर दिया।

"विरह तपन पिय बात तैं उठत चौगुनी जागि ।
जल के सींचे बढ़त है ज्यों सनेह की आगि ।।"[3]

इसमें 'तपन' तथा 'आगि' दोनों पद लाक्षणिक हैं। इसमें विरह के पक्ष में तपन और स्नेह के पक्ष में अग्नि का प्रयोग किया गया है जो असंभव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है 'वेदना' एवं भावना की तीव्रता। इस प्रकार इन पदों को अर्थ का नया आयाम मिल गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"अहै अवधि अविवेक की, देखि कौन अनखाय ।
काग कनक पिंजर पड़े, हंस अनादर भाय ।।[4]"

इसमें 'काग' तथा हंस लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद प्रतीक हैं दुर्जन और सज्जन के। इनके एकात्म्य का आधार गुण साम्य है। इस प्रकार कवि ने प्रतीकों के माध्यम से ही बिंब को संप्रेषित किया है।

'वृन्द-सतसई' की सूक्तियों में पर्याप्त मात्रा में दृष्टान्त के रूप में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है। ये प्रयोग लक्षणा का आधार लेकर ही यशस्वी होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्योक्तियों में भी लक्षणा होती है। अन्योक्तियों में जो प्रतीक ग्रहण किए जाते हैं उन्हीं के माध्यम से काव्य वस्तु संप्रेषित की जाती है। इन

---

१. सतसई-सप्तक, वृन्द-सतसई, सं० बाबू श्याम सुन्दर दास सं० १९३१ दोहा ३४
२. वही दोहा ३६
३. वही दोहा ६२
४. वही दोहा ६९४

प्रतीकों का प्रयोग उपमान की तरह ही होता है । वृन्द के लाक्षणिक प्रयोग लोक जीवन की विविध झाँकियों को प्रस्तुत करते हैं । लोकोक्ति और मुहावरे वस्तुतः ढले हुए सांचे हैं, जिनमें कवि अपने विचारों को ढालते हैं । इससे प्रायः काव्य सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होती है, पर यदि इन्हें जीवन के सहसाथी के रूप में अथवा नए संदर्भ में प्रस्तुत किया जाए तो निश्चित रूप से ये काव्य को रमणीय बनाने में समर्थ होते हैं और साथ ही चमत्कार भी उत्पन्न करते हैं । वृन्द की सूक्तियों में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग काव्य की रमणीयता तथा चमत्कार के विधायक हैं ।

'दीनदयाल गिरि'

बाबा दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल निधि हैं । संस्कृत साहित्य में वेदों से लेकर सतसइयों तक इसकी परम्परा विस्तृत है । हिन्दी साहित्य में भी सूफी, सन्तों तथा भक्तों की रचनाओं में जहाँ-तहाँ अन्योक्तियाँ पाई जाती हैं । रीतिकाल में बाबा दीनदयाल गिरि ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम पूर्ण रूप से अन्योक्तियों को बनाया । अन्योक्ति एक अलंकार भी है जिसके स्वरूप की चर्चा भरत के 'नाट्यशास्त्र' में 'मनोरथ' काव्य लक्षण में निहित है, क्योंकि 'मनोरथ' से ही अन्यापदेश की उत्पत्ति मानी जाती है । यही अन्यापदेश ही आगे आकर अन्योक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए । हिन्दी साहित्य में आचार्य केशव ने सर्वप्रथम अलंकार के रूप में अन्योक्ति को मान्यता दी ।

अन्योक्ति में अप्रस्तुत अथवा प्रतीकों द्वारा ही प्रस्तुत का प्रतिपादन होता है, और प्रस्तुत सदा व्यंग्य रहता है । काव्य की उक्ति साधारण उक्ति की अपेक्षा अन्य ही हुआ करती है, चाहे वह शब्द की हो, अर्थ की हो अथवा भाव की हो । उक्ति का अर्थ भी यहाँ वाच्यार्थ अभिधान तक सीमित नहीं है, प्रत्युत इसमें लक्षणा और व्यंजना द्वारा अर्थ प्रतिपादन भी रहता है । वक्रोक्ति, समासोक्ति आदि में साहित्य के व्याख्याताओं ने उक्ति का अर्थ व्यंग्यबोधन परक ही लिया है । अर्थ-क्षेत्र में अन्य शब्द से यद्यपि सामान्यतः 'उपमान' लिया जाता है, तथापि इसके अधुनातन अर्थ में प्रतीक और संकेत को भी सन्निविष्ट किया जाने लगा है । उपमान को अप्रस्तुत, अप्रकृत या अवर्ण्य भी कहते हैं । इसलिये उपमेय प्रस्तुत, प्रकृत तथा वर्ण्य होता है । प्रस्तुत के रहस्य को समझने में अप्रस्तुत बड़ा सहायक होता है । प्रस्तुत जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कोई भी वस्तु या तथ्य होता है जो काव्य का आधार होता है । अप्रस्तुत काव्य का कल्पना-पक्ष होता है । ये मूर्त, अमूर्त, सूक्ष्म-स्थूल आदि सभी तरह के हो सकते हैं । यहाँ पर दीनदयाल गिरि की कुछ अन्योक्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा रही हैं जिनमें अप्रस्तुत-विधान एवं प्रतीकों के माध्यम से लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं ।

निरूढ़ा लक्षणा—

'पैहौ कीरति जगत में पीछे धरो न पाँव।
छत्रीकुल के तिलक हे महासमर या ठाँव।।"[१]

इसमें 'पीछे धरो न पाँव' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'युद्धस्थल से पीछे न हटना अथवा न भागना। इस मुहावरे का यही लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ हो गया है।

"जनमे हौ वरकुल विषे जग गुन गने असंख।
बजे बिजैं वह बार पै रहे संख के संख।।"[२]

इसमें 'रहे संख के संख' पद लाक्षणिक है। यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है 'मूर्ख ही रह गए' यही लक्ष्यार्थ हो प्रचलन के कारण मुख्यार्थ हो गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"बरनै दीन दयाल लोग सब अपने गरजी।
जमा जीरन भयो कहा अब सीवै दरजी।।"[3]

इसमें 'जामा जीरन' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है शरीर वृद्ध हो गया है। इस प्रकार कवि ने पद को नए अर्थ से मण्डित कर दिया है।

"बरनै दीन दयाल सुनाट्य-कला सुर बाजा।
ह्वै हैं बन के फूल, भूल मति तू गुनि राजा।।"[४]

इसमें 'वन के फूल होना लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है तुम्हारे गुण का ग्राहक यहाँ कोई नहीं है। इस प्रकार कवि ने पद के अर्थ को नया आयाम दे दिया है।

"बरनै दीन दयाल परी यह तो सव कुँजन।:
कौड़ी याको मोल लाल नखि भूल न गुंजन।।"[५]

'इसमें 'कौड़ी मोल' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है नगण्य मूल्य। इस तरह कवि ने इस पद को नए अर्थ से मण्डित कर दिया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणाः—

"देखो पथी उघारि कै नीके नैन ब्रिवेक।
अचरजमय यहि बाग में राजत है तरु एक।।

---

१. अन्योक्ति-कल्पद्रुम', दीनदयाल गिरि, तीसरी शाखा, पृ० ९० प० सं० १५३
२. वही पृ० १०२ प० सं० १८२
३. वही पृ० ९२ प० सं० १६०
४. वही पृ० ९३ प० सं० १६३
५. वही पृ० ९५ प० सं० १६७

राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा ।
है खग तहां अचाह एक, इक बहु फल चाखा ।।
बरनै दीनदयाल खाय सो निबल बिसेखो ।
जो न खाय सो पीन रहै अति अद्भुत देखो ।।" [1]

इसमें 'तरु' 'खग' तथा 'फल' पद लाक्षणिक हैं । ये क्रमशः सृष्टि, जीव तथा प्रत्यगात्मा' और 'वासना' के उपमान हैं । इनका आधार साधर्म्य है । कवि ने उपमानों के ही माध्यम से सृष्टि के स्वरूप को संवेदनशील बनाया है । [यह सृष्टि का रूपक है । मूल ऊपर सत्यलोक में, शाखा नीचे भूलोक में, फल चखने वाला पक्षी जीव है और निरीह साक्षी रूप पक्षी प्रत्यगात्मा है ।]

"फूली है सुखमामई नई लहलही जोति ।
छई ललित पल्लवनि तें लखि दुति दूनी होति ।।
लखि दूनी दुति होति चपल अलि या पै दो हैं ।
लगै गुच्छ द्वै बीच बहै जन को मन मोहैं ।।
बरनै दीन दयाल पथिक है कित मति भूली ।
ये तो मारक महा-छली विषबल्ली फूली ।।" [2]

इसमें 'पल्लवनि', 'अलि' गुच्छ' तथा 'विष बल्ली' लाक्षणिक पद हैं । ये क्रमशः हाथ-पैर, नेत्र, स्तन और नारी के उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य एवं साधर्म्य है । कवि ने उपमानों के ही माध्यम से वर्ण्य-विषय को संवेदनशील बनाया है ।

"चारों दिसि लहरी चलै बिलसै बनज बिसाल ।
चपल मीन-गति लसति अति तापर सजे सिवाल ।।
तापर सजै सिवाल हंस-अवली सित सोहै ।
कोक जुगल रमनीय निरखि सरमै मति मोहै ।।
बरनै दीन दयाल मकरपति यामैं भारो ।
मास मानि हे पथी ग्रास करिहै लखि चारो ।।" [3]

इसमें 'बनज', 'मीन', 'सिवाल', 'हंस अवली', 'कोक', 'सर', 'मकरपति' तथा 'चारो' लाक्षणिक पद हैं । ये क्रमशः मुख, नेत्र, केशपाश, मोतियों की माला, स्तन, नाभि, कामदेव तथा भोजन के उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । कवि ने उपमानों द्वारा ही भाव बिंब को संप्रेषणीय बनाया है ।

---

१. अन्योक्ति कल्पद्रुम', दीनदयाल गिरि, तृ० शा०, पृ० ११४ प० सं० २०७
२. वही पृ० ११५ प० सं० २१०
३. वही पृ० ११६ प० सं० २१२

"तेरे ही अनुकूल पिय किन बिनवै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करै घूंघट को पट खोलि ॥
घूंघट को पट खोलि देख लालन की सोभा।
परम रम्य बुधगस्य जासु छबि जग लोभा ॥
बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु प्रिय नेरे।
विमुख करावनि हार तोहि सनमुख बहुतेरे ॥"[1]

इसमें 'पिय' तथा 'घूंघट पट' लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमशः अन्तरात्मा और माया के आवरण के प्रतीक हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने इन भाव बिंबों को प्रतीकों के माध्यम से ही संवेदनीय बनाया है।

[यहाँ मति को स्त्री और अन्तरात्मा को पति मानकर यह अन्योक्ति कही गई है। माया का आवरण घूंघट पट है। काम क्रोधादि विकार और इन्द्रियों के विषय मति को अन्तरात्मा से हटाकर संसार में लिप्त कर देते हैं।]

इनके लाक्षणिक प्रयोगों में मुहावरों का बहुत कम प्रयोग हुआ है। भाषा के प्रवाह में स्वाभाविक रूप से जो आ गए हैं, वही काव्य में लाक्षणिक चमत्कार के हेतु हैं। कवि ने जहाँ-तहाँ शब्दों को नए अर्थों से भी मण्डित किया है। इन्होंने अधिकतर अपने भावों की अभिव्यक्ति अप्रस्तुत-विधान और प्रतीकों के द्वारा ही की है। ऐसी सभी अन्योक्तियाँ लक्षणा के चमत्कार से मण्डित हैं। इन अन्योक्तियों में अन्योक्ति रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, प्रस्तुतांकुर आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। इन अलंकारों के मूल में साध्यावसाना लक्षणा होती है। इनके अप्रस्तुत-विधान और प्रतीक केवल भाव-बिंब ही नहीं प्रस्तुत करते हैं, बल्कि उनसे भाव-चित्रों की श्री वृद्धि भी होती है।

'गिरधर कविराय'

गिरधर कविराय की कुण्डलियाँ हिन्दी भाषी समाज में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। इस लोकप्रियता का कारण यह है कि बोल-चाल की भाषा में तथ्य का कथन किया गया है। इन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिए इन कुण्डलियों में दृष्टान्त का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं अन्योक्तियों का सहारा लिया है। इनकी कुण्डलियों में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। काव्य की विदग्धता तथा काव्य-कौशल की दृष्टि से इनकी कुण्डलियों का विशेष महत्व नहीं है, फिर भी लोक-व्यवहार आदि की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण तो जन-मानस इन्हें अपनी सम्पत्ति समझकर संचित किए हुए है।

---

१. 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम', दीनदयाल गिरि, चौथी शाखा, पृ० १२०, पद सं० २२२

कुण्डलियों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग भावों की स्पष्टता में सहायक हैं। मुहावरे, लोकोक्तियों तथा अन्योक्तियों में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के दर्शन होते हैं । इन बिंबों की सहायता से कवि भावों का संप्रेषण करने में समर्थ हुआ है । कुण्डलियों में आए हुए ऐसे ही कुछ लाक्षणिक प्रयोगों का यह दिग्दर्शन कराया जा रहा है ।

निरूढ़ा लक्षणाः –

"साईं ऐसे पुत्र से बाँझ रहे वरु वारि ।
बिगरी बेटा बाप से जाय रहे ससुरारि ।।
जाय रहे ससुरारि नारि के नाम विकाने ।
कुल के धर्म नशाय परिवार नशाने ।।
कह गिरधर कविराय मातु झंखै वहि ठाईं ।
अस पुत्र नहिं होय बाँझ रहतिउं बरु साईं ।।"[1]

इसमें 'नारि के नाम विकाने' मुहावरा है । इसका लक्ष्यार्थ है पत्नी के नाम से प्रसिद्ध होना । यही लक्ष्यार्थी ही प्रचलन में मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है ।

"नदी छांड़िय तीर सों जो बरषा सरसाय ।
बाढ़ बाढ़ दिन चारि को अपयश जन्म नशाय ।।
अपयश जन्म नशाय वही पाहन की रेखा ।
बड़ी बड़ाई लहत सदा हम कबहु न देखा ।।"[2]

इसमें 'पाहन की रेखा' [पत्थर पर की लकीर] लोकोक्ति है । इसका लक्ष्यार्थ जो कभी न मिटे अर्थात् ध्रुव निश्चित । इसी अपने लक्ष्यार्थ को ही लोकोक्ति मुख्यार्थ बना लिया है ।

"कह गिरधर कविराय अरे यह सब घट तौलत ।
पाहुन निशिदिन चारि रहत सबही के दौलत ।।"[3]

इसमें 'पाहुन निशिदिन चारि रहत सब ही के दौलत' कहावत है । इसका लक्ष्यार्थ है सम्पत्ति अल्प-काल के लिए मिलती है । यही लक्ष्यार्थ ही इस कहावत का मुख्यार्थ हो गया है ।

"साईं तहाँ न जाइए जहाँ न आप सोहाय ।
घरन विषे जाने नहीं गदहा दाखें खाय ।।

---

१. 'कुण्डलिया' गिरधरराय, बम्बई छापखाना कानपुर, पृ० २, पद सं० ५
२. वही पृ० ६ प० सं० २४
३. वही पृ० ६ प० सं० २५

गदहा दाखें खाय गऊ पर दृष्टि लगावैं।
सभा बैठे मुस्क्याय यही सब नृप को भावै॥"[1]

इसमें 'गदहा दाखें खाय' तथा 'गऊ पर दृष्टि लगावैं' कहावतें हैं। इनका लक्ष्यार्थ है अयोग्य को श्रेष्ठतम भोग प्राप्त हो और सीधे, सज्जन व्यक्ति को सताया जाए। इन कहावतों के लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ हो गए हैं।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"चिन्ता ज्वाल शरीर की दाह लगै न बुजाय।
प्रगट धुआँ नहिं देखिये उर अन्तर धुधुवाय॥
उर अन्तर धुधुवाय जरे जस कांच की भट्टी।
रक्त मास जरि जाय रहै पंजरि की टट्टी॥
कह गिरधर कविराय सुनो हो मेरे मिन्ता।
वे नर कैसे जियें जाहि व्यापी है चिन्ता॥"[2]

इसमें 'ज्वाल', 'दाह लगैं न बुझाय', 'धुधुवाय', 'जरि जाय' तथा 'पंजरि की टट्टी' लाक्षणिक पद हैं। ज्वाला, दाह, बुझाना, धुधुवाना ये सभी आग के धर्म हैं पर यहाँ इनका प्रयोग चिन्ता के लिए किया गया है। इसी तरह रक्त-मांस का जलना भी जीवित रहते हुए सम्भव नहीं है। अतः इनका लक्ष्यार्थ है दुख, वेदना की वृद्धि, वेदना की समाप्ति भीतर ही भीतर घुटन और सूखना अथवा क्षीण होना। इसी प्रकार 'पंजरि की टट्टी' का लक्ष्यार्थ है नर कंकाल।

"सोना लादन पिय गये सूना करि गये देश।
सोना मिले न पिय मिले रूपा हो गए केश॥
रूपा होय गये केश रोय रंग रूप-गंवावा।
सेजन को विश्राम पिया बिन कबहु न पावा॥
कह गिरधर कविराय नोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव कहा करिहौं लै सोना॥"[3]

---

१. 'कुण्डलिया' गिरधरराय, बम्बई छापखाना, कानपुर, पृ० ७, पद सं० २८
२. वही पृ० ३ प० सं० १०
३. वही पृ० ५, पद २०

इसमें 'सूना करि गए देश' 'रूपा होय गये केश' तथा 'नोन बिन सबै अलोना' पद लाक्षणिक हैं। इनका लक्ष्यार्थ है अकेली छोड़ना, वृद्धा होना तथा पति के बिना कुछ भी अच्छा न लगना। इस प्रकार कवि ने इन पदों को नए अर्थों से मण्डित कर दिया है।

"मित्र बिछोहा अति कठिन मति दीजै करतार।
वाके गुण जब चढ़े चढ़ें बर्षत नयन अपार॥"[1]

इसमें 'गुण चढ़े' तथा 'बर्षत नयन' पद लाक्षणिक हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है गुणों की याद आना और लगातार आँसुओं की वर्षा। इस प्रकार कवि ने भावों को तीव्रता प्रदान की है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :—

"सुवा एक दाड़िम के धोखे गयो नारियल खान।
कछु खोये कछु खान न पायो फिर लागो पछितान॥
फिर लागो पछितान बुद्धि अपनी को रोवा।
निर्गुणियन के साथ गुणन अपना गुण खोवा॥
कह गिरधर कविराय सुनो हे मेरे नोखे।
गयो फटकही टूटि चोच दाड़िम के धोखे॥"[2]

इसमें 'सुवा' पद लाक्षणिक है। यह लालची व्यक्ति का उपमान है। इसका आधार साधर्म्य है। कवि ने उपमान के माध्यम से ही उपमान का बोध कराया है।

"कोई भँवर गुलाब तजि गयो जो हुरहुर पास।
घरिक समान अवा रहै करकस आई बास॥
करकस आई बास आक पासहु से भागे।
अपने मन पछिताय फेर वाही संग लागे॥
कह गिरधर कविराय कुमति अस फजिहत होई।
जो बड़ेन को छोड़ि नीच घर आवे सोई॥"[3]

इसमें 'भँवर', 'गुलाब', तथा 'हुरहुर' लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमशः व्यक्ति,

---

१. 'कुण्डलिया' गिरधरराय, बम्बई छापखाना, कानपुर, पृ० ७, पद सं० २७
२. वही पृ० ३४, पद १२
३. वही पृ० ९, पद ३८

श्रेष्ठ व्यक्ति और नीच व्यक्ति के प्रतीक हैं। इनका आधार साधर्म्य है। इस प्रकार कवि ने उपमानों के ही माध्यम से बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

''भँवर भटैया जाउ जनि काँट बहुत रस थोर।
आस न पूजे बासरा तासों प्रीति न जोर।।
तासों प्रीति न जोर तोर कुल कमल संघाती।
पपिहा रटे पियास बुन्द जल आवै स्वाती।।
कह गिरधर कविराय बैठु परमल की छैयां।
बरु मरु जिय तरसोइ जाहु जनि भँवर कटैया।।''[1]

इसमें 'भँवर', 'भटैया' तथा 'कमल' लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमशः प्रतीक हैं नायक, पर नायिका तथा स्वनायिका। इनका आधार साधर्म्य है। कवि ने उपमान प्रतीकों द्वारा वर्ण्य-विषय के भाव को संवेदनशील बना दिया है।

''कौवा कहै मराल से कहा जाति कहा गोत।
तुम ऐसे बहुरूपिया कहीं न जग में होत।।
कहीं न जग में होत सहा मेलो मलखाना।
बैठ कचहरी जाय वेद मरयाद न जाना।।
कह गिरधर कविराय सुनो हो पंछी हौवा।
धन्य मुल्क वह देश जहाँ के राजा कौवा।।''[2]

इसमें 'कौवा' तथा 'मराल' लाक्षणिक पद हैं। ये क्रमशः प्रतीक हैं अयोग्य और योग्य शासक अथवा व्यक्ति के। कवि ने इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से ही भाव बिंब को संवेदनशील बनाया है।

''साईं घोड़े अछत ही गदहन आया राज।
कौवा लीजै हाथ में दूरि कीजिये बाज।।
दूर कीजिये बाज राज पुनि ऐसो आया।
सिंह कीजिये कैद स्यार गजराज चढ़ाया।।
कह गिरधर कविराय जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न कीजै भोर साँझ उठि चलिये साईं।।''[3]

---

१. 'कुण्डलिया' गिरधरराय, बम्बई छापखाना, कानपुर, पृ० १०, पद सं० ३६
२. वही पृ० १३, पद ५३
३. वही पृ० १४, पद ५८

इसमें 'घोड़ा', 'गदहा', 'कौवा', 'बाज', 'सिंह' तथा 'स्यार' सभी पद लाक्षणिक हैं। ये क्रमशः योग्य, अयोग्य, धूर्त, सच्चा, सबल और निर्बल के प्रतीक हैं। इनका आधार साधर्म्य है। इस प्रकार कवि ने प्रतीकों के ही माध्यम से भाव को संप्रेषणीय बनाया है।

इनके लाक्षणिक प्रयोगों में मुहावरे तथा कहावतें सामान्यतः स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हैं। इनके पदों में इनका प्रयोग प्रायः दीनदयाल गिरि की अपेक्षा अधिक हुआ है। प्रतीक विधान द्वारा इन्होंने अपने भावों को व्यक्त किया है। ये प्रतीक साधर्म्य के आधार पर ग्रहण किए गए हैं। इसलिए ऐसे सभी स्थलों पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा का चमत्कार निहित है। इनके प्रतीकों द्वारा भाव बोध में स्पष्टता आई है, इनके लाक्षणिक प्रयोग सहृदयजनों के हृदयों को संवेदनशील बनाने में समर्थ हैं। इनकी चुभती हुई व्यंग्यात्मक, नीति परक शैली पाठक हृदय को चमत्कृत कर देती है।

पंचम अध्याय

प्रबन्ध काव्यों में लक्षणा

रीतिकालीन साहित्य में मुक्तक-काव्य की परम्परा ही अधिकतर अपनाई गई। इसीलिए इस काल में प्रबन्ध काव्यों की विशेष उन्नति नहीं हो सकी। यद्यपि इस काल में अनेक कथा-प्रबन्ध भी लिखे गए, पर उनमें से दो-चार को ही काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। इन काव्यों का यदि वर्ण्य-विषय के आधार पर वर्गीकरण करें तो इन्हें चार भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम श्रेणी में उन ग्रन्थों को रखा जा सकता है, जो पौराणिक प्रबन्ध काव्य हैं। ऐसे ग्रन्थों में ब्रजविलास, महाभारत, रामाश्वमेध जैमिनी पुराण आदि की गणना की जा सकती है। द्वितीय श्रेणी में वे ग्रन्थ आते हैं जो लौकिक ऐतिहासिक कल्पनात्मक कथा-काव्य हैं। ऐसे ग्रन्थों में हम्मीर रासो, सुजान चरित्र आदि उल्लेखनीय हैं। तृतीय श्रेणी में उन ग्रन्थों की गणना होती है जो वर्णन प्रधान लघु प्रबन्ध हैं। इनमें दानलीला, मानलीला, वनविहार, जलविहार आदि ग्रन्थ आते हैं। चतुर्थ वर्ग है अनूदित प्रबन्ध काव्यों का। इस वर्ग में नैषध आदि ग्रन्थों की गणना की जाती है।

पिछले अध्यायों में रीतिकालीन मुक्तक काव्यों में लक्षणा-शक्ति का प्रयोग दिखाया जा चुका है। इस अध्याय में इन प्रबन्ध काव्यों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जाएगा। इसके साथ ही साथ इन लाक्षणिक प्रयोगों की चित्रात्मकता की सामर्थ्य का भी विवेचन किया जाएगा।

इस अध्याय में पौराणिक प्रबन्धों में महाभारत, ब्रजविलास और रामश्वमेध लौकिक ऐतिहासिक कल्पनात्मक कथा काव्यों में हमीररासो तथा सुजान चरित्र वर्णन प्रधान लघु प्रबन्धों में दानलीला और अनूदित प्रबन्ध काव्यों में नैषध के लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

'पौराणिक प्रबन्ध काव्य'

रीतिकालीन प्रवन्ध काव्यों में कई पौराणिक प्रबन्ध काव्य भी हैं। इन पौराणिक प्रबन्ध काव्यों के रचयिताओं ने भी प्रबन्ध काव्य की प्राचीन प्रचलित दोहे-चौपाई वाली काव्य शैली को ही अपनाया। इन प्रबन्ध काव्यों में सबल सिंह चौहान का 'महाभारत', ब्रजवासीदास का 'ब्रजविलास' और मधुसूदन का रामाश्वमेध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने जन-साधारण तक इन धार्मिक आख्यानों को पहुँचा देने के उद्देश्य से ही इन ग्रन्थों की रचना की। इसीलिए इन ग्रन्थों की भाषा बड़ी

सीधी-सादी और बोल-चाल की है। इसके अतिरिक्त इनका उद्देश्य विशेष रूप से कथा कहना था जिससे इनका ध्यान काव्य सौष्ठव की ओर न जा सका।

महाभारत में महाभारत की कथा, व्रजविलास में कृष्ण जन्म से मथुरा गमन तक की कथा और रामाश्वमेध में अश्वमेध यज्ञ से लेकर लव-कुश युद्ध के पश्चात् सीता एवं लव-कुश के अयोध्या आने तक की कथा का वर्णन है। यहाँ पर क्रमशः 'महाभारत', 'व्रजविलास' एवं 'रामाश्वमेध' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को दिखाया जा रहा है।

'महाभारत'

'महाभारत' पौराणिक प्रबन्ध काव्य है। इसके रचयिता सबल सिंह चौहान हैं। इस ग्रन्थ को सम्वत् १७१८ से १७८१ के मध्य इन्होंने पूरा किया। यह ग्रन्थ दोहे-चौपाइयों में लिखा गया है। यह ग्रन्थ भाषा के लालित्य अथवा काव्य के सौष्ठव की दृष्टि से उल्लेखनीय नहीं है। इसमें तो सीधी-सादी भाषा में महाभारत की कथा कही गई है। इसे पढ़ने से प्रतीत होता है कि कवि को कथा कहने से अवकाश नहीं था। इसी कारण से काव्य के कला पक्ष पर आवश्यक ध्यान नहीं दिया जा सका। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत दृष्टव्य है:—

"उसमें (भारत में) यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नहीं है, पर सीधी-सादी भाषा में कथा अच्छी तरह कही गई है।"[1]

इस कथन से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस ग्रन्थ में वचन भंगिमा की वक्रता, उक्ति-वैचित्र्य और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के लिये अधिक अवकाश नहीं था, फिर भी इस विशाल ग्रन्थ में यत्र-तत्र लक्षणा की चित्रात्मकता दिखाई पड़ती है। यहाँ ऐसे ही कुछ लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा :—

"अस कहि भीम क्रोध भरि आयो।
मानहु सोवत सिंह जगायो॥"[2]

इसमें 'सोवत सिंह जगायो' लाक्षणिक पद है। यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है संकट में जान-बूझकर पड़ना। इसी लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"सबै वधू तहँ रोवती, धरे हाथ पर हाथ।"[3]

इसमें 'धरे हाथ पर हाथ' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है—विवश होकर अथवा निराश होकर। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

---

१. हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृ० २८४
२. महाभारत, सबल सिंह चौहान, नवल किशोर छा०, लखनऊ, पृ० १३
३. वही पृ० ७ स्त्री पर्व

"शिव सनकादि अन्त न जान्यो।
तुम पाण्डव के हाथ विकान्यो ।।"[1]

इसमें 'पाण्डव के हाथ विकान्यो' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पाण्डवों के वश में हो गए हो। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

शुद्धा उपादान लक्षणा—

"आरतनाद नगर महँ, सबै वधू आनाथ।
सबै बधू तहँ रोवती, धरे हाथ पर हाथ ।।"[2]

इसमें 'नगर' पद लाक्षणिक है। नगर आर्तनाद कर नहीं सकता। इसलिए मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः इसका लक्ष्यार्थ 'नगर-निवासियों'।

"भीम सेन परतिज्ञा भाखत,
रे कलिङ्ग अब को तोहि राखत।"[3]

इसमें 'कलिङ्ग' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ देश विशेष है, किन्तु इससे अर्थ की सिद्धि नहीं होती हैं। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है कलिंग-राज।

शुद्धा लक्षण-लक्षणाः—

"सुनि दमयन्ती हृदय जुड़ाना,
हंस बचन गुनि हर्षित प्राना।"[4]

इसमें 'हृदय जुड़ाना' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है हृदय हर्षित हुआ। इस प्रकार कवि ने अर्थ को नया आयाम प्रदान कर दिया है।

"गये सकल प्रमुदित अधिक,
हिये राखि गोपाल ।।"[5]

इसमें 'हिये राखि' पद लाक्षणिक है। गोपाल को हृदय में रखना तो असम्भव है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है भगवान श्रीकृष्ण को स्मरण करके। इस प्रकार 'रखना' पद को अर्थ का नया आयाम प्राप्त हो गया है।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

"हरि पद पंकज नाइ शिर, निज निज शिविर भुवाल।
गए सकल प्रमुदित अधिक, हिये राखि गोपाल।"[6]

---

१. महाभारत, सबल सिंह चौहान, न० कि० छा०, लखनऊ, ४६ भीष्म पर्व
२. वही पृ० ७ स्त्री पर्व
३. वही पृ० ४४ भीष्म पर्व
४. वही पृ० १४, वन पर्व
५. वही पृ० ५२, उद्योग पर्व
६. वही पृ० ५२, उद्योग पर्व

इसमें 'पद पंकज' लाक्षणिक पद है। इस पद में, पद उपमेय और पंकज उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"राजा कह रानी सुनहु, क्षुधावन्त में प्रान।
परमहंस यह देह ते, चाहत कियो पयान॥"[१]

इसमें 'परमहंस' पद लाक्षणिक है। यह उपमान है प्राण का। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमान द्वारा ही उपमेय को संवेदनीय बनाकर भाव में तीव्रता ला दिया है।

"द्वारपाल भीतर भवन, देखि सरोरुह नैन।
कनक पलंग अर्जुन सहित, करत कृपानिधि शैन॥"[२]

इसमें 'सरोरुह नैन' लाक्षणिक पद है। यह पद भगवान् श्रीकृष्ण का विशेषण है, पर यहाँ उपमान की तरह प्रयुक्त हुआ है। कवि ने इसी उपमान के द्वारा ही उपमेय श्री कृष्ण का बोध कराया है।

"गात कम्प गहवर भये, कहि न सकत कछु बैन।
जो कछु कह्यो संदेश नृप, पीतम पंकज नैन॥"[३]

इसमें 'पंकज नैन' लाक्षणिक पद है। यह पद भगवान् श्रीकृष्ण का विशेषण है, पर यहाँ उपमान की तरह प्रयुक्त हुआ है। कवि ने इसी उपमान के द्वारा ही उपमेय का बिंब संवेदनीय बनाया है।

इन उदाहरणों से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि—इनके लाक्षणिक प्रयोग बड़े स्वाभाविक हैं। इन प्रयोगों के द्वारा बिंब तो गोचर हो जाते हैं, पर काव्य के सौष्ठव की अभिवृद्धि नहीं होती है। इनकी लाक्षणिक चित्रात्मकता द्वारा इनके भावों में संप्रेषणीयता और संवेदनीयता भी नहीं आ पाई है। वस्तुतः इन्होंने अभिधा द्वारा ही चित्रों तथा भावों को संप्रेषणीय बनाया है।

'ब्रज विलास'

ब्रजवासी दास कृत 'ब्रजविलास' दोहे-चौपाइयों में लिखा हुआ एक प्रबन्ध-काव्य है। इसका रचना-काल संवत् १८२७ वि० है। 'इस ग्रन्थ की रचना विशुद्ध ब्रज भाषा में हुई है।[४] इसमें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का, जन्म से लेकर मथुरा

---

१. महाभारत, सबल सिंह चौहान, न० कि० छा०, लखनऊ, पृ० १८, वन पर्व
२. वही पृ० ५३, उद्योग पर्व
३. वही पृ० ५७, उद्योग पर्व
४. भाषा शुद्ध ब्रज भाषा ही है। हि० सा० इति०, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल सं० २००२ पृ० ३१९

गमन तक का वर्णन है। इसका कथा-क्रम इन्होंने 'सूरसागर' से लिया है। अपने ग्रन्थ में स्वतः कवि ने इस बात को स्वीकार भी किया है। भाषा सीधी-सादी चलती हुई और सुव्यवस्थित है। प्रबन्ध काव्यों के लिए दोहे चौपाई की जो काव्य-शैली प्रचलित थी, उसी का प्रयोग इन्होंने भी अपने इस ग्रन्थ में किया है। जीवन के विविध पक्षों के वर्णन में ये तुलसी की सी गंभीरता और मर्मस्पर्शिता नहीं ला सके हैं। इनका वर्ण्य-विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का चित्रण है।

ब्रजविलास का अनुशीलन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य कथा कहना है। इसी कारण संपूर्ण ग्रन्थ में काव्य-कौशल की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। कवि ने अभिधा के द्वारा ही अपने भावों को संवेदनीय बनाया है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि लक्षणा का इस ग्रन्थ में प्रयोग ही नहीं है। लक्षणा के प्रयोग भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं, पर इनकी प्रचुरता नहीं है। उन लाक्षणिक प्रयोगों में से कुछ यहाँ उदाहरण रूप में दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

'सीत सहत कत नवल किसोरी।
लाज देहु जल ही में बोरी॥"[१]

इसमें 'लाज देहु जल ही में बोरी' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है लाज का परित्याग करो। इस प्रकार के कथन द्वारा कवि ने पद को संवेदनीय बना दिया है।

"विषकीरा विष खात, छाँड़ि छुहारा दाख फल।
मन मन कीजै बात, उद्धव कहिये काहि सों॥"[२]

इसमें 'विष कीरा विष खात' कहावत है। इसका लक्ष्यार्थ बुरा व्यक्ति सदैव बुराई ही करता है। इसी लक्ष्यार्थ में ही यह कहावत रूढ़ हो गई है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"करहु सो मम उर ऐन, पीताम्बर वर वेणुधर॥"[3]

इसमें 'करहु उर ऐन' लाक्षणिक पद है। उर को घर तो बनाया नहीं जा सकता। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मुझे सदैव आपका स्मरण बना रहे।

"कहत विकल सब कोय, हरि तुम ब्रज सूनो कियो॥"[४]

इसमें 'ब्रज सूनो कियो' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है कृष्ण के विरह में सभी ब्रज के लोग व्यथित हो गए और उनके हृदय से अन्य विचार चले गए। इस प्रकार की उक्ति से भावों में तीव्रता आ गई है।

---

१. ब्रज-विलास, ब्रजवासी दास, सं० १९५३ पृ० १९५
२. वही पृ० ६७ ५४४
३. वही पृ० ३ प० स० १.
४. वही पृ० १५७

"मुरझि परी तनु दशा भुलाई।
प्राण रह्यो हरि सुरति समाई।।"[1]

इसमें 'मुरझि परी' तथा 'प्राण हरि सुरति समाई' लाक्षणिक पद हैं। यहाँ गोपी के लिए मुरझाना शब्द प्रयुक्त है जो असंभव है क्योंकि मुरझाना वृक्षादि का धर्म है। इसका लक्ष्यार्थ है बेसुध हो जाना। इसी प्रकार प्राण का सुरति में समाना भी संभव नहीं है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है प्राण भगवान कृष्ण की स्मृति में तल्लीन हो गए। इस प्रकार कवि ने भाव को तीव्र और बिंब को संवेदनशील बना दिया है।

"मनही मन सोचत हरि के गुन।
रह्यो काठ ज्यों भीतर हीं घुन।।"[2]

इसमें 'काठ भीतर घुन का होना' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है भगवान कृष्ण के विरह की चिन्ता ने मन तथा तन को कुरेद कर क्षीण बना दिया है। 'घुन लगना' एक मुहावरा भी है। जिसका लक्ष्यार्थ है क्षीण होना। इस प्रकार कवि ने बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

"मृदु मुसकनि विष डारि कैं, गये भुजँग लौं भाग।।"[3]

इसमें 'विष डारि कै' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है स्नेह से अभिभूत करके विरह जन्य वेदना दे गए। इस प्रकार की उक्ति से भावना में तीव्रता आ गई है।

सारोपा गौणी लक्षणाः—

"श्रीगुरु कृपा निधान, बन्दौं पद महि माथ धरि।
जासु बचन जलयान, नर चढ़ि भव सागर तरहि।।"[4]

इसमें 'बचन जलयान' लाक्षणिक पद है। इस पद में बचन उपमेय और जलयान उपमान है। आधार गुण साम्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव-बिंब को गोचर तथा संवेदनीय बना दिया है।

"प्रकटे गोकुलचंद, संत कुमुद वन मोदकर।
तम कुल असुर निकंद, ब्रजजन चारू चकोर हित।।"[5]

इसमें 'संत कुमुद' तथा 'ब्रजजन चकोर' लाक्षणिक पद हैं। इनमें संत एवं ब्रज जन उपमेय और कुमुद तथा चकोर उपमान हैं। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

---

१. ब्रज-विलास, ब्रजवासी दास, सं० १९५३, पृ० १५८
२. वही पृ० १६९
३. वही पृ० ५४७
४. वही पृ० ५
५. वही पृ० २७

"वर्षत परमानंद जल नंद सदन जग माँहि ।
ध्यान भूमि द्दग सरित सग, जन उर सिंधु समाहि ।।"[१]

इसमें 'परमानंद जल' 'ध्यान भूमि, 'द्दग सरित' तथा जन उर सिंधु लाक्षणिक पद हैं। इनका आधार साद्दश्य है। इन पदों में परमानंद, ध्यान, द्दग एवं जन उर उपमेय हैं और जल, भूमि, सरित तथा सिंधु उपमान हैं। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

'हरि हम सों ऐसी करी, कपट प्रीति विस्तार।
भई विरह विस बेल ब्रज, रस की ऊख उखार।।"[२]

इसमें 'विरह विष वेलि' पद लाक्षणिक है। इस पद में विरह उपमेय और विष वेलि उपमान है। इसका आधार साद्दश्य है। इस प्रकार कवि ने बिंब को संवेदनशील बनाया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा:—

"बन्दौं युगल किसोर, रूप राशि आनंदघन।
दोऊ चन्द चकोर प्रीति रीति रस वश सदा।।"[३]

इसमें 'चन्द' तथा 'चकोर' पद लाक्षणिक हैं। ये दोनों पद क्रमशः कृष्ण और राधा के उपमान हैं। इनका आधार गुण धर्म साम्य है। कवि ने इनमें उपमान के द्वारा ही उपमेय का बिंब संवेदनीय बनाया है।

"यह सुनि कह्यो और इक ग्वाली।
कहत कहा मधुकर सो आली।।"[४]

इसमें 'मधुकर' लाक्षणिक पद है। यह पद भगवान श्री कृष्ण का प्रतीक है। गुण साम्य के आधार पर यह प्रतीक ग्रहण किया गया है। यहाँ कवि ने मधुकर पद के द्वारा ही कृष्ण का भाव बोध कराया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। इन प्रयोगों द्वारा लाक्षणिक चमत्कार भी उत्पन्न हुआ है। इस चित्रात्मकता से कवि के भावों में संप्रेषणीता भी आई है। इतने पर भी यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इन प्रयोगों से काव्य की चारुता विशेष रूप से समृद्ध नहीं हो पाई है।

'रामाश्वमेध'

मधूसूदन दास ने गोविन्ददास के अनुरोध पर सं० १८३९ वि० में 'रामाश्व-

---

१. ब्रज-विलास, ब्रजवासी दास, सं० १९५३, पृ० २९
२. वही पृ० ५४६
३. वही पृ० २
४. वही पृ० ५४६

मेध' प्रबन्ध-काव्य की रचना की। इस ग्रन्थ का कथा क्रम विस्तार के साथ पद्म-पुराण से लिया गया है। इस ग्रन्थ में प्रधानता दोहे-चौपाइयों की है, पर बीच-बीच में गीतिका आदि छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसकी भाषा में शिष्टता और प्रबन्ध-कौशल को देखकर इनकी श्रेष्ठ कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है।

इन्होंने बोलचाल की भाषा को ही काव्य-भाषा स्वीकार किया। इसलिए इन्होंने अभिधा द्वारा ही अधिकतर अपने भावों को संप्रेषणीय बनाया है। फिर भी इनके इस विशाल ग्रन्थ में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ लक्षणा शक्ति की इन्हें सहायता लेनी पड़ी है। यहाँ उनमें से कुछ लाक्षणिक प्रयोगों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा :—

"तिनहीं के पद पंकज माही।
मुनि मन बसहिं भंग की नाही॥"[1]

इसमें 'बसहि' पद लाक्षणिक है। वास करना प्राणी मात्र का सम्भव है पर मन का नहीं। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है मन का स्थिर होना। इस प्रकार कवि ने बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

"रघुपति चरन तामरस फूला,
इमि मन चंचरीक तहँ झूला।"[2]

इसमें 'झूला' पद लाक्षणिक है। मन तथा चंचरीक दो में से किसी का भी झूलना सम्भव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है आनन्दित होना। इस प्रकार यह वर्णनीय प्रसंग ने गोचर रूप ले लिया है।

गौणी सारोपा लक्षणा—

"रावणारि जसु उदधि अपारा।
ब्रह्मादिक कहि सकै न पारा॥"[3]

इसमें 'जसु उदधि' लाक्षणिक पद है। इस पद में यश उपमेय और उदधि उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को तीव्र एवं प्रेषणीय बनाया है।

"श्री रघुपति पद पद्म परागा।
निरभर प्रेम भरत मनु लागा॥"[4]

इसमें 'पद पद्म' लाक्षणिक पद है। इस पद में पद उपमेय और पद्म उप-

---

१. रामाश्वमेध, मधुसूदनदास, हस्तलिखित प्रति, सभा-संग्रह ८८७, पन्ना ७१
२. वही प० १००
३. वही प० ३
४. वही प० ५

मान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भावोद्बोधकता एवं रमणीयता की श्रीवृद्धि कर दी है।

"उदर अनूप जंघ मनुहारी,
पद पंकज निरषत सुषकारी।
रज पराग मह मुनि मन भंगा,
बसत रहै संतत रस रंगा॥"[1]

इसमें 'पद पंकज', 'रज पराग' तथा 'मन भ्रंगा' लाक्षणिक पद हैं। इनमें पद, रज एवं मन उपमेय और पंकज, पराग तथा भ्रंगा उपमान है। इनका आधार सादृश्य है। इस प्रकार कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"रघुपति चरन तामरस फूला,
इमि मन चंचरीक तहँ झूला।"[2]

इसमें 'चरन ताम रस' तथा 'मन चंचरीक' लाक्षणिक पद हैं। इनमें चरन एवं मन उपमेय हैं और तामरस तथा चंचरीक उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। इस प्रकार से कवि ने वर्णन को गोचर रूप प्रदान कर दिया है।

"सीता पति मुष पंकज देषी।
भए अचंचल पलक विशेषी॥"[3]

इसमें 'मुष पंकज' लाक्षणिक पद है। इस पद में मुख उपमेय और पंकज उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव-बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा—

"धर्म सिंधु दुष्टन कर काला।
ग्यारह सहस बरष श्रीरामा॥"[4]

इनमें 'धर्म सिंधु' और 'दुष्टन कर काला' लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद श्रीराम के विशेषण हैं पर यहाँ इनका प्रयोग उपमान की तरह हुआ है।

इन उदाहरणों के आधार पर निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि 'रामश्वमेध' के लाक्षणिक-प्रयोग पर्याप्त स्वच्छ और स्पष्ट हैं। इन प्रयोगों में स्वाभाविकता के साथ ही साथ बिंब गोचरता की भी सामर्थ्य है। इनके द्वारा कवि के भावों में तीव्रता तथा काव्य में संवेदनशीलता का सन्निवेश हुआ है।

---

१. रामाश्वमेध. मधुसूदनदास, हस्तलिखित प्रति, सभा-संग्रह ८८७, पन्ना ७०
२. वही प० १००
३. वही प० १९६
४. वही प० १२

'लौकिक ऐतिहासिक कल्पनात्मक कथा-काव्य'

रीतिकालीन प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत लौकिक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य भी आते हैं। इन ग्रन्थों में हम्मीर रासो और सुजान चरित्र उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। हम्मीर रासो में हम्मीर देव का चरित्र वीर गाथा काल की छप्पय पद्धति में लिखा गया है। 'सुजान चरित्र' में सुजान सिंह के युद्धों का वर्णन है। दोनों ग्रन्थ ऐतिहासिक महापुरुषों की वीर गाथाएँ गाते हैं।

यहाँ पर क्रमशः हम्मीर रासो तथा सुजान चरित्र में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को दिखाया जा रहा है।

'हम्मीर रासो'

'हम्मीर रासो' रीतिकालीन लौकिक ऐतिहासिक कल्पनात्मक कथा-काव्य है। इसके रचयिता जोधराज हैं। यह प्रबन्ध-काव्य संवत् १८७५ में लिखा गया। इस ग्रन्थ में रणथम्भौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीर देव का चरित्र वीर गाथा-काल की छप्पय पद्धति में लिखा गया है। यह एक वीर रसात्मक काव्य है। इन छन्दों में सर्वत्र ओजपूर्ण भावना दर्शनीय है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि जोधराज जी को ऐतिहासिक परम्परा की अच्छी जानकारी थी। इन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा से वीर नायक हम्मीरदेव के चरित्र को प्रस्तुत करने में उचित सफलता पाई है।

इस विशाल ग्रन्थ में अनेक ऐसे स्थल आए हैं जहाँ कवि ने भाव बिंबों को गोचर कराने के लिए लक्षणा की सहायता ली है। इन प्रयोगों में अवसरोचित भावों के संप्रेषण करने की पर्याप्त सामर्थ्य है। कहीं-कहीं पर मुहावरों तथा लोकोक्तियों द्वारा भी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता स्थापित की गई है। यहाँ पर उनमें से कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा—

"अहि ज्यूँ गही छछूँदरी, यों हजरत की गथ्थ।"[1]

इसमें 'अहि ज्यूँ गही छछूँदरी' लाक्षणिक पद है। यहाँ 'भइ गति साँप-छछूँदर केरी' लोकोक्ति को ही ग्रहण किया गया है। इसका लक्ष्यार्थ है किंकर्तव्य विमूढ़ होना। इसी लक्ष्यार्थ में ही लोकोक्ति रूढ़ हो गई है।

"जो दूजो सर छंडिहै, हनिहै बिस्वा बीस।"[2]

इसमें 'हनिहै बिस्वा बीस' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है–निश्चित रूप से मार डालेंगे। यही लक्ष्यार्थ मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

---

१. हम्मीर रासो, कवि जोधराज कृत, सं० बाबू श्यामसुन्दरदास, तृ० सं०, पृ० ११३ पद सं० ६४५

२. वही पृ० ११३, पद सं० ६४४

शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

"वर्षत रंग अनंग सुबाला । मनहुँ अनेक कमल की माला ।"[1]

इसमें 'वर्षत रंग अनंग' लाक्षणिक पद है । वर्षा करना बादल का धर्म है, यहाँ बाला के पक्ष में प्रयुक्त है और साथ ही अनंग रंग की वर्षा कहकर मुख्यार्थ द्वारा अर्थ की प्रतीति को असम्भव बना दिया गया है । इसका लक्ष्यार्थ है सुन्दर युवती काम भावना को तीव्र कर रही है । इस प्रकार पद को अर्थ का नया आयाम मिल गया है ।

"महा मोद मन बढ्यो परस्पर तन मन फुल्लिव ।"[2]

इसमें 'फुल्लिव' पद लाक्षणिक है । फूलना पुष्प धर्म है, यहाँ तन-मन के पक्ष में प्रयोग किया गया है । इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है प्रसन्न होना । इस प्रकार पद को नए अर्थ से मण्डित कर दिया गया है ।

"महिमा साह जु तुरत ही गए हवेली आप ।
देखत ही सब भाँति सुख मिटी सकल तन ताप ।।"[3]

इसमें 'ताप' पद लाक्षणिक है । ताप अग्नि अथवा सूर्य में होता है । इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है दुख और 'मिटी' का इसी प्रकार लक्ष्यार्थ है समाप्त होना ।

सारोपा गौणी लक्षणा—

"अनार दंत कुंदयं, लसंत वज्र दंतयं ।
बुलंत बाणि कोकिला, विपंच की सुरं मिला ।।"[4]

इसमें 'बाणि कोकिला' लाक्षणिक पद है । इस पद में वाणी उपमेय और कोकिला उपमान है । इसका आधार सादृश्य है । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को तीव्रता प्रदान किया है ।

"दौऊ जंघ रंभ कंचन दिपत, धरी कमल हाटक तनै ।
गति हंस लखत मोहत जगत, सुर नर मुनि धीरज हनै ।।"[5]

इसमें 'जंघ रंभ कंचन' तथा 'गति हंस' लाक्षणिक पद हैं । इनमें जंघ एवं गति उपमेय हैं और रंभ कंचन तथा हंस उपमान हैं । इनका आधार सादृश्य है । कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बना दिया है ।

---

१. हम्मीर रासो, कवि जोधराज कृत, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, तृ० सं० पृ० २६, प० सं० ४६
२. वही पृ० ४१ पद सं० २३०
३. वही पृ० ५३ पद सं० ३०५
४. वही पृ० २५, पद सं० १४१
५. वही पृ० २५, प० सं० १४२

"चंचल नैन चलैं चहुँ आसा । रूप-सिंधु मनु मीन सुपासा ।।"[1]

इसमें 'रूप-सिंधु' लाक्षणिक पद है। इस पद में रूप उपमेय और सिंधु उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

**"पंचानन मधि देस रहत सोभा हिय हारी।
मनहु काँम के चक्र उलटि दुंदुभि दोउ डारी ।।"[2]**

इसमें 'पंचानन' (शिव) पद लाक्षणिक है। यह पद उरोजों का उपमान है। इसके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। यहाँ कवि ने उपमान के माध्यम से ही भाव को संवेदनशील बनाया है।

"अलक सलक अतिसै चटकारी। अमी पियत ससि नागिन कारी ।।"[3]

इसमें 'ससि' तथा 'नागिन कारी' लाक्षणिक पद हैं। ये पद मुख और चोटियों के उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। इस प्रकार कवि ने उपमान के ही माध्यम से बिंब को संवेदनीय बना दिया है।

इन प्रयोगों से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि हम्मीररासो में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग प्रसंगानुकूल काव्य के सौष्ठव को समृद्ध करने में बड़े सहायक हैं। इनके प्रयोगों में स्वाभाविकता है। इससे समर्थ लाक्षणिक चित्रात्मकता का प्रणयन इनके द्वारा सम्भव हो सका। इन प्रयोगों से काव्य जनित भावों की संवेदनशीलता तथा तीव्रता में अभिवृद्धि हुई है। कवि की वीर भावना को सहज, स्वाभाविक एवं स्वच्छ संप्रेषणीयता इन बिंबों द्वारा प्राप्त हुई है।

'सुजान चरित्र'

सूदन कृत 'सुजान चरित्र' लौकिक ऐतिहासिक कल्पनात्मक कथा-काव्य है। इसमें भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह के पराक्रमपूर्ण चरित्र का वर्णन किया गया है। यह वीररसात्मक ग्रन्थ है। इसमें भिन्न-भिन्न युद्धों का वर्णन है। ऐसे अनेक स्थल इस ग्रन्थ में वर्तमान हैं जहाँ कवि साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण कर दिया है। इसी कारण ऐसे चरित्र नायक को लेकर कवि निभा नहीं पाया है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि कवि में युद्ध एवं चित्त की उमंग की अभिव्यक्ति करने की पर्याप्त सामर्थ्य थी। इस ग्रन्थ का कवि भाषा के साथ भी न्याय नहीं कर पाया है क्योंकि शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा

---

१. हम्मीर रासो, कवि जोधराज कृत, सं० बाबू श्यामसुन्दर दास, तृ० सं० पृ० २६, प० सं० १४६
२. वही पृ० २५ प० सं० १४२
३. वही पृ० २६ प० सं० १४८

गया है। इसी के साथ ही साथ इनकी भाषा में पंजाबी और खड़ी बोली का भी पुट है।

इस विस्तृत ग्रन्थ में कई बड़े मार्मिक स्थल हैं, जहाँ कवि की वाणी में वक्रता उक्ति में वैचित्र्य तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की झलक दिखाई पड़ती है। इन प्रसङ्गों पर भाव में तीव्रता और काव्य में पर्याप्त संवेदनशीलता भी आई है। इन्हीं प्रसङ्गों से कुछ लाक्षणिक प्रयोग यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

निरूढ़ा लक्षणा :—

"सूरन के मुखनूर कायरनु सूखि गयो मुख......।"[1]

इसमें 'सूखि गयो मुख' मुहावरा है। वृक्षादि का सूखना तो संभव है पर मुख का सूखना संभव नहीं है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है भयभीत होना अथवा चिन्तित होना। इसी अपने लक्ष्यार्थ में ही मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"तब ही बकसी के कटक खल भल परी अपार।
आए आए सब कहैं सूरज सुभट उदार॥"[2]

इसमें 'खल भल परी' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है घबरा जाना। इसी लक्ष्यार्थ को ही मुहावरा मुख्यार्थ बना लिया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा —

"बसै बाँह की छाँह में छत्रधारी।
हिये साहि के साहि के संगपारी ॥"[3]

इसमें 'बसै बाँह की छाँह' लाक्षणिक पद है। वृक्षादि की छाँह में बसना तो संभव है पर बाँह की छाँह में बसना असंभव है। इसलिए इसकालक्ष्यार्थ है आधीनता स्वीकार करना अथवा शरण में आना। इस प्रकारके कथन द्वाराकवि ने बिंब का विधान किया है।

"मौला जिसे देहिगा रहैगा खेत मजबूत।"[4]

इसमें 'खेत मजबूत रहैगा' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है 'युद्ध में उसी की विजय होगी।' इस प्रकार के कथन द्वारा भाव में तीव्रता उत्पन्न की गई है।

"हाथी हटि जात साथी संग न थिरात श्रौन भारती में न्हात गंग कीरति तरंग में।"[5]

इसमें 'न्हात' पद लाक्षणिक है। इस पद में कानों का नहाना कहा गया है जो असंभव है क्योंकि कानों के द्वारा वाणी सुनी जाती है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है कर्ण कुहर चीख-पुकार से भर जाते हैं।

---

१. सूदन कवि कृत, 'सुजान-चरित्र' सं० श्रीराधाकृष्णदास, सं० १९०२ ई०, पृ० १३ पद ३०
२. वही पृ० ५ पद ४९
३. वही पृ० १२ पद १०
४. वही पृ० १४
५. वही पृ० ३ पद १९

"वीर रस रंग में यौं आनन्द उमंग में सो पगु-पगु प्राग होत जोधन के जंग में।"[१]

इसमें "पगु-पगु प्राग होत" लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है पग-पग पर योद्धा वीर गति को प्राप्त हो रहे थे। इस प्रकार कवि ने 'प्रयाग होना' कहकर अद्‌भुत लाक्षणिक चमत्कार पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

"सूरज प्रताप के ताप भुव छीन सरोवर सम करिय।"[२]

इसमें 'ताप' लाक्षणिक पद है। सूर्य अथवा अग्नि में ताप होना संभव है पर किसी व्यक्ति में नहीं। इसलिए यहाँ ताप का लक्ष्यार्थ है धाक अथवा प्रताप। इस प्रकार भाव में संप्रेषणीयता आ गई है।

"जैत के निधान तेज भान के समान सान,
आजु तौ जिहान में सुजान मुख रंग है।"[३]

इसमें 'मुख रंग है' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है यशस्वी होना अथवा शान बढ़ाना। इस प्रकार के कथन द्वारा कवि ने भाव को गोचर कर दिया है।

"यों कहि सफदर जंग ने लीने पाव उठाइ
अपने डेरन कूँ चल्यौ सूरज सौं सुख पाइ।"[४]

इसमें 'पाव उठाइ' तथा 'सुख पाइ' लाक्षणिक पद हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है युद्ध भूमि से पीछे हटना और हार स्वीकार करना। इस प्रकार के कथन द्वारा भाव-बिंब संप्रेषणीय हो गया है।

सारोपा गौणी लक्षणा—

"सब आनि मानि बदनेस पूत, सजि सैन चली सरिता अभूत।"[५]

इसमें 'सैन सरिता' लाक्षणिक पद है। इस पद में सैन उपमेय और सरिता उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"भुजन उसारि लीनी उर सौं लगाइ प्यारी अरस परस अधरामृत को लीनो है।"[६]

इसमें 'अधरामृत' पद लाक्षणिक है। इस पद में अधर उपमेय और अमृत उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बनाया गया है।

---

१. सूदन कवि कृत 'सुजान-चरित्र,' सं० श्री राधाकृष्णदास, सं० १९०२ ई० पृ० ३ पद १९
२. वही पृ० १ पद ३७
३. वही पृ० १० पद ५०
४. वही पृ० ३६ पद ६२
५. वही पृ० ३२ पद १७
६. वही पृ० ४४ पद १३६

गौणी साध्यवसाना लक्षणा—

'दोऊ जलजात मुख मानो मनजात जान
इन्दु अरविन्दु कौ मिलाप कर दीनो है।"[1]

इसमें 'जलजात' पद लाक्षणिक है। यह पद दोनों नेत्रों का उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमान के माध्यम से ही बिंब को संवेदनीय बनाया है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सुजान चरित्र' में लाक्षणिकता का अभाव नहीं है। इन लाक्षणिक प्रयोगों में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता द्वारा कवि ने भावों को संवेदनीय बनाया है। यद्यपि ऐसे प्रयोग विरल ही हैं जिनसे लाक्षणिक चरुता की अभिवृद्धि होती है।

'वर्णन प्रधान लघु प्रबन्ध'

रीतिकाल में कथात्मक प्रबन्धों से भिन्न वर्णन प्रधान लघु प्रबन्धों की भी रचना हुई। इन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ वस्तु वर्णन के प्रसंग आते हैं।[2] वस्तुत: शृङ्गारिक काव्य से जिस प्रकार नख शिख, षड्ऋतु आदि को लेकर इस काल में स्वतन्त्र ग्रन्थों की उद्भावना हुई, उसी प्रकार प्रबन्ध काव्यों से लेकर दान लीला, मानलीला, जलबिहार, बन बिहार आदि का प्रणयन भी हुआ। साहित्यिक दृष्टि से ये ग्रन्थ बहुत उल्लेखनीय नहीं हैं, क्योंकि अधिकांश रूप में वस्तुओं का परिगणन ही किया गया है।

इन ग्रन्थों में से अधिकांश अप्राप्य हैं। [नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, मारवाड़ी पुस्तकालय, कानपुर, भारतीय विद्या-भवन पुस्तकालय, बम्बई, बी० एस० एस० डी० कालिज, कानपुर आदि पुस्तकालयों में ढूँढ़ने के पश्चात् भी केवल कर्तराम कृत 'दान लीला' ग्रन्थ ही प्राप्त हो सका। ध्रुवदास ग्रन्थावली में लगभग ४२ लीलाओं का संग्रह है जो नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में प्राप्त है। इसे भारत जीवन प्रेस, काशी ने प्रकाशित किया है। आचार्य शुक्लजी ने ध्रुवदास की गणना भक्तिकाल में की है और उनका समय १६४० से १७०० वि० तक ठहराया है। अत: इन लीलाओं को यहाँ उद्धृत करना सीमा के बाहर जाना प्रतीत होता है। यद्यपि ध्रुवदास ग्रन्थावली में रचनाकाल सं० १६४०–१७४० वि० माना गया है] यहाँ पर कर्तराम की कृति 'दानलीला' में आए हुए कुछ लाक्षणिक प्रयोगों को उद्धृत किया जा रहा है।

---

१. सूदन कविकृत, 'सुजान-चरित्र, सं० श्रीराधाकृष्णदास, सं० १९०२ ई० पृ० ४४ पद १३६

२. हि० सा० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० २८१

'दानलीला'

दानलीला के रचयिता कवि कर्ताराम हैं। इस ग्रन्थ की पूर्ति वि० सं० १८८२ अश्विन शुक्ला द्वादशी, दिन सोमवार को हुई। इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री सुधाकर द्विवेदी हैं और श्रीकृष्ण छापाखाना उदयपुर से मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय दधि दानलीला है। इसमें गोपियों और कृष्ण के संवाद की मधुर झाँकी प्रस्तुत की गई है। यहाँ इस ग्रन्थ में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को दिखाया जारहा है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"ज्यों बड़े वंस तै आपु छुटि, बड़े वंस ते और न हू को छुटावति।[1]

इसमें 'वंस ते 'छुटावति' (वंश छुड़ाना) मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है पाणिग्रहण के पश्चात् लड़कियाँ दूसरे बंश में चली जाती हैं और पितृवंश छूट जाता है। इस पद में गोपियों के कथन में इसी ओर संकेत किया गया है। कवि प्रौढ़क्ति से इसका प्रयोग प्रचलित होकर मुहावरे का रूप ग्रहण कर लिया है। अपने इसी अर्थ में यह पद रूढ़ हो गया है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा—

"बन्शी तू याहि ते कूँकि गई तुहि, फूँकि कै मैन की आगि जगावति।
ठौर छ सात के छेदि गई उर, छेदति तोहि दयानहिं आवत॥"[2]

इसमें 'आगि जगावति' तथा 'छेदि गई उर' लाक्षणिक पद हैं। इन पदों में क्रमशः मैन की अग्नि जगाना और उर का छेदना कहा गया है। यह कथन बाँसुरी के पक्ष में कहा गया है जो असंभव है। अतः प्रथम पद में अग्नि का लक्ष्यार्थ भावना है और द्वितीय पद छेदना का लक्ष्यार्थ तीव्राकर्षण द्वारा व्यथित करना है।

"कुंज-कुंज ठौरि-ठौरि दौरि-दौरि हेरति है,
बाबरी भई है सब साँवरे की बन्शी सुनि॥"[3]

इसमें 'बाबरी भई है' पद लाक्षणिक है। इसका लक्ष्यार्थ है कृष्ण के स्नेह में विमुग्ध हो जाना। इस प्रकार कवि ने शब्द को अर्थ का नया आयाम दे दिया है।

"प्रात क्रिया करि मंजन कै, दृग अंजन खंजन रूप बनै ये।
आज चलौ दधि बेचन री, सिगरे ब्रज-मंडल माहि जनैये।
मोद करै सुनि गोप-वधू अजु, होत विनोद महा सुख पैये।
साजहु अंग सँवारहु भूषन, वेगि चलो मथुरा पुर जैये॥"[4]

---

१. 'दानलीला, कर्ताराम, सं० सुधाकर द्विवेदी, तृ० सं० सं० १९९४ वि० पृ० २४ पद ५६
२. वही पृ० २४ पद ५६
३. वही पृ० २३ पद ५५
४. वही पृ० १ पद २

इसमें 'दृग अंजन खंजन' लाक्षणिक पद है। इसमें दृग अंजन उपमेय और खंजन उपमान है। इनके एकात्म का आधार रूप साम्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को गोचर बनाया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कर्तारामकी इस रचना में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का अभाव तो नहीं है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इन लाक्षणिक प्रयोगों से काव्य की चारुता समृद्ध नहीं हुई है। कवि ने अपने अधिकांश भाव चित्रों को अभिधा द्वारा ही संवेदनीय बनाया है।

'अनूदित प्रबन्ध काव्य'

अनूदित प्रबन्ध काव्य भी रीतिकालीन प्रबन्धों के ही अन्तर्गत आते हैं। इन ग्रन्थों में गुमान मिश्र का नैषध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ श्रीहर्ष के नैषध का अनुवाद है। मार्मिक और जटिल स्थलों का अनुवाद सफलता पूर्वक मिश्र जी नहीं कर पाए हैं, इससे अर्थ में अस्पष्टता आ गई है। यह दोष इन्हीं का नहीं है, बल्कि निश्चिन्तता के साथ यह कहा जा सकता है कि जिन रीतिकालीन कवियों ने संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करने का प्रयत्न किया उन्हें पूर्ण रूप से सफलता नहीं मिली। सभी रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत के साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद करने का प्रयास किया, पर सभी असफल रहे।

इस स्थल पर नैषध में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों की चित्रात्मकता की सामर्थ्य का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

'नैषध'

गुमान मिश्र कृत 'नैषध' श्रीहर्ष कृत नैषध काव्य का पद्यानुवाद है। इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १८०० वि० है। मिश्र जी की साहित्यिक प्रतिभा का परिचय इनकी साहित्यक मर्मज्ञता, कला कौशल और छन्दों की विविधता से प्रकट हो जाती है। इस ग्रन्थ का अनुशीलन करने से यह निश्चित हो जाता है कि भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। यहग्रन्थ मिश्रजी की स्वतंत्र रचना नहीं है, इसी कारण का संस्कृत के जटिल श्लोकों पद्यानुवाद करने में इनकी वाणी उलझ गई है। इससे अर्थ की स्पष्टता नहीं हो पाती है।

इस ग्रन्थ में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कवि को अपने विचारों को सहृदय-पाठक तक पहुँचाने के लिए लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की सहायता लेनी पड़ी है। भावों को तीव्रता प्रदान करने के लिए, उन्हें—संवेदनीय बनाने के लिए कवि को लाक्षणिक प्रयोग करने ही पड़ते हैं। लाक्षणिक चित्रात्मकता काव्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, इसके बिना काव्य में चारुता का समावेश नहीं हो पाता है, यहाँ 'नैषध' में आए हुए कुछ लाक्षणिक चमत्कारों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

निरूढ़ा लक्षणा—

"जीति लिये जग शत्रु घनेरे ।। सातौं द्वीपन के नृप चेरे ।।
गाइन में मिलि बाक बसै जू ।। चौरन में मिलि साह हँसे जू ।।[१]

इसमें 'गायों में मिलकर बाघ का बसना' तथा चोरों में मिलकर साह का हँसना कहावतें हैं। इनका लक्ष्यार्थ है सबल निर्बल को अन्यायी सज्जन को सताते नहीं। अर्थात् राज्य में भय नहीं रह गया है। यही लक्ष्यार्थ ही कहावतों का मुख्यार्थ हो गया है।

"जहँ फूल की साँट नहीं है लगी चित कोमल राजकुमारि सभागी ।।"[२]

इसमें 'फूल की साँट न लगना' मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ है रंचमात्र कष्ट नहीं सहा है। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

"कीजै दौरि गोहारि, समर करन आयो समर।
लीजै याहि उबारि, याके जीवत जीवनो ।।"[३]

इसमें 'कीजै दौरि गोहारि' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है सहायता के लिए लोगों को बुलाना। यही लक्ष्यार्थ ही मुहावरे का मुख्यार्थ हो गया है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा:—

"नरहू के परसंग में, कहै सखी नल कोइ ।।
सुनि सरीर पीरी परै, पल में पीरी होइ ।।"[४]

इसमें 'सरीर पीरी परै' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है शरीर चिन्ता-ग्रस्त हो जाती है और निर्जीव सी प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार कवि ने अर्थ को नया आयाम प्रदान कर दिया है।

"हौं प्रभु हौं बलहीन पखेरू ।। हौ तुम राजन मांह सुमेरू ।।"[५]

इसमें 'सुमेरू' पद लाक्षणिक है। इसका मुख्यार्थ पहाड़ विशेष है. पर लक्ष्यार्थ सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार के कथन द्वारा भाव में तीव्रता आ गई है।

"आनन लोचन कर पग मोचन सजे कमल में सरस बने।
ताप बढ़ायैं ज्यों अकुलामैं रवि संयोग सो घामसने ।।

---

१. नैषध-काव्य गुमान मिश्र, सं० १९५२, द्वि० सर्ग, पृ० ९ प० सं० १७
२. वही पृ० ४२, प० सं० २०
३. वही पृ० ४३, प० सं० ३३
४. वही पृ० ११, प० सं० ४१
५. वही पृ० ४१, प० सं० १४

वाणनि मारै हियो विदारै निरदै मन्मथ वैर पर्यो।
अंगनि डाढ़ै त्यों त्यों बाढ़ै यहि अनीति सों फूलि फर्यो ॥"[1]

इसमें 'ताप वढ़ामैं', 'वाणनि मारै', अंगनि डाढै' तथा 'फूलि-फलो' पद लाक्षणिक हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—वेदना उत्पन्न करते हैं, काम भावना से व्यथित करते हैं, अंग-अंग में तीव्र वेदना होती है और विकसित हो रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक पद को कवि ने नए अर्थ से मंडित कर दिया है।

"फैलि गयो अंग अंगम में विष ज्यों मिसु कै हम नेकु निहारी।"[2]

इसमें 'फैलि गयो अंग अंगन में विष' लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है संपूर्ण रूप से स्वरूप का प्रभाव छा गया अर्थात् स्वरूप के वशीभूत हो गए।

सारोपा गौणी लक्षणा:—

"सुनि सुनि मदन पीर सरसानी तनु कदम्ब के तूल बने।"[3]

इसमें 'तनु कदंब के तूल' लाक्षणिक पद है। इस पद में तनु उपमेय और कदंब के तूल उपमान है। इनके एकात्म्य का आधार साहश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव को संप्रेषणीय बनाया है।

"कहुँ तरुवर पंडित से राजै।
फैले पत्र पुराण विराजै ॥"[4]

इसमें 'पत्र पुराण' लाक्षणिक पद है। इस पद में पत्र उपमेय और पुराण उपमान है। इसका आधार साहश्य है। कवि ने उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बनाया है।

"तेरे स्वरूप सुधारस पान ते प्रीति न ओर बड़ी जिय मेरे।"[5]

इसमें 'स्वरूप सुधारस' लाक्षणिक पद है। इस पद में स्वरूप उपमेय और सुधारस उपमान है। इनके एकात्म्य का आधार साहश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनीय बना गया है।

"नाभि सुधारस की सरसी लखि झंपि पर्यो यहि मांह बुझान्यो।"[6]

इसमें 'नाभि सुधारस की सरसी' लाक्षणिक पद है। इसका आधार साहश्य है। इस पद में नाभि उपमेय और सुधारस की सरसी उपमान है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को स्पष्ट किया गया है।

---

१. नैषध-काव्य, गुमान मिश्र, सं० १६५२, पं० सर्ग, प० सं० १६ पृ० ४१
२. वही अ० सर्ग, प० २६ पृ० ६८
३. वही द्वि० सर्ग, प० ४० पृ० ११
४. वही द्वि० सर्ग, प० ८३ पृ० १४
५. वही च० सर्ग, प० ४७ पृ० ३४
६. वही अ० सर्ग, प० ५० पृ० ७१

"उरज उतंग श्रृंग में रूपै उदित चंद्र बंक नख अंक लाल मालनि सराहि कै ।"[१]

इसमें 'उरज उतंगश्रृंग' तथा 'रुपै उदित चन्द्र' लाक्षणिक पद हैं। इनमें उरज एवं रूप उपमेय और उतंग श्रृंग तथा उदित चन्द्र उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। उपमेय का उपमान पर आरोप करके बिंब को संवेदनशील बनाया गया है।

"लोचन कमल चढ़ाइ कमल आसन नित पूजै ।"[२]

इसमें 'लोचन कमल' लाक्षणिक पद है। इसका आधार सादृश्य है। इस पद में लोचन उपमेय पर कमल उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा—

"तातें कढ़ी यह धूम लता अति सूक्ष्म सुन्दर रूप बखान्यो ।
सोई वरंगिनि की बरनी नव रोमावली मन हेठ हेरान्यो ।।"[३]

इसमें 'धूमलता' लाक्षणिक पद है। यह पद रोमावली का उपमान है। इसके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। कवि ने उपमान के द्वारा ही उपमेय के बिंब को संवेदनीय बनाया है।

'बवली एक अकाश पै राजत कंचन तीनि सिढ़ाव सँवारी ।
नील मणीन की राह लसै अति सूक्षम मानहु नागिन कारी ।
कंचन कंज कली युग तापर है परभा रबि की छबिवारी ।
शारद इंदु समीप रहैं निशि वासर फैलि रहै उजियारी ।।"[४]

इसमें 'बावली', 'कंचन तीन सिढ़ाव', 'कंचन कंज कली युग' और शारद इन्दु लाक्षणिक पद हैं। ये सभी पद क्रमशः नाभि, त्रिबली, उरोज तथा मुख के उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है। यहाँ उपमानों के ही द्वारा बिंब को संवेदनशील बनाया गया है।

"कुल शील सुशैल ते छूटि चली उत लाज नदी उमड़ी अति भारी ।
जहँ मज्जतु नाग अनंग बली लहरी जहँ सोच संकोच सँवारी ।।"[५]

इसमें 'कुलशील सुशैल' तथा 'लाज नदी' लाक्षणिक पद हैं। इनमें कुलशील एवं लाज उपमेय हैं और सुशैल तथा नदी उपमान हैं। इनके एकात्म्य का आधार

---

१. नैषध-काव्य, गुमान मिश्र, सं० १९५२, उन्नीसवाँ सर्ग, प० ३१ पृ० १४१
२. वही तेईसवाँ सर्ग, प० ८० पृ० १७५
३. वही अ० सर्ग, प० ५० पृ० ७१
४. वही अ० सर्ग, प० ५१ पृ० ७१
५. वही चतुर्थ सर्ग, प० ५७ पृ० ३५

सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संवेदनशील बनाया गया है।

"तहँ काम के शूल सहे समुहे उर गाढ़ उरोज सरोजनि आगी।"[१]

इसमें 'उरोज सरोजनि' लाक्षणिक पद है। इस पद में उरोज उपमेय और सरोज उपमान है। इनके एकात्म्य का आधार सादृश्य है! उपमेय पर उपमान का आरोप करके बिंब को संप्रेषणीय बनाया गया है।

"उपजी धराधर से तरंगिनी है पियूष श्रृंगार की।
यह पूर योवन को लसै कुच कोक लोक विहार की॥"[२]

इसमें 'कुच कोक' पद लाक्षणिक है। इस पद में कुच उपमेय और कोक उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। उपमेय पर उपमान का आरोप करके भाव गोचर किया गया है।

"याके दृग मृग अति चपल, दोरन मिलत सप्रीति।
करण कूप की भीति इति, उतनासी की भति॥"[३]

इसमें 'दृग मृग' तथा 'करण कूप' पद लाक्षणिक हैं। इनका आधार सादृश्य है। इनमें दृग तथा कर्ण उपमेय और मृग एवं कूप उपमान हैं। उपमेय पर उपमान का आरोप करके कवि ने भावों को तीव्रता प्रदान की है।

"ज्यों मुख चन्द सुधा चुहकी कुहकी बतियाँ त्यों भगी भय भारी।"[४]

इसमें 'मुखचन्द' लाक्षणिक पद है। इसका आधार सादृश्य है। इस पद में मुख उपमेय का चन्द उपमान पर आरोप करके भाव-बिंब को संवेदनीय बनाया गया है।

गुमान मिश्र के लाक्षणिक प्रयोग अपनी परम्परा से जकड़े हुए हैं। इनके लाक्षणिक प्रयोग स्वाभाविक होते हुए भी लक्षणा के क्षेत्र का विस्तार करने में समर्थ नहीं हैं। कोई भी लाक्षणिक प्रयोग ऐसा नहीं हो सका है जो अनुपम या अनोखा कहा जा सके। इसके अतिरिक्त रीतिकालीन चमत्कारिक उक्तियों का भी इनके काव्य में अभाव है। 'नैषध-काव्य' अनूदित प्रबन्ध काव्य है। संस्कृत ग्रन्थ 'नैषध' की शैली में उसका अनुवाद करना कठिन कार्य था। मुख्य रूप से इनका उद्देश्य कथा

---

१. नैषध-काव्य, गुमान मिश्र, सं० १६५२, पं० सर्ग, प० २० पृ० ४२
२. वही स० सर्ग, प० १० पृ० ६७
३. वही स० सर्ग, प० २४ पृ० ६८
४. वही अ० सर्ग, प० २६ पृ० ६८

कहना था। इस कथा के माध्यम से जहाँ कहीं सुन्दर काव्य का सृजन हो गया है वहाँ हो गया है। इस हिन्दी नैषध-काव्य को पढ़कर यह तो नहीं कहा जा सकता है कि संस्कृत 'नैषध' की भाव भंगिमा का अनुवाद ठीक तरह से हो पाया है। मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग विरल ही है। लक्षण-लक्षणा के प्रयोग प्रायः अधिक मिलते हैं, पर भावों को तीव्रता प्रदान करने में बहुत समर्थ नहीं हैं। सारोपा गौणी तथा साध्यवसाना गौणी के प्रयोग कुछ अधिक समर्थ हैं। इनके अप्रस्तुत-विधान परम्परानुमोदित हैं। अप्रस्तुत की नई सम्भावनाओं के प्रति ये सावधान नहीं थे, साथ ही संस्कृत-काव्य परम्परा की विशाल अप्रस्तुत योजना का भी उचित रूप से उपयोग नहीं कर सके हैं।

षष्ठम् अध्याय

लक्षणा के प्रयोग की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन

पिछले अध्यायों में रीतिकाल पूर्व कवियों के रीति-ग्रन्थों में, रीतिकालीन सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में, रस संबंधी ग्रन्थों में, अलंकार संबंधी ग्रन्थों में, रीति-सिद्ध कवियों के काव्य में, रीतिमुक्त स्फुट काव्य में, संत, सूफी, राम तथा कृष्ण काव्य में, वीर रसात्मक काव्य में, नीति व्यवहार संबंधी सूक्ति तथा अन्योक्ति काव्य में और प्रबन्ध-काव्यों में लक्षणा-शक्ति के प्रयोगों को दिखलाया जा चुका है और उनकी विशेषताओं की भी विवेचना की जा चुकी है। अब इस अध्याय में क्रमशः रीतिकाल और आदि कालीन साहित्य में, रीतिकाल और भक्ति कालीन साहित्य में एवं रीतिकाल और आधुनिक साहित्य में आए हुए लाक्ष-णिक प्रयोगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आधुनिककाल को छोड़कर लगभग हिन्दी साहित्य के सभी कालों की प्रमुख काव्य-कृतियों के लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण पिछले अध्यायों में दिखाए जा चुके हैं। अतः उन्हीं उदाहरणों को पुनः यहाँ उद्धृत करना पिष्टपेषण मात्र होगा। इस दृष्टि से यहाँ आदिकाल और रीतिकाल तथा भक्तिकाल एवं रीतिकाल के लाक्षणिक प्रयोगों की विशेषताओं को ही प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके अनन्तर आधुनिक साहित्य में आए हुए लाक्ष-णिक प्रयोगों को देते हुए रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों की तुलना की जाएगी और अन्त में रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धियों तथा दोषों पर प्रकाश डाला जाएगा।

'रीतिकाल और आदिकालीन साहित्य'

आदिकाल को आचार्य शुक्ल जी ने वीर गाथा काल नाम से अभिहित किया है। इस काल की प्रमुख साहित्यिक कृतियाँ 'खुमाण रासो' बीसलदेव रासो और पृथ्वी राज रासो हैं। इनमें भी साहित्यिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो ही उल्लेखनीय है। यहाँ पृथ्वीराज रासो और रीतिकालीन साहित्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों की तुलनात्मक विवेचना की जा रही है।

संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य का उत्तराधिकार लेकर 'रासो ग्रन्थ' अवतरित हुए थे। अतः थोड़ी बहुत इनकी विशेषताएं पृथ्वीराज रासो में परिलक्षित होती है। संस्कृत एवं अपभ्रंश काव्यों का पर्याप्त विकास हो चुका था। इनमें वचन भंगिमा में वक्रता, उक्ति में वैचित्र्य और अलंकरण की प्रवृति प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है।

इसका प्रभाव पृथ्वीराज रासो पर भी पड़ा है। पृथ्वीराज रासो का कवि वचन भंगिमा, उक्ति-वैचित्र्य और अलंकरण के प्रति जागरूक है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन बोल-चाल की भाषा डिंगल को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करने के कारण लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी काव्य-शोभा बढ़ाने के प्रसाधन रूप में प्रयुक्त हो गए हैं। इस तरह पृथ्वीराज रासो के अनुशीलन के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस ग्रन्थ में भी पर्याप्त लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं पर ये लाक्षणिक प्रयोग प्रायः— उन्हीं स्थानों पर उपलब्ध होते हैं जहां रूप के अतिशयोक्ति आदि अलंकार हैं अथवा लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग है अथवा जहाँ कवि प्रतिभा ने शब्दों में नए अर्थों का सन्निवेश करना चाहा है। सभी कवि अपने भाव चित्रों को स्पष्ट करने के लिए अप्रस्तुत योजना करते ही हैं उसी प्रकार चंदबरदायी ने भी अप्रस्तुत नियोजन किया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि चंदबरदायी अपने उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं और उन्हीं का उन्होंने बहुतायत से प्रयोग भी किया है। रूपक और अतिशयोक्ति का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है। पृथ्वीराज रासो में उपलब्ध होने वाले लाक्षणिक प्रयोगों के संदर्भ में अब रीति-कालीन लाक्षणिक प्रयोगों का तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करना समीचीन होगा। पृथ्वीराज रासो के लाक्षणिक प्रयोग चित्रात्मकता, संवेदनीयता और संप्रेषणीयता की विशेषताओं से मंडित हैं।

रीतिकाल में लक्षणा के प्रयोगों में पर्याप्त विविधता प्राप्त होती है रीतिका-लीन आचार्यों की शब्दशक्ति विवेचना, अलंकार और नायिका भेद के निरूपण के प्रसंग में शास्त्रीय लाक्षणिक प्रयोग आए हैं। रीति-सिद्ध कवियों के काव्यों में अलं-कारों, लोकोक्तियों-मुहावरों के अतिरिक्त वाणी के सहज विकास में भी लाक्षणिक चित्रात्मकता आई है। रीति-मुक्त स्फुट काव्यों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग तो बहुत ही स्वाभाविक, स्वच्छ और निखरे हुए हैं। सूक्तयों तथा अन्योक्ति में नीति, व्यवहार एवं वैराग्य की अभिव्यक्ति के प्रसंग में भी लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। पिछले खेवे के प्रबन्ध काव्यों में भी यत्र-तत्र लक्षणा के सुन्दर प्रयोग प्राप्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन साहित्यकार आदिकालीन साहित्यकार की अपेक्षा लाक्षणिक प्रयोग करने में अधिक सावधान था। इसीलिए लाक्षणिक चित्रात्मकता के विविध रूप रीतिकालीन साहित्य में पाए जाते हैं।

'रीतिकाल और भक्तिकालीन साहित्य'

भक्तिकालीन साहित्य, जो सं० १३७५—१७०० वि० तक की साधना का स्वरूप है, अपने में अनेक अमूल्य साहित्यिक निधियों को समेटे हुए है। यह साहित्य का स्वर्णिम युग है। भक्तिकाल की धरती पर एक नहीं चार सूर्य—कबीर, जायसी, तुलसी और सूर अपना आलोक बिखेर रहे थे। इनके अतिरिक्त अनेक दीप्तमान

नक्षत्र भी वर्तमान थे। यह धार्मिक भावना के प्रखर प्रवाह का समय था। इस प्रवाह में कर्म, ज्ञान और भक्ति का संगम हो रहा था। इन्हीं भावनाओं की अभिव्यक्ति इस विशाल साहित्य में मिलती है। सन्तों ने ज्ञान की, सूफियों ने प्रेम की, राम भक्तों ने राम भक्ति की और कृष्ण भक्तों ने कृष्ण भक्ति की सुधा प्रवाहित कर दी। जिससे तत्कालीन कोटि-कोटि मानवों को नव जीवन का संदेश प्राप्त हुआ। यहाँ इन्हीं काव्यों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों की चित्रात्मक सामर्थ्य की तुलना की जा रही है। पिछले अध्यायों में पर्याप्त लाक्षणिक प्रयोगों के उद्धरण दिए जा चुके हैं। अतः यहाँ उनकी विशेषताओं की ही चर्चा की जाएगी।

रीतिकाल और सन्त साहित्य—

सन्त साधक थे। उनका उद्देश्य साहित्य सृजन नहीं था। साहित्य की वीथियों से उनका परिचय भी नहीं था। मूलतः उन्हें अपनी साधना सम्बन्धी अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करना था। इस अभिव्यक्त के पीछे कविता स्वयं चलने लगी। ऐसी परिस्थिति में उनकी कविता से काव्य-सौष्ठव, चित्रात्मकता, उक्ति-वैचित्र्य आदि की माँग करना ठीक नहीं है। फिर भी इन सन्तों की बानियों में चित्रात्मकता तथा उक्ति वैचित्र्य है, किन्तु एक विशेष प्रकार के संदर्भ में है। इनके लाक्षणिक प्रयोग आत्मा, परमात्मा, माया, इन्द्रिय, संसार की असारता आदि को लेकर हुए हैं। ऐसे प्रसंगों के अतिरिक्त जहाँ ये आत्म-विभोर होकर प्रिय के गुणगान करते हैं, वहाँ भी लाक्षणिक प्रयोग बन गए हैं। वस्तुतः ये लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति सावधान नहीं थे। इसलिए इनके लाक्षणिक प्रयोग प्रभावोत्पादक नहीं हैं। लाक्षणिक चित्रात्मकता वर्ण्य-विषय को तो स्पष्ट कर देती है, पर काव्य का सौष्ठव समृद्ध नहीं होता है। रीतिकालीन कवि साहित्य सृजन करने के लिए कविता करता था। उसे अपने वाणी वैदग्ध्य से आश्रयदाता और श्रोता को प्रभावित करना था। वे साधना के नाम पर साहित्य देवता की साधना कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में यह बड़ा स्वाभाविक है कि उनके काव्य में वचन भंगिमा, उक्ति-वैचित्र्य और बिम्बात्मकता की प्रचुरता हो। इसलिए संतों के लाक्षणिक प्रयोग और रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों में स्वर्ग-पाताल का अन्तर है। रीतिकालीन प्रयोग अत्यधिक समर्थ है।

रीतिकाल और सूफी साहित्य—

सूफी 'प्रेम पीर' के गायक थे। इनके काव्य में सन्तों की अपेक्षा अधिक वाणी वैदग्ध्य और हार्दिकता है। इन्होंने प्रस्तुत को प्राकृतिक अप्रस्तुतों की सहायता से स्पष्ट किया है। इसके परिणाम स्वरूप रूपकों का इनके काव्य में जमघट लग गया है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग कहीं-कहीं प्राप्त होता है। विरह प्रसंगों में अतिशयोक्ति अलंकार का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इन सभी स्थलों पर बड़े समर्थ और काव्य के सौष्ठव को बढ़ाने वाले लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। कहीं-कहीं जायसी

ने शब्दों को नए अर्थ के आयाम में प्रस्तुत करके लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

रीतिकाल में जो लाक्षणिक विविधता प्राप्त होती है, वह सूफियों के काव्य में नहीं है। रीतिकालीन साहित्यकार ने बड़ी सावधानी से अपने काव्य में काव्य गुणों का सन्निवेश किया है। जायसी के कुछ लाक्षणिक प्रयोगों में वीभत्सता भी देखी जा सकती है, पर रीतिकालीन प्रयोगों में ऐसा नहीं पाया जाता है। जायसी के रूपक एवं अतिशयोक्ति अलंकार, जिनके मूल में लक्षणा रहती है, शास्त्रीयता, स्वाभाविकता और स्वच्छता से सम्पन्न हैं, पर रीति सिद्ध और रीति-मुक्त काव्यों के लाक्षणिक प्रयोगों की स्वच्छता इनमें नहीं है।

रीतिकाल और राम-काव्य—

राम काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग जीवन के विविध पक्षों को चित्रित करने की सामर्थ्य रखते हैं। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में विशेषकर राम-चरित मानस में रूपकों की जैसी अधिकता, स्वाभाविकता और पूर्णता प्राप्त होती है वैसी अन्यत्र तो दुर्लभ ही है। इसके अतिरिक्त लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न करने वाले अन्य अलंकार जैसे रूपकातिशयोक्ति, परिकरांकुर, समासोक्ति आदि भी इनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। इन सभी लाक्षणिक प्रयोगों में संवेदनीयता की सामर्थ्य है, इनसे वर्ण्य-विषय में स्पष्टता आई है और काव्य का सौष्ठव बढ़ा है।

रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों में जीवन के विविध-पक्षों के चित्र तो नहीं हैं, पर शृंगार पक्ष के इतने विविध चित्र हैं कि वे राम काव्य में नहीं पाए जाते। जहाँ तक इन प्रयोगों की स्वाभाविकता का प्रश्न है, वहाँ भी रीति-मुक्त स्फुट काव्य के लाक्षणिक प्रयोग निम्न कोटि के नहीं कहे जा सकते हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता दोनों में समान है। घनानन्द के ऐसे प्रयोग जो विरोधाभास सा उत्पन्न करते हैं, राम-काव्य में नहीं पाए जाते। जहाँ तक लाक्षणिक शास्त्रीयता की बात है, उसकी तो राम काव्य में चर्चा ही नहीं हुई है।

रीतिकाल और कृष्ण-काव्य—

कृष्ण काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग भक्ति और शृंगार के विविध पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। इन रचनाओं में जहाँ एक ओर अलंकारिक लाक्षणिक प्रयोग प्राप्त होते हैं, वहीं दूसरी ओर रस-अवतारणा के लिए किए गए लाक्षणिक प्रयोग भी हैं। इनमें स्वाभाविकता, स्पष्टता तथा संप्रेषणीय भी प्रचुर मात्रा में है। मुहावरे-लोकोक्तियों की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता भी निखरी हुई है।

रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों में भी ऊपर कही गई सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं। काव्य में वैदग्ध्य, उक्ति-वैचित्र्य, बिम्बात्मकता तथा वचन भंगिमा दोनों काव्यों में मिलती है। रस-अवतारणा से सम्बन्धित लाक्षणिक प्रयोग रीतिकालीन

साहित्य में विविध रूपों में वर्तमान हैं, उतनी स्वच्छता तथा स्पष्टता कृष्ण काव्य के प्रयोगों में नहीं है। काव्यगत लाक्षणिक प्रयोगों की शास्त्रीयता तो समस्त हिन्दी साहित्य में केवल रीतिकाल में ही पाई जाती है। इस क्षेत्र में रीतिकालीन साहित्य-कार स्वयं अपने आप में अथ और इति है।

कुल मिलाकर भक्ति-कालीन साहित्य, जो भाव और कला पक्ष की दृष्टि से पर्याप्त समर्थ है, अपने लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से रीति-कालीन साहित्य से उच्च-कोटि का नहीं है।

'रीतिकाल और आधुनिक साहित्य'

आधुनिक साहित्य के परिवेश में ग्रन्थों का एक विशाल समूह सामने आता है। इन सब ग्रन्थों के लाक्षणिक प्रयोगों के सम्बन्ध में कह सकना तो सम्भव नहीं है, पर इस विशाल साहित्य की विशिष्ट धाराओं के प्रतिनिधि कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों के प्रकाश में परीक्षण किया जा रहा है। यहाँ भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावादी काव्य और छायावादोत्तर काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन तथा परीक्षण किया जाएगा। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखते हैं, किन्तु इनसे विकास-क्रम का पता अवश्य चलता है। छायावादी काव्य लाक्षणिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न है। इसके लाक्षणिक प्रयोगों की तुलना में रीतिकालीन प्रयोग पीछे रह जाते हैं। छायावादोत्तर काव्य में भी प्रचुर मात्रा में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं, पर कुल मिलकर अभी रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों से वे पीछे हैं।

'रीतिकाल और भारतेन्दु युग के लाक्षणिक प्रयोग'

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग सं० १९००-१९५० वि० तक माना जाता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे दो भागों में विभक्त कर दिया है। प्रथम भाग को पुरानी काव्यधारा और द्वितीय भाग को नवीन काव्यधारा का प्रथम उत्थान नाम दिया है। इस नामकरण का आधार यह है कि—इस काल में कुछ कवि कविता की रीतिकालीन परिपाटी पर ही रचना कर रहे थे और कुछ कवि भारतेन्दु जी के नेतृत्व में रीतिकालीन सीमा का अतिक्रमण कर युग चेतना को व्यक्त करने में लगे थे। रीतिकालीन कविता का वर्ण्य-विषय शृङ्गार तथा भक्ति-वैराग्य तक सीमित था, जब कि "नई धारा में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था।"[1] इसी के साथ ही साथ लोक हित, समाज-सुधार और मातृभाषा का उद्धार आदि विषय भी काव्य क्षेत्र में प्रविष्ठ हो गए थे। गद्य लेखन में तो खड़ी बोली का

१. इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था।
हि० सा० इति आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि सं० २००२. पृ० ५११

प्रयोग अबाध गति से होने लगा था पर कविता ब्रजभाषा में ही लिखी जा रही थी भारतेन्दुजी ने कविता में उपर्युक्त ब्रजभाषा का भी परिष्कार करने का प्रयास किया। यद्यपि नई धारा के कवि खड़ी बोली में भी रचना करते थे। यहाँ तक कि भारतेन्दुजी ने स्वयं खड़ी बोली में कविता लिखकर खड़ी बोली का पथ-प्रशस्त किया। आचार्य शुक्लजी ने पुरानी परिपाटी पर रचना करने वाले कवियों में रीवाँ नरेश रघुराजसिंह, सरदार, बाबा रघुनाथदास रामसनेही, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम, गोविन्द गिल्लाभाई और नवनीत चौबे का नाम गिनाया है और नई धारा में भारतेन्दु, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि के नाम का उल्लेख किया है।

रीति युग के अन्तिम चरण (सं० १८९०-१९०० वि०) का साहित्य वर्ण्य-विषय में पुरातन परम्परा के पिष्टपेषण तथा कलागत पच्चीकारी या शिल्प की अतिरंजना में इतना सीमित और रूढ़ हो गया था कि उसमें नूतन भावभिव्यक्ति के लिए स्थान शेष नहीं रह गया था। अत: इस काल के पिछले खेवे के कवियों के लिए विलक्षण और मौलिक उद्भावना या कथन शैली के नवीन प्रकार के लिए अवकाश नहीं रह गया था। ये कवि खंजन, चकोर, कामदेव के नगाड़े, काम के गुम्मद, सेवार, त्रिवेणी, कदली, काम-सरोवर, तारे, चन्द्रमा, सूर्य, भँवर, प्रवाल, हंस आदि परम्परा-प्राप्त गिने-चुने उपमानों एवं प्रतीकों की सहायता से ही विविध रंग के काव्य चित्र बनाते रहते थे। बात यहीं तक सीमित नहीं थी बल्कि कला की सीमाओं का उल्लंघन कर कविता को अलंकृत करने का साग्रह एवं सचेष्ट प्रयत्न भी करते थे। इसके परिणाम-स्वरूप इनकी कविता में कृत्रिमता और एक रसता बढ़ती गई। शब्द चमत्कार के मोह में वाह्य-प्रसाधनों से भाराक्रान्त काव्य का प्रतिपाद्य इतना दब गया कि इससे केवल अभिव्यंजना सौंदर्य ही नहीं श्रीहत हुआ, अपितु अभिव्यंग्य भी ठिठुर कर बौना हो गया। इनकी नायिका जौहरी की दूकान-सी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में डा० केशरीनारायण शुक्ल ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है—

"क्या भाषा, क्या भाव और क्या वृत्त सभी कुछ रूढ़ से जकड़ गया, संजीवनी शक्ति टिकी भी रहती तो किस आधार पर।"[1]

वस्तुत: इस काल की ब्रजभाषा एक ही तरह की अभिव्यंजना का बोझ ढोते-ढोते एक रस प्रतीत होने लगी थी। नव चेतना से प्रबुद्ध भारतीय युवक को अँग्रेजी भाषा और साहित्य की समृद्धि आकृष्ट कर रही थी। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में रीतिकालीन परिपाटी पर लिखी गई रचनाओं की टीका-टिप्पणी भी होने लगी थी। इस सम्बन्ध में 'विहार बन्धु' समाचार पत्र में प्रकाशित अधोलिखित अवतरण द्रष्टव्य है—

---

१. आधुनिक काव्यधारा, डॉ० केशरी नारायण शुक्ल, तृ० आ० पृ० ११

"हिन्दी के प्राचीन कवि अपने समय की भाषा में रचना करते थे और केवल कविताई पर ध्यान देते थे। भाषा पर उनका कुछ भी ध्यान न था। उनकी रचना का क्योंकर अन्वय होगा, किसी पद का व्याकरण से कौन-सा रूप बनाया जायगा इसका उनको भान ही न था। जैसा वाक्य मुख से निकला वैसा ही लिख दिया। दीर्घ को ह्रस्व कर दिया, युक्ताक्षर को असंयुक्त और असंयुक्त को युक्त बना दिया, जो किसी विभक्ति ने गड़बड़ किया तो उसे भी उड़ा दिया।[1]

सच तो यह है कि शृङ्गार के अतिशय्य के कारण ब्रजभाषा इतनी कोमल, मधुर एवं मसृण हो गई थी कि उसमें युग की नवचेतना से उद्बुद्ध ज्ञान-विज्ञान, धार्मिक आन्दोलन, समाज देशभक्ति आदि विषयों की अभिव्यंजना संभव न रही। इसी कारण से नई धारा का उत्थान हुआ। इस युग में हमारा संपर्क विदेशी भाव विचार तथा संस्कृति से बढ़ा। इसके फल स्वरूप नवयुवक कवि भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति को लेकर संघर्ष एवं सामंजस्य के भावों को अभिव्यक्त करने लगा।

इस प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों का प्रचुर मात्रा में विवेचन हो चुका है इसलिए आधुनिक काल की पुरानी काव्यधारा का यहाँ पर विवेचन पिष्टपेषण ही होगा। इसी कारण से यहाँ पर आधुनिक काल की 'नई धारा' के कवियों की रचनाओं में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन किया जा रहा है और इनके आधार पर रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों से इनकी विभिन्नता और साम्यता का भी दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

काव्य भाषा में बोलचाल का प्राधान्य होने के कारण लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, किन्तु इस काल में भाषा पर प्रयोग हो रहा था। कभी संस्कृत की शब्दावली, कभी उर्दू की शब्दावली और कभी प्रचलित शब्दावली का सहारा लिया जा रहा था। इस कारण कहावतों तथा मुहावरों की शब्दावली में भी हेर-फेर दिखाई पड़ता है। फिर भी यह निश्चित है कि इनके प्रयोग के कारण भाषा में लाक्षणिक शक्तिमत्ता आ गई है।

"दिल में जो कुछ पकता उसको किस विधि किसे खिलाऊँ।"[2]

इस पद में 'दिल पकना' मुहावरे का प्रयोग किया गया है। कवि ने दिल पकने के साथ खिलाऊँ क्रिया का प्रयोग किया है जो उपर्युक्त नहीं है। इसके स्थान पर 'दिखाऊँ' क्रिया का प्रयोग उपयुक्त होता। इस मुहावरे का लक्ष्यार्थ है मन वेदनाओं से भर गया है। इसी प्रकार का एक दूसरा प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

---

२. बिहार-बन्धु, पटना, १६ दिसम्बर सन् १८८६ ई०
१. प्रेमधन सर्वस्व भाग १—'बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन,' प्र० सं०, सं० १९९६ पृ० १९२

"अनुभव कर आनन्द ब्रह्म अपने में आप समाता।"[1]

इस पद में 'अपने आप समाता' मुहावरा है। वाक्य के अर्थ पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द से व्यक्ति अपने आप में समाता है। इस अर्थ के आधार पर यह प्रयोग अनुचित लगता है क्योंकि व्यक्ति अपने आप में कैसे समाएगा? ब्रह्म में समाना तो संभव है।

इन मुहावरों के यहाँ उद्धृत करने का उद्देश्य यही है कि शब्दों के हेर-फेर के कारण मुहावरों में भद्दापन आ गया है। रीतिकालीन काव्य में इस प्रकार के मुहावरों का प्रयोग नहीं मिलता। रीतिकाल की भाषा मँजी हुई थी, इसलिए मुहावरों का रूप भी स्वच्छ और निखरा हुआ ही काव्य में दिखाई पड़ता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कालीन काव्य के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि—काव्य में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का सन्निवेश इस युग के कवियों की सजग सचेष्टता का परिणाम न था। कवि के कथन में लक्षणा द्वारा स्वतः ही भाषा कहीं-कहीं चमत्कृत हो उठी है, उक्ति सौन्दर्य की दृष्टि से इन प्रयोगों को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता है। रीतिकालीन कवि अपने लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति सजग और सचेष्ट था। उसके लाक्षणिक प्रयोग उक्ति-सौंदर्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी काव्य जगत में श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त का उदय हुआ। कुछ विद्वान् सं० १९४२—६० वि० तक के समय को सन्धि-काल नाम देते हैं। इस सन्धिकाल काल में प्रमुख रूप से श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द का ही ये लोग उल्लेख करते हैं। इसका सन्धिकाल नाम इसलिए दिया जाता है कि भारतेन्दु काल और द्विवेदीकाल के मध्य का यह समय है। इन दोनों महानुभावों ने विषय और शैली दोनों में स्वच्छन्दता दिखाकर परवर्ती कलाकारों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ये दोनों कवि विषय, शैली और रचनाकाल तीनों की दृष्टि से भारतेन्दु और द्विवेदी युग के बीच की कड़ी बन सकते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में श्रीधर पाठक को ही स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का प्रवर्तक सिद्ध किया है।[2]

पाठकजी की कविता का परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग तक की कविता में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का सन्निवेश नहीं हुआ था। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव, रूढ़िग्रस्त रीतिकालीन साहित्य के प्रति उपेक्षा एवं तत्कालीन परिस्थितियों के कारण इनके काव्य में भाव-गांभीर्य न आ सका। अनुभूतियों की

---

१. **प्रेमघन सर्वस्व भाग १, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्र० सं० सं० १९९६ पृ० ४१०**

२. **हि० सा० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० ५२५**

तीव्रता के अभाव में अधिकांश काव्य विषय प्रधान होकर रह गया और शब्द की पहुँच केवल अभिधा शक्ति तक रही । लक्षणा-शक्ति की दृष्टि से काव्यगत चमत्कार और सौन्दर्य मुहावरों और रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों तक ही सीमित पाठकजी मुहावरों के प्रयोग के पक्षपाती थे और भाषा की आत्मा समझकर उनका प्रयोग करते थे । इस प्रकार के मुहावरों के प्रयोग से काव्य की संवेदनशीलता की प्रचुर मात्रा में श्रीवृद्धि हुई है । इसी प्रकार जहाँ रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहाँ पर बिंब गोचरता और भाव संप्रेषणीयता भी आई है, पर ऐसे प्रयोग थोड़े हैं । वस्तुत: पाठकजी रचना के नए-नए मार्गों की शोध, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास और छन्द में नई बन्दिशें तथा नए वृत्त के सन्निवेश करने में व्यस्त थे ।

बालमुकुन्द गुप्त की काव्य भाषा में बोल-चाल का प्रधान्य होने से मुहावरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है, किन्तु शब्द और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले लाक्षणिक प्रयोगों का नितान्त अभाव है । उर्दू शब्दों के उपयोग से इनकी भाषा में स्वत: ही कहीं-कहीं लाक्षणिक पद योजना हो गई है । इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं ठेठ बोलचाल के ग्राम्य प्रयोग भी हैं । उन प्रयोगों में यदा-कदा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के दर्शन हो जाते हैं ।

रीतिकालीन काव्य की साधना में राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों को कभी भी स्थान न मिल सका । इस काल का कवि शृङ्गार और भक्ति की सीमा में ही परिबद्ध रहा । रीतिकालीन कवि के समक्ष भाषा, छन्द, वृत्ति तथा पद-विन्यास निर्माण का कार्य भी नहीं रहा, ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने काव्य भाषा का समुचित परिष्कार और परिमार्जन कर दिया था । इसी कारण से रीतिकालीन लाक्षणिक मूर्तिमत्ता अधिक सुस्पष्ट और स्वच्छ है । श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त के समक्ष जहाँ एक ओर विषय के चुनाव की समस्या थी वहीं दूसरी ओर शैली की समस्या थी । इसी के साथ ही साथ विषय और शैली के निर्वाह के लिए उपयुक्त भाषा का चुनाव करना था । इन्हीं कारणों से भाव-गांभीर्य के प्रति इन्हें उदास रहना पड़ा और इनकी रचनाओं में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता नहीं आ पाई ।

'रीतिकाल और द्विवेदी युग के लाक्षणिक प्रयोग'

भारतेन्दु युग में जहाँ एक ओर काव्य का बहुमुखी विकास हुआ, 'वहाँ दूसरी ओर काव्य-भाषा का उतना अधिक परिष्कार और परिमार्जन नहीं हो सका । भारतेन्दु युगीन काव्य-भाषा में व्याकरण संबन्धी शिथिलता भी दृष्टि गोचर होती है । व्याकरण की उपेक्षा तथा अभिव्यंजना-शैली की अपरिपक्वता युग के सामान्य कवि में ही नहीं, अपितु विद्वान कवियों प्रेमघन और श्रीधर पाठक की रचनाओं में भी उपलब्ध होती है । कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में भाषा संस्कार और कला-सौष्ठव का

"अनुभव कर आनन्द ब्रह्म अपने में आप समाता।"[1]

इस पद में 'अपने आप समाता' मुहावरा है। वाक्य के अर्थ पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द से व्यक्ति अपने आप में समाता है। इस अर्थ के आधार पर यह प्रयोग अनुचित लगता है क्योंकि व्यक्ति अपने आप में कैसे समाएगा? ब्रह्म में समाना तो संभव है।

इन मुहावरों के यहाँ उद्धृत करने का उद्देश्य यही है कि शब्दों के हेर-फेर के कारण मुहावरों में भद्दापन आ गया है। रीतिकालीन काव्य में इस प्रकार के मुहावरों का प्रयोग नहीं मिलता। रीतिकाल की भाषा मँजी हुई थी, इसलिए मुहावरों का रूप भी स्वच्छ और निखरा हुआ ही काव्य में दिखाई पड़ता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कालीन काव्य के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि— काव्य में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का सन्निवेश इस युग के कवियों की सजग सचेष्टता का परिणाम न था। कवि के कथन में लक्षणा द्वारा स्वतः ही भाषा कहीं-कहीं चमत्कृत हो उठी है, उक्ति सौन्दर्य की दृष्टि से इन प्रयोगों को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता है। रीतिकालीन कवि अपने लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति सजग और सचेष्ट था। उसके लाक्षणिक प्रयोग उक्ति-सौंदर्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण हैं।

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी काव्य जगत में श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त का उदय हुआ। कुछ विद्वान् सं० १९४२—६० वि० तक के समय को सन्धि-काल नाम देते हैं। इस सन्धिकाल काल में प्रमुख रूप से श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द का ही ये लोग उल्लेख करते हैं। इसका सन्धिकाल नाम इसलिए दिया जाता है कि भारतेन्दु काल और द्विवेदीकाल के मध्य का यह समय है। इन दोनों महानुभावों ने विषय और शैली दोनों में स्वच्छन्दता दिखाकर परवर्ती कलाकारों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ये दोनों कवि विषय, शैली और रचनाकाल तीनों की दृष्टि से भारतेन्दु और द्विवेदी युग के बीच की कड़ी बन सकते हैं। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में श्रीधर पाठक को ही स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) का प्रवर्तक सिद्ध किया है।[2]

पाठकजी की कविता का परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग तक की कविता में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का सन्निवेश नहीं हुआ था। पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव, रूढ़िग्रस्त रीतिकालीन साहित्य के प्रति उपेक्षा एवं तत्कालीन परिस्थितियों के कारण इनके काव्य में भाव-गांभीर्य न आ सका। अनुभूतियों की

---

१. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्र० सं० सं० १९९६ पृ० ४१०

२. हि० सा० इति० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० ५२५

तीव्रता के अभाव में अधिकांश काव्य विषय प्रधान होकर रह गया और शब्द की पहुँच केवल अभिधा शक्ति तक रही। लक्षणा-शक्ति की दृष्टि से काव्यगत चमत्कार और सौन्दर्य मुहावरों और रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों तक ही सीमित पाठकजी मुहावरों के प्रयोग के पक्षपाती थे और भाषा की आत्मा समझकर उनका प्रयोग करते थे। इस प्रकार के मुहावरों के प्रयोग से काव्य की संवेदनशीलता की प्रचुर मात्रा में श्रीवृद्धि हुई है। इसी प्रकार जहाँ रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहाँ पर बिंब गोचरता और भाव संप्रेषणीयता भी आई है, पर ऐसे प्रयोग थोड़े हैं। वस्तुतः पाठकजी रचना के नए-नए मार्गों की शोध, पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास और छन्द में नई बन्दिशें तथा नए वृत्त के सन्निवेश करने में व्यस्त थे।

बालमुकुन्द गुप्त की काव्य भाषा में बोल-चाल का प्रधान्य होने से मुहावरों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है, किन्तु शब्द और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने वाले लाक्षणिक प्रयोगों का नितान्त अभाव है। उर्दू शब्दों के उपयोग से इनकी भाषा में स्वतः ही कहीं-कहीं लाक्षणिक पद योजना हो गई है। इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं ठेठ बोलचाल के ग्राम्य प्रयोग भी हैं। उन प्रयोगों में यदा-कदा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के दर्शन हो जाते हैं।

रीतिकालीन काव्य की साधना में राजनैतिक, सामाजिक परिस्थितियों को कभी भी स्थान न मिल सका। इस काल का कवि शृङ्गार और भक्ति की सीमा में ही परिबद्ध रहा। रीतिकालीन कवि के समक्ष भाषा, छन्द, वृत्ति तथा पद-विन्यास निर्माण का कार्य भी नहीं रहा, ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने काव्य भाषा का समुचित परिष्कार और परिमार्जन कर दिया था। इसी कारण से रीतिकालीन लाक्षणिक मूर्तिमत्ता अधिक सुस्पष्ट और स्वच्छ है। श्रीधर पाठक और बालमुकुन्द गुप्त के समक्ष जहाँ एक ओर विषय के चुनाव की समस्या थी वहीं दूसरी ओर शैली की समस्या थी। इसी के साथ ही साथ विषय और शैली के निर्वाह के लिए उपयुक्त भाषा का चुनाव करना था। इन्हीं कारणों से भाव-गांभीर्य के प्रति इन्हें उदास रहना पड़ा और इनकी रचनाओं में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता नहीं आ पाई।

'रीतिकाल और द्विवेदी युग के लाक्षणिक प्रयोग'

भारतेन्दु युग में जहाँ एक ओर काव्य का बहुमुखी विकास हुआ, 'वहाँ दूसरी ओर काव्य-भाषा का उतना अधिक परिष्कार और परिमार्जन नहीं हो सका। भारतेन्दु युगीन काव्य-भाषा में व्याकरण संबन्धी शिथिलता भी दृष्टि गोचर होती है। व्याकरण की उपेक्षा तथा अभिव्यंजना-शैली की अपरिपक्वता युग के सामान्य कवि में ही नहीं, अपितु विद्वान कवियों प्रेमघन और श्रीधर पाठक की रचनाओं में भी उपलब्ध होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में भाषा संस्कार और कला-सौष्ठव का

बहुत अधिक उत्कर्ष नहीं हो सका। यह इसे ही प्रौढ़, सक्षम तथा संपन्न बनाने की आवश्यकता का अनुभव द्विवेदी युग में किया गया। इस युग में कवि, पाठक और आलोचक तीनों का ध्यान नव स्वीकृत पद्य-भाषा की ओर आकृष्ट हुआ। द्विवेदी युग मोटे तौर पर सं० १९५७ से १९७७ वि० तक माना गया है। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं और भाषणों द्वारा पद्य-भाषा की शब्द-संकरता, तुकबन्दी के आतिशय्य और व्याकरण संबधी दोषों की कटुआलोचना की गई। साथ ही नूतन विषय-वस्तु के लिए रीतिकालीन रूढ़ काव्य शैली का भी विरोध किया गया। इसके परिणामस्वरूप—व्याकरणीय उच्छृंखलता का तो अन्त हो गया, किन्तु भाषा के अत्यन्त व्याकरण-निष्ठ तथा काव्य शैली के अतिशय वर्णनात्मक हो जाने से भाषा उत्तरोत्तर गद्यात्मक होती गई। इस कारण से अभिव्यंजन-क्षमता में व्यापकता का अभाव बना रहा। कवि की अनुभूतियों एवं भावमयी कल्पना की व्यंजना के लिए मार्दव दीप्ति, कान्ति आदि गुणों संगीत और चित्रामयता जैसे काव्योचित धर्मों का सन्निवेश नहीं हो पाया। इस युग के प्रतिभा संपन्न कवि आयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामनरेश त्रिपाठी मुकुटधर पाण्डेय प्रभृति कवियों ने काव्य-भाषा में नादात्मक शब्दों द्वारा ध्वन्यर्थ-व्यंजकता, विलक्षण विशेषणों की सहायता से अपूर्ण लाक्षणिक चापल्य, विशिष्ट अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों द्वारा अभिनव मूर्तिमत्ता का विधान किया। इस काल की प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय देने के पश्चात अब द्विवेदी युगीन कवियों के काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

आचार्य द्विवेदी की काव्य-भाषा स्वाभाविक एवं सरल है। इनके काव्य में वाच्यार्थ के चमत्कार का साम्राज्य सर्वत्र छाया हुआ है। इसका कारण यह है कि द्विवेदी जी के मन में काव्य भाषा के जो आदर्श बने उनकी पृष्ठ-भूमि में रीतिकाल की अत्यधिक अलंकृत अथक कृत्रिम और अस्वाभाविक शैली के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया थी। अतः मुहावरों तथा अलंकारों आदि में जहाँ अभिधेयार्थ को व्याहत करके लक्षणा अथवा व्यंजना अर्थान्तर में संक्रमित भी होती हैं, वहाँ भी केवल साधारण अर्थ ग्रहण ही होता है। और कोई विशेष काव्योचित लाक्षणिक चमत्कार दृष्टिगोचर नहीं होता है। इनके लाक्षणिक—प्रयोगों द्वारा केवल विषय स्पष्ट होता है, परन्तु काव्य सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होती है। इनकी रचनाओं में कवि कल्पना चमत्कारिणी है पर लक्ष्यार्थ तथा व्यंयार्थ पर वाच्यार्थ छाया रहता है।

पं नाथूराम 'शंकर' शर्मा जी की रचनाएँ विषय-प्रधान हैं। बोल-चाल की भाषा को यथा शक्ति काव्य से दूर रखने के कारण इनकी रचनाओं में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का कम प्रयोग हुआ है, पर कहीं-कहीं इनका सुन्दर प्रयोग भी किया गया है। ऐसे प्रयोगों से निश्चित रूप से लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता अभिवृद्ध हुई है। कवि की कल्पना, प्रतिभा तथा अभिव्यंजना कौशल का उद्देश्य एकमात्र सहृदयजनों के हृदय पर प्रभाव डालना होता है। प्रभाव पैदा करने के लिए आवश्यक हो जाता है

कि कवि वर्ण्य-वस्तु को चित्रमयी भाषा में मूर्त रूप दे। शब्द की लक्षणा शक्ति वर्णनीय गोचर रूप देने में सर्वाधिक समर्थ होती है। मुख्यार्थ के व्याघात होने से विषय में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। शर्मा जी की भाषा इस दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध है। इनके लाक्षणिक प्रयोग प्रकृति के व्यापारों को लेकर भी हुए हैं। कहीं-कहीं विशेष्य पदों में भी प्रयोग दिखाई पड़ जाते हैं। अन्तःकरण के सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने और उनकी गंभीर व्यंजना के लिये शर्मा जी ने मूर्त-विधान किया है। इससे सूक्ष्म भाव साकार हो उठे हैं।

पं अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १९२२-२००४)

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का उदय भारतेन्दु युग में ही हो गया था। अपने प्रारंभिक रचना काल में ये रीतिकालीन कला चातुर्य को लेकर कवित्त-सवैये लिखा करते थे। भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग के सन्धिकाल के साहित्य को देखकर इन्होंने उर्दू छन्दों के सहारे बोलचाल की भाषा में पद रचना की। इनकी अमर रचना 'प्रिय प्रवास' पांच वर्ष की गंम्भीर साधना के पश्चात १९१३ ई० में समाप्त हुई थी, जिसका प्रथमबार प्रकाशन १९१४ ई० में हुआ। इस ग्रन्थ का रचना काल द्विवेदी-युग में पड़ता है, इसी कारण इनको भारतेन्दु युग में न रखकर यहाँ द्विवेदी युग में स्थान दिया जा रहा है।

'प्रिय प्रवास' की भाषा सामान्यतया संस्कृत गर्भित एवं समास युक्त है, फिर भी इसमें अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ कवि ने सुबोध एवं सरल भाषा का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों पर सरस भावाभिव्यंजना की स्पष्टता के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का आश्रय लिया गया है। संस्कृत निष्ठता के आग्रह के कारण कहीं कहीं इन्होंने मुहावरों की शब्दावली में परिवर्तन कर दिया है, किन्तु इससे अर्थ में व्याघात नहीं हुआ है। 'चुभते चौपदे' में तो इन्होंने मुहावरेदार भाषा लिखने में बड़ी कुशलता दिखाई है। इन मुहावरों और लोकोक्तियों द्वारा प्रचुर मात्रा में चमत्कार और संप्रेषणीयता आई है। ऐसे सभी प्रसंग लक्षणा की शक्ति से मंडित हैं।

'प्रिय प्रवास' के परिशीलन के पश्चात यह निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ अभिधा-प्रधान ग्रन्थ है। 'प्रियः प्रवास' में वियोग भावना से ओत-प्रोत भावपूर्ण तथा मार्मिक प्रसंगों का निर्वाह प्रायः वाच्यार्थ द्वारा ही किया गया है। ऐसे अवसर पर वाच्यार्थ में प्रेषणीयता की पूरी शक्ति भी विद्यमान रहती है। इससे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन स्मरण हो जाता है:—

"प्रश्न यह है कि काव्य की रमणीयता किसमें है ? वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंयार्थ में ? इसका बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उत्पन्न हो अथवा आयोग्य और अनुपपन्न।"[1]

---

१. चिन्तामणि भाग २ आचार्य पं रामचन्द शुक्ल, च० आ० पृ० १६६

रामदेवी प्रसाद 'पूर्ण' का खड़ी बोली का समस्त साहित्य विषय प्रधान है। इस समस्त काव्य में देश-भक्ति का स्वर गूँज रहा है। उन्होंने विशेष प्रयोजन वश भावाभिव्यंजन के लिए जन प्रचलित भाषा को ग्रहण किया था, इससे काव्य के भाषा प्रवाह में कहावतें तथा मुहावरे स्वाभाविक रूप से अपने आप चले आए हैं। इनके उचित प्रयोग के कारण भाषा में सजावट एवं कसावट दोनों आई हैं। अपने भावों को जन साधारण तक पहुँचाने के आग्रह के कारण इन्होंने भाषा की प्रसादता तथा प्रेषणीयता को बनाए रखा। इसीलिए इनकी रचना में भी अधिकाँश में वाच्यार्थ का ही आधिपत्य है। इस दृष्टि से यह कहना पड़ता है कि इनकी रचनाओं में भी उल्लेखनीय लाक्षणिक वैचित्र्य का अभाव है। इनके लाक्षणिक प्रयोगों से भाव तो स्पष्ट हो जाते हैं, किन्तु काव्य की चारुता में वृद्धि नहीं होती है।

पं० रामचरित्र उपाध्याय जी के फुटकर पदों में देशभक्ति, समाज सुधार और आचार-नीति का स्वर ऊँचा है। ये संस्कृत के प्रकांड पण्डित थे। इसलिए इन्होंने तत्सम शैली को ही अपनाया। ऐसी रचनाओं में लाक्षणिक प्रयोगों का अभाव है। जहाँ तत्सम शव्दावली का प्रयोग नहीं है, वहाँ पर यदा-कदा लाक्षणिक प्रयोग देखे जाते हैं। अतः लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की दृष्टि से इनका काव्य बड़ा निर्धन है।

लोचन प्रसाद पाण्डेय की रचनाओं में भाषा की दृष्टि से एक रूपता का नितान्त अभाव है। लक्षणाशक्ति की कसौटी पर यदि इनके काव्य को कसा जाए तो निराश ही होना पड़ता है। इनकी उक्तियाँ भावों और उद्वेगों को सहृदय जनों तक संप्रेषित करने में समर्थ नहीं हैं।

आचार्य द्विवेदी जी द्वारा जिन तरुण कवियों को प्रोत्साहन एवं विकास का अवसर मिला उनमें गुप्तजी का स्थान सबसे प्रमुख है। यद्यपि इनका अधिकांश प्रौढ़ काव्य द्विवेदी युग के बाद प्रकाश में आया है, किन्तु उसका सूत्रपात द्विवेदी युग में ही हो चुका था। भाषा, भाव, शैली आदि सभी दृष्टियों से गुप्त जी का वह काव्य जो द्विवेदी युग के बाद प्रकाश में आया वह द्विवेदी-युग का ही विकास है।

लक्षणा की दृष्टि से इनके काव्य पर विचार करने से ज्ञात होता है कि गुप्त जी ने मुक्तक काव्यों की चलती भाषा में तो लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया है, पर प्रबन्ध काव्यों में संयम और गांभीर्य अधिक आ जाने से मुहावरों का वैसा प्रयोग नहीं किया है। इसके प्रबन्ध काव्यों तथा इतिवृत्यात्मक कविताओं में ऐसे स्थल तो आते हैं जहाँ लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग हुआ है, परन्तु वे मुहावरे अपने शुद्ध रूप से कुछ परिवर्तित कर दिए गए हैं। गुप्तजी ने अपने काव्य में सूक्तियों का भी पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। ये सभी लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हती हैं।

समग्र रूप में गुप्त जी के काव्य का परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य था। इसी कारण से अधिकांश स्थलों पर अभिधा का प्रभाव ही दिखाई पड़ता है। इनके विषय-प्रधान काव्य 'भारत भारती' में वाग्वैचित्र्य और लाक्षणिक पदयोजना का सर्वथा अभाव है। गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में लाक्षणिक प्रभाव उत्पन्न करने का कार्य मुहावरे और लोकोक्तियाँ ही करती हैं। जैसे जैसे समय बीतता गया गुप्तजी की रचनाओं में वैदग्ध्य और वक्रता भी आती गई। इसलिए इनकी प्रौढ़ रचनाओं में लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियाँ काव्य सौन्दर्य का अंग बन कर आती गईं। गुप्त जी की पिछली रचनाओं में आई हुई लाक्षणिक मूर्तिमत्ता निश्चित रूप से सराहनीय है और उससे काव्य की श्रीवृद्धि हुई है।

गुप्तजी की द्विवेदी-युग तक की रचनाओं के आधार पर यही कहा जाएगा कि—अभिधा द्वारा ही कवि ने काव्य को संवेदनीय एवं प्रभावोत्पादक बनाया है। मुहावरे, लोकोक्तियों और कहीं-कहीं आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ही काव्य की चारुता और चमत्कार देखकर संतोष करना पड़ता है। वस्तुतः द्विवेदी-युग विषय प्रधान काव्यों का युग था। इसमें सहज एवं स्पष्ट उक्तियों की सजीवता पर ही बल दिया जा रहा था।

पं० रामनरेश त्रिपाठी के काव्य में देश-भक्ति का स्वर व्याप्त है। इसलिए आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में यह संकेत किया है कि—"देश-भक्ति की जो भावना भारतेन्दु युग से चली आती थी उसे सुन्दर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठी जी ने ही प्रदान किया।"[1] त्रिपाठी जी हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करते ही भाषा की उपयुक्तता को पहचान गए थे। इसी कारण से इनकी काव्य-भाषा सामान्य रूप से शुद्ध और परिष्कृत है। इनकी रचना की स्फीत-वाग्धारा संस्कृत शब्दों से अलंकृत होकर अवश्य प्रवाहित होती है, पर तत्सम शब्दों का वह आग्रह इनमें नहीं पाया जाता है जो हरिऔध जी में पाया जाता है। इनकी रचनाओं में लोकोक्तियों और मुहावरों का उपयोग बहुत थोड़ा हुआ है। जहाँ भाषा बहुत सरल है वहाँ संजीवनी शक्ति पैदा करने के लिए मुहावरों का प्रयोग हुआ है। इनका अप्रस्तुत विधान चित्रात्मकता और लाक्षणिक शैली का परिचायक है। इस काल के अन्य कवियों में कलात्मक अभिव्यक्ति के चित्रण का प्रायः अभाव था। इनके काव्य में प्राचीन उपमानों और नवीन उद्भावनाओं का श्रेष्ठ समन्वय हुआ है। यहाँ यह स्मरण रखना पड़ेगा कि त्रिपाठी जी की रचनाओं में लाक्षणिकता का सन्निवेश तो हुआ, पर अभिधा के विविध प्रयोगों द्वारा इन्होंने सक्षम एवं प्रभाव पूर्ण चित्रों की

---

१. हि० सा० इति०, आचार्य पं० राचमन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२ पृ० ५४७

अवतारणा करके अभिधा के महत्व को श्रेष्ठता प्रदान की है। इनकी रचनाओं के परिशीलन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि—लाक्षणिक शैली का आगमन तो काव्य में हो गया था, पर बहुल प्रयोग नहीं हो पाया था। छायावादी लाक्षणिक शैली की पृष्ठ-भूमि निर्माण हो रही थी। रीतिकालीन काव्य की-सी लाक्षणिक प्रयोगों की चारुता का अभाव इनके काव्य में भी है।

सियाराम शरण गुप्त की गणना भी की द्विवेदी युग के साहित्कारों में ही की जाती है। युग-प्रवृत्ति के अनुसार इन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में देश की प्रशस्ति और तत्कालीन अवनति की ओर संकेत करके भारतीय आत्मा को जागरण का सन्देश दिया। कुछ समय के पश्चात ही शियाराम शरणजी काव्य-साधना में अन्तर्मुखी हो गए इसके परिणामस्वरूप वे वर्णन और उपदेश के क्षेत्र का अतिक्रमण कर भाव लोक में विचरण करने लगे। इस काल की ईश्वर-भक्ति संबंधी रचनाओं में आत्मनिवेदन दैन्य एवं चिन्तन का प्राधान्य है। और इसी के साथ ही साथ ऐतिहासिक वृत्तों को भी निरंतर छन्दोबद्ध करते रहे। इन ऐतिहासिक पद्य निबन्धों में इन्होंने तत्सम-शब्द प्रणाली को अपनाया है। इन्हीं रचनाओं में यहाँ वहाँ मुहावरों का भी प्रयोग हो गया है। चिन्तन प्रधान काव्य में विषय की गम्भीरता के कारण मुहावरों का प्रयोग तिरस्कृत हो गया है। यहाँ सामान्य बोलचाल की भाषा को इन्होंने अपनाया है वहाँ मुहावरे अभिप्रेत भाव को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायक हुए हैं। इन्हीं मुहावरों में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के भी दर्शन होते हैं। पक्षात्मक कथाओं में प्रचुर मात्रा में चित्रात्मकता पाई जाती है, पर यह अभिधा के द्वारा ही निर्मित है। इनके काव्य में लक्षणाशक्ति के प्रयोग के गिने चुने स्थल हैं, उनमें भी कथन का विशेष सौष्ठव एवं वैचित्र्य नहीं दिखाई पड़ता। वस्तुतः इनके काव्य की प्रबल संचालिका शक्ति अभिधा ही है।

पं० मुकुटधर शर्मा पाण्डेय के भावुक व्यक्तित्व का उनकी काव्य-वस्तु तथा शैली दोनों पर पर्याप्त प्रभाव है। इनके समय तक आते-आते द्विवेदी युगीन कविता अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची थी। इन्होंने आन्तरिक अनुभूतियों को काव्य में प्रधानता दी। इसके परिणाम स्वरूप इन्होंने प्रेम को जीवन का सर्वोपरि तत्व स्वीकार किया। वे प्रेम को चराचर जगत में व्याप्त एक विभु तत्व मानते थे। प्रेम के इसी उदात्तीकरण के कारण उनका व्यक्तिगत प्रेम, प्रकृति और विश्व-प्रेम से आगे बढ़कर संसार के कण-कण में प्रतिभासित परोक्ष सत्ता की ओर झुकता हुआ लक्षित होता है। इन्हें काव्य-भाषा में बोल-चाल का रूप ग्राह्य नहीं था। इस कारण से मुहावरों तथा लोकोक्तियों के उपयोग का अवसर इन्हें कम मिला है। यदि प्रसंगवश कहीं प्रयोग हुआ भी है तो प्रायः उस पद्यांश की आत्मा को पकड़कर पर्यायवाची शब्दों में

नियोजित कर दिया है। ऐसे स्थलों पर इनके काव्य में लाक्षणिक चमत्कार के दर्शन होते हैं। इनके काव्य में युग-प्रवृत्ति के अनुसार ही लक्षणा का वैभव नहीं दिखाई पड़ता, बल्कि अभिधा द्वारा ही संप्रेषणीयता एवं चित्रात्मकता उत्पन्न की गई है।

वस्तुतः पाण्डेयजी सरल शब्द-विधान एवं उसके वाच्यार्थ की सहायता से अपनी आत्मगत अनुभूतियों को प्रसाद पूर्ण अभिव्यक्ति करते रहे। इनकी रचनाओं में छायावाद के अंकुर स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हुए।

द्विवेदी-काल की समस्त काव्य रचनाओं को ध्यान में रखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस काल में लक्षणा-शक्ति का काव्य में वैसा प्रयोग नहीं हुआ जैसा कि रीतिकाल में हुआ था। रीतिकालीन आचार्यों के लक्षणा प्रयोगों में यद्यपि स्वाभाविकता का अभाव है फिर भी चित्रात्मकता और संप्रेषणीयता की कमी नहीं है। रीति सिद्ध और रीति मुक्त कवियों में तो अपार लाक्षणिक वैभव दिखाई पड़ता है। रीतिकालीन नीति व्यवहार संबंधी सूक्तियों तथा अन्योक्तियों में भी लक्षणा का प्रचुर चमत्कार पाया जाता है, पर वैसा लाक्षणिक चमत्कार एवं चित्रात्मकता द्विवेदी युगीन काव्य में नहीं पाई जाती है। इसके प्रमुख कारण रचना प्रणाली का विषय प्रधान होना, काव्य को सर्व सबोध बनाने की इच्छा एवं नवीन काव्य-भाषा के परिष्कार के प्रयत्न थे।

रीतिकाल और छायावादी-काव्य

उपर्युक्त पृष्ठों में द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों के काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन किया गया है। इस युग के समस्त काव्य के परिशीलन के पश्चात हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि—बीसवीं सदी के प्रथम दो दशाब्द काव्य में भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से युगान्तर उत्पन्न करने वाले थे। इस काल में, कवि ने सामयिक विषयों को ही पद्यबद्ध नहीं किया, अपितु पुराण और इतिहास का मन्थन कर पुरातन कथाओं को भी नवीन रूप प्रदान किया। इस युग में काव्य के विविध रूप-मुक्तक, प्रबन्ध और खण्ड काव्यों का प्रणयन भी हुआ। इस युग के प्रारम्भिक काल में भाषा की असमर्थता के कारण अधिकांश कवि उच्चकोटि की काव्य-रचना में सफल न हो सके; क्योंकि उनकी समस्त कवित्व शक्ति भाषा के परिमार्जन एवं स्थिरीकरण में ही व्यय हो गई। इसी कारण अभिव्यंजना पक्ष की ओर इनका ध्यान न जा सका। लक्षणा-व्यंजना के सौन्दर्य से श्रीहीन काव्य केवल अप्रस्तुत योजना के आश्रय में पनपता रहा।

द्विवेदी-युग का द्वितीय चरण (सन् १९१०-१९२० ई०) साहित्य में भाषा भाव और कला के क्रान्तिकारी परिवर्तन का युग था। देश की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की विषमता ने कवि की वहिर्मुखी भाव धारा को अन्तर्मुखी कर दिया। साथ ही प्राचीन भारतीय दर्शन, वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, कीट्स, स्विनवर्न आदि

पाश्चात्य रोमांटिक कवियों की काव्य धारा और बंगला कवियों की भावना प्रधान, विशेष रूप से रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के अध्ययन का भी इस काल के कवियों पर प्रभूत प्रभाव पड़ा। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविका था कि—कवि का ध्यान दर्शन, प्रेम, अध्यात्म और प्रकृति की ओर जाए। इसी समय यूरोप में प्रथम महायुद्ध भी छिड़ गया। युद्ध जनित निराशा ने सहृदयों को विवश कर दिया कि वे यांत्रिकता के विरोध में प्रकृति की ओर उन्मुख हों। इस काल के कवि ने अन्तर्मुखी होकर अपने प्रातिभ ज्ञान से सत्य का साक्षात्कार करने की चेष्टा की। इसके परिणाम-स्वरूप कवि वस्तु के वाह्य को नहीं बल्कि आन्तरिक अनुभूति तथा सौन्दर्य को वाणी देने लगा। इस प्रकार विषय प्रधान कविता भाव एवं कल्पना प्रवण हो गई।

द्विवेदी युग के अन्तिम वर्षों में हिन्दी काव्य जगत में तीन महान प्रतिभाओं का आगमन हुआ। यद्यपि प्रसाद जी ने सं० १९७० में ही हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रवेश पा लिया था, पर इनकी प्रारम्भिक रचनाओं कानन कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व एवं प्रेम पथिक पर द्विवेदी-युगीन इतिवृत्यात्मक काव्य का पर्याप्त प्रभाव वर्तमान है। सं० १९७५ में कवि की अन्तर्भाव व्यंजक कविताओं का संकलन 'झरना' के रूप में पाठक के समक्ष आया। झरना के प्रथम संस्करण की चौबीस कविताओं का नूतन भाव-विधान करके भी प्रसाद जी बिम्ब विधायिनी-चित्रात्मकता तथा लाक्ष-णिक-वैचित्र्य का विशेष चमत्कार नहीं उत्पन्न कर पाए।

प्रसाद कृत झरना (सं० १९७५) और आँसू (सं० १९८२) के प्रकाशन काल के अन्तराल में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रा नन्दन पंत ने नूतन काव्य-शिल्प लेकर इस क्षेत्र में पदार्पण किया। पंत जी की प्रारम्भिक रचनाएँ वीणा में संकलित हैं। उनका प्रसिद्ध प्रणय-काव्य 'ग्रन्थि' सन् १९२० में प्रकाशित हुआ। निराला जी की सर्व प्रथम रचना 'जुही की कली' सन् १९१६ में लिखी जा चुकी थी, पर उनकी रचना-प्रगति इन वर्षों में मन्द रही। इन कवियों ने भावाभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपकरणों को उपमान रूप में ग्रहण किया। कवि पंत ने छन्द के सङ्गीत को हृदयङ्गम किया, शब्द के नाद-सौन्दर्य को पहचाना और उसकी आत्मा (अर्थ) को नूतन कान्ति से मण्डित किया। निराला जी ने 'जुही की कली' में प्रकृति के उपकरणों का मानवीकरण करके अपने हृदयगत भावों को मूर्तिमान कर दिया है। प्राकृतिक-उपकरणों के माध्यम से सूक्ष्माति सूक्ष्म अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति और लाक्षणिक चित्रात्मका को लेकर हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' का प्रादुर्भाव हुआ। आगे चलकर श्रीमती महादेवी वर्मा, दिनकर, अचल, नरेन्द्र शर्मा प्रभृत्ति कवियों ने इस धारा को अत्यधिक समृद्ध बना दिया। छायावादी लाक्षणिक चित्रा-त्मकता का निखरा हुआ वैभव आँसू और पल्लव में सर्व प्रथम दिखाई पड़ता है।

अँग्रेजी के अधिकतर अलंकार लाक्षणिक हैं। छायावादी कवियों की पद योजना पर अँग्रेजी साहित्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। अँग्रेजी साहित्य-शास्त्र में

अलंकारों के अन्तर्गत लक्षणा और व्यंजना शक्तियों को स्वीकार कर लिया गया है। अँग्रेजी के अलंकारों में मैटोनिमी, सिनक्डकी, हाइपैलेज और परसोनीफिकेशन लक्षणा शक्ति से ही सम्बन्धित हैं। छायावादी काव्य में इन चारों अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त मेटाफर और हाइपरवौली अलंकारों के मूल में तो लक्षणा शक्ति होती ही है। यहाँ इन अलंकारों के विषय में थोड़ी चर्चाकर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। मैटोनिमी अलंकार में आधार के लिए आधेय, कर्ता के लिए कारण और लिंगी के लिए लिंग का प्रयोग होता है। सिनक्डकी में अंग के लिए अंगी, अंगी के लिए अंग, मूर्त के लिए अमूर्त, अमूर्त के लिए मूर्त व्यक्ति के लिए जाति तथा जाति के लिए व्यक्ति प्रयुक्त होता है। हाइपैलेज में विशेषण का विपर्यय हो जाता है। परसोनी फिकेशन में जड़ वस्तुओं अथवा गुणों का मानवीकरण हो जाता है। मेटाफर तो हमारा रूपक ही है और हाइपरबोली अतिशयोक्ति। छाया-वादी कवियों के काव्य में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों में इनकी छटा दर्शनीय है। पंत जी के लाक्षणिक प्रयोगों के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का मत द्रष्टव्य है:—

'"वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अँग्रेजी कविताओं से लिए हुए भाव और अँग्रेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं।"[1]

वस्तुत: भारतीय शिक्षित समाज अँग्रेजी साहित्य के निकट सम्पर्क में आ गया था। ऐसी परिस्थिति में यह बड़ा स्वाभाविक था कि हम पर अँग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़े।

कवि का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व यह होता है कि यह सहृदय रसिकों की हृदय वृत्तियों को उच्छ्वसित एवं प्रबुद्ध करे। वर्ण्य-विषय को गोचर कराने के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता होती है। भाषा में रूपों और व्यापारों की योजना होती है। चित्रमय भाषा में वर्णनीय वस्तु मूर्त रूप धारण कर लेती है और वस्तु को ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। शब्द की लक्षणा-शक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि वह वर्णनीय को गोचर रूप दे सकती है। इस बात को भली भाँति समझकर ही छायावादी कवि ने अपने काव्य में लाक्षणिक प्रयोगों को ग्रहण किया है। यही कारण है कि छायावादी काव्य अपने इस रूप के लिए बहुत प्रशंसित है।

लाक्षणिक चित्रात्मकता के कारण छायावादी काव्य के वाक्यों में भावव्यंजकता एवं स्पष्टता और शैली में सुचारुता तथा प्रभावोत्पादकता आई है। इसी कारण से भाषा चित्ताकर्षक, हृदयद्रावक, भावप्रकाशक, विचार बोधक, रागात्मक तथा चित्रा-त्मक हो गई है। इससे संवेदन के स्वरूप को मूर्त एवं ग्राह्य रूप मिल सका है और भाव प्रवणता से रागात्मक-वृत्तियों को उच्छ्वसित होने का अवसर प्राप्त हुआ है।

---

१. हि० सा० इति, आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० परि० सं० २००२, पृ० ६०७

यहाँ समस्त छायावादी ग्रन्थों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराना तो प्रबन्ध के विषय का सीमातिक्रमण करना होगा। अतः छायावादी काव्य में लक्षणा शक्ति के जो विशिष्ट प्रयोग अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव के कारण आ गए हैं, उन्हें स्पष्ट करने के लिए और कुछ रीतिकाल में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों से साम्यता रखने वाले उदाहरणों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इन उदाहरणों से काव्य में आई हुई नई प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

आधार के लिए आधेय के रूप में:—

"मर्म पीड़ा का है हास !
रोग का है उपचार; पाप का भी परिहार।"[१]

इसमें 'पीड़ा का है हास' लाक्षणिक पद है। इसका आधार है पीड़ित मन।

"सिड़ी का गूढ़ हुलास
बीनते हैं प्रसून दल; तोड़ते ही हैं मृदु फूल।"[२]

इसमें 'गूढ़ हुलास' पद लाक्षणिक है। इसका आधार आनन्दित मन ही है।

"चाँदनी रात का प्रथम प्रहर हम चले नाव लेकर सत्वर,
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही बिखर।"[३]

इसमें 'मोती पर सीपी की ज्योत्स्ना रही बिखर' पद लाक्षणिक है। इसका आधार है चन्द्र की ज्योत्स्ना।

मानवीकरण:—

कवि के सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त करने के लिए जब जड़ वस्तुओं और गुणों पर मानव कार्य-व्यापारों का आरोप करने लगता है अथवा उनमें हृदयगत भावों की छटा का दर्शन करने लगता है, तब कथन की अभिव्यक्ति के लिए जिस शैली का आश्रय लेता है उसे मानवीकरण कहते हैं। मानवीकरण की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में एक पुरानी प्रवृत्ति है। रीतिकालीन काव्य में देव, मतिराम आदि की रचनाओं में यथा स्थान इस प्रवृत्ति को दिखाया जा चुका है, पर छायावादी काव्य में जिस रूप में मानवीकरण का अधिकाधिक प्रयोग हुआ है उसके दर्शन अन्यत्र नहीं होते। रीतिकाल में मानवीकरण की प्रवृत्ति सम्पूर्ण ग्रन्थ में किसी एक स्थल पर दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त भाव वैदग्ध एवं चित्रात्मकता की दृष्टि से भी वे इतने समर्थ

---

१. पल्लविनी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० १३३
२. वही द्वि० सं० पृ० १३४
३. वही नौका बिहार पृ० १०४

प्रयोग नहीं हैं जितने कि छायावादियों के मानवीकरण । यहाँ पर उनके कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:—

"फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली ।"[1]

नीले आकाश में जड़े हुए तारों को देखकर मनु रजनी को एक मुग्धा नायिका मानकर पूछते हैं कि ओ यौवन की मतवाली रात्रि ! क्या तेरा नील वसन फटा हुआ है कि जिसमें से तेरे उज्ज्वल कान्ति युक्त भोले-भाले अङ्गों की छवि यह अकिंचन जगत लूट रहा है । इस पद में 'नील वसन' और 'यौवन की मतवाली' पद लाक्षणिक हैं । इनके सहारे रजनी पर मुग्धा नायिका का आरोप किया गया है । इस कारण यहाँ मानवीकरण अलंकार है ।

विशेषण विपर्ययः—

किसी कथन को विशेष अर्थ गर्भित करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है । अभिधावृत्ति से विशेषण को जहाँ स्थान मिलता है वहाँ से हटा-कर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से काव्य का सौष्ठव बढ़ जाता है । भावाधिक्य की व्यंजना के लिए विशेषण विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुन्दर होता है ।

"वेदी की निर्मम प्रसन्नता पशु की कातर वाणी ,
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी ।"[2]

इसमें प्रसन्नता को निर्मम कहा गया है, जो सम्भव नहीं है । अतः निर्ममता पूर्वक की गई बलि से मनु प्रसन्न हुए हैं, यह चित्र इससे गोचर होता है ।

"बता कहाँ अब वह बंशी वट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?"[3]

इसमें पनघट को व्याकुल कहा गया है जो सम्भव नहीं है । अतः इसका लक्ष्यार्थ है चंचल चरणों वाली गोपियाँ व्याकुल हैं ।

---

१. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ० ४०, पद ७६
२. 'कामयिनी', जयशंकर प्रसाद, कर्म पृ० ११६
३. अपरा, सूर्यकान्त त्रिपाठी, 'निराला' 'यमुना के प्रति'

कार्य कारण के रूप में.—

"कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं मधुरलय का क्या कहीं अवसान है।"[१]

इसमें एक प्रेम ही कारण है जिसके अवस्था विशेष के प्रभाव दिखाए गए हैं। यहाँ कार्य-कारण भाव से लक्षणा है।

"कैसे कहती हो सपना है अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास॥"[२]

फूल खिले हैं, जिनसे प्रसन्नता व्यक्त होती है और उनमें ओस की बूँदें भी वर्तमान हैं। मेरे आँसू उनके हास का यह अर्थ लक्षणा-शक्ति द्वारा ही स्पष्ट होता है।

विशेषण रूपक के रूप में:—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा अरे विश्व वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।"[३]

इसमें व्याली लाक्षणिक पद है। इसका लक्ष्यार्थ है सर्पिणी जिस प्रकार अपनी विषज्वाला से प्राणियों को मार डालती है उसी प्रकार चिन्ता भी व्यक्तियों को घुट-घुट कर मरने को विवश कर देती है।

"हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल,
नभ में अवनि, अवनि में अंबर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।"[४]

इसमें 'सागर के धवल हास', जल के धूम, ऊषा के पल्लव, वारि वसन, वसुधा के मूल, नभ में अवनि में अम्बर, सलिल भस्म, मारुत के फूल, जल में थल, थल में जल, दिन के तम और पावक के तूल सभी लाक्षणिक पद हैं। इनका क्रमशः

---

१. आधुनिक कवि, पं० सुमित्रानन्दन पंत, छठा सं० पृ० १५
२. 'यामा', महादेवी वर्मा, सं० १६३६
३. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, 'चिन्ता', पद १०
४. पल्लविनी, सुमित्रानन्दन पंत, द्वि० सं० 'बादल', पृ० ३०-३१

लक्ष्यार्थ है सागर के जल से बादल बनते हैं और उनका रंग श्वेत होता है, जल का वाष्पी भवन होता है, गगन में धूल तरह उड़ते हैं, जल का फेन श्वेत होता है बादल भी स्वेत होता है और हवा बादल और फेन दोनों की उत्पत्ति का कारण है, प्रातः-कालीन सूर्य की किरणें बादल को अरुणिमा प्रदान करती है, बादल से जल धार का वसन बनता है, जल से नव सृष्टि का सृजन होता है, बादल गगन में उड़ते रहते हैं। और धरती के ऊपर उड़ते हैं। इसी प्रकार अन्य विशेषण पदों का भी लक्ष्यार्थ कार्य कारण जन्य-जनक भाव से होता है। इन सभी पदों में लक्षणा का चमत्कार है।

प्रतीकों के रूप में:—

"झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला
पा कर इस शून्य हृदय में सबने आ डेरा डाला।।"[१]

इसमें संघर्षों के लिए झंझा, दुख की अनुभूति के लिए बिजली, आँसुओं को नीरद माला कहा गया है। ये क्रमशः संघर्षों, दुखों की अनुभूति और आँसुओं के प्रतीक रूप में ग्रहण किए गए हैं। इनका आधार प्रभाव साम्य है।

साम्य के रूप में:—

"मधु मंगल की वर्षा होती कांटों ने भी पहना मोती।
जिसे बटोर रही थी रोती आशा, समझ मिला अपना धन।।"[२]

इसमें दुष्ट हृदय के लिए कांटे का प्रयोग किया गया है और अश्रु बिन्द के लिए मोती शब्द ग्रहण किया गया है। इनमें गुण तथा रूप साम्य है।

मूर्त के लिए अमूर्तः—

"मधुर विश्रान्त और एकान्त जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य।।"[३]

इसमें 'रहस्य,' 'मौन' और 'आलस्य' पद' लाक्षणिक हैं। ये सभी श्रद्धा के लिए आए हुए हैं। रहस्य को सुलझा हुआ कहकर यह व्यक्त किया गया है कि श्रद्धा सामने उपस्थित है। कामायनी करुणामयी सुन्दरी है जो चुपचाप खड़ी है। मन के आलस्य से अभिप्राय है श्रद्धा को पाकर मन स्थिर हो जाता है। छायावादी वाक्य में कहीं-कहीं पूरे वाक्य में लक्षणा पाई जाती है:—

"तरंगों में डूबे दो कुसुमों पर हँसता था एक कलाधर।"[४]

इसमें 'दो कुसुमों,' 'एक कलाधर' और' तरंगों' पद लाक्षणिक हैं। इनका-क्रमशः लक्ष्यार्थ है नायिका के दो उरोज, मुख एवं यौवन कांति अर्थात् सौन्दर्य से

---

१. आँसू, जयशंकर प्रसाद, पृ० १५
२. लहर जयशंकर प्रसाद, द्वि० बार, पृ० १८
३. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, 'श्रद्धा' पृ० ४५
४. अनामिका, 'निराला' सं० द्वि, सं० २००५ पृ० ५०

व्याप्त प्रसन्नता। पद का भावार्थ है-वयः सन्धि की अवस्था में उरोजों को देखकर सुकुमार मुख प्रसन्नता में निमग्न है।

"विद्युत के चल स्वर्णपास में बँध हँस देता रोता जल धर।
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर।
दिन निशि को देती निशि दिन को रजत कनक के—
मधु प्याले हैं।"[1]

'सागर ज्वालागीतों से नहलाता' पद में वाक्यगत लक्षणा है। सागर की लहरें गर्जन करती हुई उठती गिरती रहती हैं, इसीलिए उन्हें कवि ने ज्वालागीत कहा है। इस पद का भावार्थ है 'प्रकृति अपने मानस के स्नेह-सागर की लहरों से प्रियतम को आप्लावित कर देती है।

क्रिया पदों में लाक्षणिकता:—

"युद्ध का उन्माद संक्रम शील है
एक चिनगारी कहीं जागी अगर--
तुरत बह उठते पवन उनचास हैं
दौड़ती हँसती उबलती आग चारों ओर से।"[2]

इसमें 'दौड़ती,' 'हँसती' तथा 'उबलती' क्रियाएँ लाक्षणिक हैं। इन तीनों का अर्थ बाधित है। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है फैलना, धधकना और विकहालता धारण करना। इस प्रकार इन क्रिया पदों से युद्ध विस्तार और उसकी भयानकता से संबंधित चित्र पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। चिनगारी, उनचास पवन एवं आग में सादृश्य के आधार पर साध्यावसाना गौणी लक्षणा है।

विशेषण पदों में लाक्षणिकता

'उनकी सिहराई कंपन में
किरणों के प्यासे चुम्बन में।"[3]

इसमें 'सिहराई' तथा 'प्यासे' (क्रियावाचक विशेषण) लाक्षणिक-पद हैं। कंपन और चुंबन की विविध अवस्थाएँ एवं स्वरूप हो, सकते हैं, किन्तु यहाँ कंपन के साथ सिहरन और चुंबन के साथ प्यासे होने का प्रयोग करके लाक्षणिक चित्रात्मकता पैदा कर दी गई है। इस प्रकार कंपन एवं चुंबन का मूर्त रूप सामने आ जाता है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों, जैसे-ठिठुरता प्रातः, विहँसती पीड़ा आदि का छायावादी काव्य में आधिक्य है।

---

१. 'यामा' महादेवी वर्मा सं० १९३७, पृ० १६६
२. कुरुक्षेत्र, रामधारीसिंह 'दिनकर' सं० १९६२, पृ० १८
३. यामा, महादेवी वर्मा सं० १९३९, पृ० १३

विरोध मूलक शब्दों के प्रयोग में लाक्षणिकता

"मणिदीपों के अन्धकार मय अरे निराशा पूर्ण भविष्य ।"[१]

इसमें मणिदीपों और अन्धकार लाक्षणिक पद हैं। इनका लक्ष्यार्थ क्रमशः है वैभव विलास एवं अज्ञान है।

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य लक्षणा शक्ति के प्रयोग की दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध है। जिस प्रकार छायावादी काव्य में विषय की व्यापकता आई, उसी प्रकार अभिव्यक्ति में भी विविधता आई। कवि मूर्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता और प्रभविष्णुता की वृद्धि के लिए निर्जीव वस्तुओं या सूक्ष्म भावों की गंभीर अभिव्यंजना में उन पदों का प्रयोग करता है, जिनका प्रयोग सजीव प्राणी या मनुष्य के संबंध में किया जाता है। इस प्रकार काव्य का सौष्ठव तो समृद्ध होता ही है और साथ ही साथ लाक्षणिक चित्रात्मकता का मनोहर स्वरूप भी पाठक के समक्ष उपस्थित होता है। रीतिकालीन मानवीकरण के प्रयोग न तो छायावादी काव्यों की तरह व्यापक पृष्ठ भूमि पर हैं और न ही उनसे काव्य में इतनी प्रभविष्णुता की वृद्धि ही होती है।

विशेषण विपर्यय तो छायावादी काव्य की संपत्ति हैं। रीति कालीन काव्य में इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग नहीं हुए हैं। उस काल के कवि की अभिव्यक्ति इस साधन से परिचय नहीं थी, फिर भी घनानन्द में कहीं कहीं विशेषण-विपर्यय का प्रयोग पाया जाता है।

क्रिया पदों की लाक्षणिकता रीतिकाल और छायावादी दोनों काव्यों में पाई जाती है। अन्तर यह हैं कि रीतिकालीन प्रयोग चलते-चलते घिस गए थे, इसलिए उनके चमत्कार सहृदय रसिक को इतना आनन्द नहीं दे पाते हैं, जितना छायावादी क्रिया पदों के प्रयोग। वास्तविकता यह है कि क्रिया पद तो वही हैं, पर छायावादी कवियों ने उन्हें नए संदर्भ में प्रस्तुत करके जीवन्त बना दिया है।

विशेष्य पदों द्वारा दोनों कालों में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। इनका प्रयोग दोनों कालों में विरल है। रीति-काव्य में घृणा और छायावादी काव्य में करुणा उत्पादन के प्रसंग में प्रायः इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं।

विशेषण पदों द्वारा लाक्षणिक चित्रात्मकता उत्पन्न करना भी नव युग की चेतना है, जैसेः—अलसाई आँख, सिहराई कंपन, प्यासे चुम्बन, ललचाई पलक, विस्मित अधर, निद्रित स्वप्न आदि। इनके द्वारा सहज ही बिंब ग्राह्य हो जाते हैं। छायावादी कविता में विशेषणों का रूपक के रूप में भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना सचित्र होती है जैसेः—'बिजली की दिवा रात्रि,' भूले हृदय की खोज आदि। कवि के ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों को देखकर यह प्रतीत होता है कि

---

१. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, चिन्ता, पृ० ७

ये किन्हीं भावुक क्षणों की सृष्टि हैं। इस प्रकार की कल्पना प्रधान अप्रस्तुत योजनाओं की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

रीति कालीन काव्य में लक्षणा की शक्ति पद गत है किन्तु छायावादी काव्य में कहीं-कहीं वाक्य गत लक्षणा के भी दर्शन होते हैं। प्रतीक योजना दोनों कालों में हुई है और प्रतीकों के माध्यम से लाक्षणिक चित्रात्मकता का काव्य में अवतरण हुआ है। दोनों काल के प्रतीकों की प्रकृति भिन्न है। छायावादी कवि अपने प्रतीकों को प्रकृति से ग्रहण करता है इसलिए ये अधिक सशक्त प्रतीत होते हैं। मूर्त के लिये अमूर्त का विधान भी दोनों कालों की विशिष्टता है पर रीतिकाल में ऐसे लाक्षणिक प्रयोग विरल हैं जब कि छायावादी काव्य की यह स्वाभाविकता है। विरोध मूलक शब्दों के द्वारा भी लाक्षणिकता की योजना की गई है। रीतिकालीन कवियों ने परंपराओं में बँधकर ही इस प्रकार के प्रयोग किए हैं। इसलिए उनकी वाणी का इस क्षेत्र में ऐसा विकास न हो पाया जैसा कि छायावादी कवि की वाणी का।

छायावादी कवि अप्रस्तुत योजना करने में अधिक सावधान है। इसी के परिणामस्वरूप इस काव्य में प्रेषणीयता, भावोद्बोधकता और रमणीयता भी अधिक है। उपमानों के चयन में इस काल में नवीनता तो है ही और साथ ही साथ उनमें सामर्थ्य भी अधिक है। रीतिकालीन काव्य में उपमा अलंकार में लक्षणा की चित्रात्मकता नहीं दिखाई पड़ती, छायावादी काव्य में ऐसे भी अनेक प्रयोग मिलते हैं जो उपमा अलंकार तो हैं, पर उपमेय का उल्लेख न करके केवल उपमान का उल्लेख किया गया है। ऐसी परिस्थिति में वे साध्यवसाना लक्षणा के क्षेत्र में आ जाते हैं।

इसके अतिरिक्त रूपक, अतिशयोक्ति परिकरांकुर-समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और मुहावरे-लोकोक्तियों में तो दोनों काल में बड़े समर्थ प्रयोग हुए हैं। इस क्षेत्र में रीतिकालीन लाक्षणिक चमत्कार किसी भी दशा में छायावादी लाक्षणिक प्रयोगों से निम्नकोटि के नहीं हैं। इतना अवश्य सत्य है कि रीति कालीन कवि के पास उसका अप्रस्तुत विधान था और छायावादी कवि के पास अपना यदि दोनों काव्य धाराओं के लाक्षणिक प्रयोगों का उनकी परिस्थितियों और प्रवृत्तियों में प्रवेश करके मूल्यांकन किया जाए तो अपने-अपने युगों का दोनों श्रेष्ठतम प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लक्षणा का बड़ा व्यापक क्षेत्र है। कवि प्रतिभा निरंतर इसका विस्तार करती रहती है। इन लाक्षणिक स्वरूपों को देखकर तो यह कहना पड़ता है कि-कहीं-कहीं लक्षणा का चमत्कार व्यंजना से भी अधिक समर्थ हो जाता है।

'रीतिकाल और छायावादोत्तर कविता'

उपर्युक्त पंक्तियों में छायावादी काव्य के लाक्षणिक प्रयोगों की सामर्थ्य की विवेचना की जा चुकी है। छायावादी काव्य के बाद भी काव्य में लाक्षणिक प्रयोग

होते रहे हैं, उन्हीं के संबंध में यहाँ विचार किया जा रहा है। छायावादोत्तर काव्य की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ—प्रगतिवाद प्रयोगवाद और नई कविता हैं। इनके विकास का संक्षिप्त परिचय देकर यहाँ इनमें आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जायेगा।

गाँधीवाद में नवयुग की प्रतिष्ठा का स्पष्ट आवाहन वर्तमान था फिर भी आन्तरिक मूल्यों को प्रधानता देने के कारण, वह जन-जीवन को प्रेरणा देने में असमर्थ-सा प्रतीत होने लगा। सन् १९३४ में समाजवादी दल की स्थापना, 'मेरठ षडयंत्र केस' और श्रमिकों की 'ट्रेड यूनियन' की स्थापना आदि मार्क्सवाद की आधारभित्ति पर ही टिकी थी। १९३६ ई० का सार्वजनिक निर्वाचन जन मानस की जागृति और प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन पूंजीवाद के प्रति घोर अनास्था एवं समाजवाद के प्रति गहन आकर्षण का ज्वलन्त सत्य उदघाटित करते हैं। प्रगतिशील लेखकों के सम्मेलन का मूल उद्देश यह था कि साहित्य में रुग्णनैराश्य, पलायन एवं मुमूर्षा की भावनाओं को न आने दिया जाए। पंत का कोमल कवि भी 'युगान्त' में जीर्ण पुरातन के 'नष्ट-भ्रष्ट' होने तथा नवल मानवता के 'पल्लवित' होने का स्वप्न देखने लगा था। मधुशाला (१९३८ ई०) मधुबाला (१९३६ ई०) 'मधुकलश' (१९३७ ई०) तथा निशानिमंत्रण (१९३८ ई०) में बच्चन ने वैयक्तिक प्रेम का मादक स्वरूप चित्रित्र किया था । छायावाद की सर्व श्रेष्ठ रचना कामायनी भी १९३७ ई० में प्रकाशित हुई। नरेन्द्र की 'शूल-फूल तथा कर्ण-फूल' अंचल की 'मधूलिका' एवं 'अपराजिता' और भगवती चरण वर्मा का 'प्रेम-संगीत' ग्रन्थ इसी समय प्रकाशित हुए। इसी बीच १९३७ ई० में विश्वमहायुद्ध छिड़ गया। इस समय राष्ट्रीयता का स्वर और भी ऊँचा हो गया। इस काल की प्रकाशित रचनाओं में—कृषकों के प्रति सहानुभूति, सामाजिक असंगतियों की व्यंजना, समाज की वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन की माँग, राष्ट्रीयता का उद्बोधन, साम्यवादी विचारधारा,युद्ध का विरोध आदि अनेक तत्व प्रतिष्ठित हो गए । अतएव यह कहा जा सकता है कि दोनों विश्वमहायुद्धों के मध्य छायावाद का उत्थान एवं पतन घटित हुआ। सन् १९४० ई० के आस-पास से प्रगतिवादी धारा का प्रवाह नियमतः प्रारंभ हो गया। इस धारा के कवियों का दृष्टिकोण मुख्यतया बौद्धिक रहा जिसमें छायावाद की भावनात्मक दृष्टि के प्रति विरोध स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ ।

प्रगतिवाद युग-चेतना को वाणी देता है। उसमें साम्राज्य एवं पूँजी के प्रति विद्रोह और जन साधारण के प्रति सहानुभूति वर्तमान थी। स्वदेश-प्रेम,धर्म एवं ईश्वर के प्रति विक्षोभ,सामाजिक विषमता की कटु प्रतीति,कृषकों तथा श्रमिकों में नवचेतना का संचार, विदेशों में भी पद-दलित मानवता के उद्धारके प्रति कामना,अन्तराष्ट्रीय दृष्टिकोण, विश्वशान्ति की स्थापना की भावना और नव-युग एवं नव-निर्माण की प्रतिष्ठा के प्रति

गहन आस्था —ये सभी प्रगतिवाद के पोषक तत्व हैं। बौद्धिक धरातल पर कार्लमार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का सिद्धान्त इसका प्रधान प्रेरणा स्तोत है और जनक्रान्ति के द्वारा श्रमिक वर्ग को शासनारूढ़ करना प्रमुख उद्देश्य है। अतः प्रगतिवादी कवि न तो 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है और न कला के परिष्कृत सौन्दर्य-संसार में ही विचरण करता है। वस्तुतः लोक-हिताय उसका मंत्र वाक्य है और सीधी स्पष्ट व्यंजना ही उसका अमोध अस्त्र है।

प्रगतिवादी काव्य चेतना को जाग्रत करने वाले कवियों में निराला, पंत, सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, भगवती चरण वर्मा, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, अंचल, नीरज प्रभृति का योग था। प्रगतिवाद का शिल्प-विधान अशक्त एवं अरुचिर था। जन-जीवन की सामान्य विपन्नता में काव्यत्व नहीं रहता, इसी कारण प्रगतिवाद काव्यत्व विहीन ही रहा। कल्पना ने जितनी ही रंगीनी एवं सुकुमारता छायावाद में दिखाई थी, उतनी रुक्षता तथा शुष्कता इस जनवादी काव्यधारा में आ गई। शैली की अलंकार हीनता का स्पष्ट रूप से आख्यान करते हुए पंत जी ने इस प्रकार कहा है—

वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार,
तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।[१]

सन् १९४० ई० के आस-पास राष्ट्रीय जीवन में संघर्ष, दमन, गतिरोध, महँगी, भ्रष्टाचार इत्यादि की विभीषिकाएँ मध्यवर्ती बुद्धिजीवी समुदाय को विक्षुब्ध करने लगी थीं। समाज के सबसे अधिक संवेदनशील कवि (नए कवि) तीव्र असंतोष एवं गहन पराजय-वृत्ति से आक्रान्त होकर अपनी स्थिति को समाज में 'त्रिशंकु' के समान समझने लग गए। क्योंकि "सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति" के विरुद्ध उनका विद्रोह सफल न हो सका, इस कारण से उनका सम्बन्ध मध्यवर्ग और निम्न वर्ग से भी समाप्त हो गया। ऐसे ही कवियों का नेतृत्व ग्रहणकर, अज्ञेय ने प्रयोगवादी काव्य-धारा का इसी समय प्रवर्तन किया।

छायावादी कवि जीवन को निर्झर मानता था। प्रयोगवादी कवि जीवन को बैलगाड़ी मानता है जो स्वयं नहीं चलती अपितु उसे चलाया जाता है। इस दृष्टि से जीवन को देखने के कारण प्रतीक, बिंब आदि सभी बदल गए। यह काव्य छायावाद की रंगीनियों और प्रगतिवाद की दिग्भ्रांतियों से सर्वथा मुक्त है। यह प्रयोगवादी काव्य नई चेतना देश-विदेश की परिवर्तमान तथा उलझन भरी समस्याओं में परिस्नात होकर अटपटे वेश में अभिव्यक्त होने लगा। मूल रूप से अधोलिखित विशेषताओं को लेकर प्रयोगवादी काव्य धारा आगे बढ़ी।

---

१. आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पंत, सं० २०१२, भूमिका पृ० १७

(क) अवसादग्रस्त व्यक्तिवाद जो अस्वस्थ रूप से अन्तर्मुखी है; (ख) विकृत अहंवाद (ग) मनोविश्लेषण की यौन कुंठाओं एवं वर्जनाओं की अभिव्यक्ति (घ) आस्था-अनास्था तथा आशा-निराशा का मिला-जुला चित्रण (ङ) व्यंग्य-विद्रूप एवं असंतुलित रोष की विज्ञप्ति (च) लघुतम एवं हींनतीम विचारों एवं अनुभूतियों का अङ्कन, (छ) नागरिक मादकता के स्थान पर ग्राम्य जीवन तथा प्रकृति की शान्त-स्निग्ध छवियों का उन्मीलन; (ज) एक प्रकार की विचित्र बौद्धिकता जो भावक की भावयित्री प्रतिभा को चुनौती देती हुई प्रतीत होती है; और (झ) रूप गठन के नवीन प्रयोग जिनमें प्रायः लय संगीत की रक्षा के प्रति उदासीनता है। तथा चमत्कार जनन के प्रति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष आकर्षण है। इसमें किसी स्पष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण या मतवाद का प्रतिफलन भीं दृष्टि गोचर नहीं होता है। इन्हीं समस्त विशेषताओं का प्रतिफलन 'तारसप्तक' में रूपायित हुआ है। इसमें गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे के गिरजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय की कविताएँ संग्रहीत हैं। सन् १९४३ ई० में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। 'तार सप्तक' के पाँच कवियों—गजानन माधव 'मुक्तिबोध' नेमिचन्द्र, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, और रामविलास शर्मा में समाजवादी दृष्टिकोण स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात यहाँ तार 'सप्तक' में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों को दिया जा रहा है।

"तार सप्तक"

तार-सप्तक की कविताओं में समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत पूँजीवादी व्यवस्था, दलित तथा निम्न मध्यवर्ग, कृषक जीवन और नवयुग के अभ्युदय का, व्यक्तिवादी प्रवृति में आत्मरति; आत्मोन्मीलन, अन्तर्द्वन्द, सूक्ष्म अन्तरानुभूति, निराशा एवं मनो भग्नता एवं जीवन का दार्शनिक चिन्तन है। इसमें व्यक्तिगत चेतना (अहं) और वर्गगत चेतना (समूह) से संबद्ध अन्तर्द्वन्द, सौन्दर्य बोध और मौन कुंठाएँ तथा यथार्थ प्रतीति जन्य वर्जनाएँ सौन्दर्याकर्षण अथवा सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने वाली कविताएँ हैं। प्रेम चित्रण के प्रसंग में वियोग वेदना का निर्व्याज निवेदन आशा एवं निराशा तथा वासना और विवेक की लुका छिपी वाला प्रेम निवेदन, रंग, रस तथा रोमांस की अभिव्यक्ति भी 'तार-सप्तक' में हुई है। वस्तु-तत्व के क्षेत्र में इन कवियों ने जो नवीन प्रयोग किए उन पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि परिवर्तमान संदर्भ पर उनकी दृष्टि पहुँची और अहं के साथ-साथ इदं को भी वाणी मिली। मूलतः उनकी दृष्टि वस्तु परक थी मुक्तिबोध की रचनाएँ मनः परक थीं। रूप तत्व की दृष्टि से भी नए प्रयोग हुए हैं। अभिव्यक्ति को सटीक एवं प्रांजल बनाने के लिए इन कवियों ने नए उपमान एवं प्रतीक नियोजित किए। जीवन के लिए अश्वत्थ, अहं भाव के लिए कुकुरमुत्ता, दीन नयनों के लिए लालटेन, चाँदनी के लिए चंदन,

रूढ़ियों के लिए सघन बर्फ की कड़ी पर्त, बादलों के लिए श्वेत गरमीला रुआ आदि प्रतीक कवियों की नई दृष्टि का संकेत करते हैं। संपूर्ण 'तार-सप्तक' में—जीवन की भट्ठी में भावों के जी चाहे 'रूप' बना लेने का कवि संकल्प सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखता है।

कुल मिलाकर इन कवियों की भाषा सीधी, सरल, दैनिक बोलचाल के निकट तथा कल्पना के वायवी रङ्गों से मुक्त है। 'तार-सप्तक में लाक्षणिक प्रयोग भी कम मिलते हैं, किन्तु उनका अभाव नहीं है जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। मुक्तिबोध की पंक्तियाँ "दिन के बुखार रात की मृत्यु, के बाद हृदय पुंसत्व-हीन" जैसे लाक्षणिक प्रयोग इसमें दिखाई पड़ते हैं। लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से तार-सप्तक के कवियों के काव्य में लक्षणा का समृद्ध प्रयोग नहीं हो पाया है। इसकी तुलना रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों से क्या की जा सकती है। रीतिकाल में लक्षणा के प्रयोगों में शास्त्रीयता, स्वाभाविकता, एवं सम्प्रेषणीयता के उच्चकोटि के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं, किन्तु इन प्रयोगों में कहीं-कहीं प्रतीकों अथवा उपमानों के माध्यम से लाक्षणिक प्रयोगों के दर्शन हो जाते हैं। ये प्रयोग नए प्रतीकों और उपमानों के कारण चित्त को अवश्य तीव्रता के साथ अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

'दूसरा-सप्तक'

'तार-सप्तक' की परिधि के बाहर भी नई कविता का सृजन हो रहा था। इनमें नरेन्द्र शर्मा, अंचल, सुमन, तथा राङ्गेय राघव की प्रगतिवादी कविताएँ और शमशेर बहादुर सिंह के मुक्त-छन्द (फ्री वर्स) में प्रतीक चित्र तथा मनोविज्ञान के मुक्त आसङ्ग (Free Associations) के तकनीक पर लिख रहे थे। त्रिलोचन शास्त्री ग्राम्य जीवन पर तथा भवानी प्रसाद मिश्र बोल-चाल की भाषा में गीतों और वैलेडों की रचना कर रहे थे। अन्त में ६ वर्षों के बाद अज्ञेय ने सन् १९५१ ई० में 'दूसरा-सप्तक' प्रकाशित किया। इसमें दो पिछली पीढ़ी के—भवानी प्रसाद मिश्र तथा शमशेर बहादुर और पाँच नई पीढ़ी के—शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, नरेशकुमार महता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती की रचनाएँ संग्रहीत हैं। तार-सप्तक और दूसरे-सप्तक का अनुशीलन करने पर कुछ मुख्य बातें ये सामने आती हैं कि तारसप्तक के अधिकांश कवियों का आग्रह साम्यवाद की ओर था जबकि दूसरे-सप्तक का कवि इससे मुक्त है। प्रथम सप्तक में कवियों की काव्य दृष्टि में आन्तरिक संघर्ष, मानसिक उलझन यौन कुंठाओं की प्रमुखता और एक प्रकार की सोद्देश्यता की गम्भीरता एवं जटिलता से आक्रान्त हैं जबकि 'दूसरे-सप्तक' में ये प्रश्न ही नहीं उठते और काव्य दृष्टि अपेक्ष्या उन्मुक्त, प्रसन्न एवं उत्साह गर्भा दिखलाई देती है यहाँ दूसरे सप्तक में आए हुए लाक्षणिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

'दूसरा-सप्तक' की भाषा सरल स्पष्ट तथा यथार्थवादी है। नरेश मेहता और भवानीप्रसाद मिश्र की रचनाओं में मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है। नरेश मेहता की रचनाओं में कुछ नवीनता का मोह, कुछ क्लासिकल शैली का मोह तथा अँग्रेजी शब्दों अथवा मुहावरों को अपनाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर तथा रघुवीर सहाय ने लोकभाषा की पदावली और मुहावरों के प्रयोग किए हैं। रूप-शिल्प का दूसरा तत्व कविता की अप्रस्तुत योजना है। इसी से कविता शैली में चमत्कार एवं लालित्य का अवतरण होता है। प्रकृति चित्रण तथा नारी सौन्दर्य के लिए नियोजित उपमान दैनिक अनुभव से ग्रहण किए गए हैं। भवानीप्रसाद मिश्र ने 'नभ से एक बूँद टपकी' में—झरोखों से किसी का हँसना, हँस रही आँख, नूपुर ध्वनि, झमक कर आदि उपमानों की सहायता से बिंब को संप्रेषणीय बनाया है। 'वर्षा के बाद' कविता में व्यास ने "गगन में नील मेघ फट गया मानो पय की गगरी फूट गई हो" कहकर लोक-परिचित व्यंजना की है। इससे आषाढ़ की पहली संध्या में नीले बादलों के बरस जाने का चित्र मानसिक नयनों के सम्मुख साफ-साफ उतर आता है। रघुवीर सहाय ने बादल को जामुन से उपमित किया है। इन्होंने बसन्त शीर्षक कविता में चैत मास के हल्के जाड़े को तरुणी की गरम गुलाबी शरमाहट के समान और उस जाड़े के धीरे-धीरे फैल जाने को चिकने गेहुएँ गालों पर कानों तक व्याप्त हो जाने वाली स्वाभाविक लालिमा बतलाया है। रघुवीर सहाय ने छाया के नीचे धीरे-धीरे ढलते हुए दिन को पलकों के भीतर शरमाने वाले नेत्रों से उपमित किया है। 'असाधारण' शीर्षक में भवानी प्रसाद मिश्र ने 'काई का फटना, सुग्गे का रटना' उपमान रूप में नियोजित किए हैं।

नारी-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाले उपमानों में शमशेर "मकई से लाल गेहुएँ तलुए, नरेश मेहता—चीकने चीड़-सी बाँह तथा सेव-सी लाली और श्वेत आँचल के हवा में फड़फड़ाने को चिड़ियों का उड़ना कहते हैं। धर्मवीर भारती प्रेयसी के "फिरोजी होठों" को देखकर गुलाबी पाँखुरी पर दिखाई पड़ने वाली 'हल्की सुरमई आभा' की प्रतीति से स्पन्दित होते हैं और कभी थोड़ी-सी छायावादी ढंग की कल्पना कर लेते हैं—"कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर !" (कोई सोई स्त्री बिस्तरे पर करवट बदल रही है) भारती जी जब "आदिम गुनाहों के इन्द्र-धनुषी स्वाद" की बात करते हैं तब वे बहके से प्रतीत होते हैं क्योंकि स्वाद के इन्द्र-धनुषी होने का कोई अर्थ ही नहीं होता है। इन्होंने पाँवों के लिए शरद् का चाँद, नाचते कमल की छाँव, दो मासूम बादल, सोन-जूही की पंखुरियों पर पले मदन के दो वाण, दो नाजुक और मृदुल तूफान, शलभ के गोद में सोई हुई दो शमाएँ, फरिश्तों के परों की छाँह में दुबकी हुई दो पूर्णिमाएँ, चुम्बनों की पाँखुरी के दो जवान गुलाब, सात रंगों की महावर से रचे महताब, स्वर्ग के दो गान तथा रश्मि पंखों पर अभी उतरे हुए बरदान—उपमानों की योजना की है। इनमें मूर्त अमूर्त

दोनों प्रकार के उपमान सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त वे होंठ के पाटल, नैन के बादल, गुलाबी तन, कली-सा मन, साँस की पुरवाइयाँ आदि की चर्चा करते हैं। साँसों में पुरवाई हवा की मस्ती एवं अलसता व्यंजित करने में कितनी सार्थक कल्पना है। इन उपमानों एवं प्रतीकों में रंग, मसृणता, प्रभाव आदि को साहृश्य का आधार बनाया गया है। भारती की अप्रस्तुत योजना में रोमानियत भरी है, किन्तु एक दो के अतिरिक्त सभी उपमान उपमेय की सरस एवं अर्थ भरी व्यंजना करने में ही सहयोग प्रदान करते हैं।

नरेश मेहता ने 'किरन धेनुएँ' शीर्षक कविता में क्षितिज से प्रसारित होने वाली किरणों को गायों से तथा प्रभात को ग्वाला से उपमित किया है और पूरी कविता में सांग रूपक का निर्वाह किया है। उषा-विषयक कविताओं में अधिकांश में रूपक का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं चित्र बड़े मनोरम बन पड़े हैं यथा कहीं नींद का फूल मृदुल बाहों में मुसकाता ही होगा।' इसी प्रकार संध्या का चित्र भी रूपक के माध्यम से नितान्त सुन्दर चित्रित हुआ है। रूपकों की भीड़ खड़ी करने में नरेश मेहता सिद्धहस्त हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बिंब विधान की दृष्टि से 'दूसरा-सप्तक' पर्याप्त समर्थ है। रीति कालीन बिंब-विधान अपनी एक अलग छटा रखते हैं। उनमें पूज्यभाव और आभिजात्य संस्कार है जबकि दूसरे-सप्तक के बिंब-विधानों में यथार्थता और परिचित रंग अधिक है। नया कवि नई दृष्टि से अप्रस्तुतों की योजना करता है इससे एक प्रकार का बौद्धिक-चमत्कार उत्पन्न होता है।

'तीसरा-सप्तक'

'तीसरा-सप्तक' सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की रचनाएँ संग्रहीत हैं। ये सभी कवि अपने-अपने विकास-क्रम में अधिक परिपक्व और मँजे हुए रूप में पाठक के सम्मुख आए हैं। भाषा-तत्व, रूप-तत्व, संप्रेष्य तत्व और शिल्प की दृष्टि से ये समर्थ रचनाएँ हैं।

'तीसरे-सप्तक' में भी प्रचुर मात्रा में लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। इन प्रयोगों से वस्तु की संप्रेषणीयता तथा संवेदनीयता में वृद्धि हुई है और काव्य का सौष्ठव भी समृद्ध हुआ है। 'सप्तकों' के कवि शास्त्रीयता के कायल नहीं हैं। इसलिए इनके लाक्षणिक प्रयोगों में शास्त्रीयता का अभाव है, पर स्वाभाविकता सर्वत्र वर्तमान है। मुहावरों द्वारा भी लाक्षणिक-चित्रात्मकता उत्पन्न की गई है। इन कवियों की दृष्टि व्यापक है। इसलिए जीवन के विविध क्षेत्रों की अभिव्यक्ति नूतन उपमानों में सज-

धज कर नई संवेदना का उपहार लिए हुए आई हैं और हृदय से अधिक बुद्धि को भाई है।

'उर्वशी'

श्री रामधारीसिंह दिनकर हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ कवि हैं। १९६१ ई० में 'उर्वशी' और १९६२ ई० में 'परशुराम की प्रतीक्षा' इनकी नवीन कृतियाँ हिन्दी पाठक के समक्ष आईं। कवि ने उर्वशी में पुरुरुवा और उर्वशी के स्नेह सम्बन्ध के पौराणिक कथानक के आधार पर, स्नेह तथा मातृत्व अधुनातन स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में चीन के आक्रमण की प्रतिक्रिया का उद्‌घाटन है। यहाँ पर उर्वशी से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं, जिनमें लाक्षणिक चमत्कार हैं।

"जाल फेंकती फिरतीं अपने रूप और यौवन का।
हँसी हँसी में करती है आखेट नरों के मन का।"[1]

इसमें 'जाल फेंकती' तथा 'आखेट करती' लाक्षणिक पद हैं। जाल फेंकना तो सम्भव है, पर रूप और यौवन का जाल फेंकना अवश्य असम्भव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है रूप तथा यौवन से आकर्षित करना। इसी प्रकार 'आखेट करना' पक्षी एवं जानवरों के पक्ष में सम्भव है, पर यहाँ नरों का आखेट करना कहा गया है। इसलिए इसका लक्ष्यार्थ है वशीभूत करना। इस प्रकार कवि ने इन पदों को अर्थ का नया आयाम दे दिया है।

"और वक्ष के कुसुम-कुंज सुरभित विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।"[2]

इसमें 'कुसुम-कुंज' तथा 'विश्राम भवन' लाक्षणिक पद हैं। ये दोनों पद उरोजों और वक्षस्थल के उपमान हैं। इनका आधार सादृश्य है। कवि ने उपमानों के माध्यम से ही बिंब को संप्रेषणीय बनाया है।

"कामना तरंगों से अधीर
जब विश्व पुरुष का हृदय-सिन्धु
आलोड़ित, क्षुमित, मथित होकर,
अपनी समस्त बड़वाग्नि
कण्ठ में भर कर मुझे बुलाता है।"[3]

---

१. उर्वशी, रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० सं० पृ० ३३
२. वही पृष्ठ ९१
३. वही पृ० ९५

इसमें 'कामना तरंगों', 'हृदय-सिंधु' आलोड़ित, क्षुभित, मथित और बड़-वाग्नि लाक्षणिक पद हैं। प्रथम दो पदों में कामना एवं हृदय उपमेय है और तरंगों तथा सिंधु उपमान हैं। इनका आधार साहश्य है। आलोड़ित, क्षुभित, मथित हृदय विभिन्न अवस्थाओं को व्यक्त करते हैं। बड़वाग्नि सागर में होती है पुरुष उसका में होना असंभव है, पर यहाँ इसका लक्ष्यार्थ पुरुष की शक्ति है। इस प्रकार कवि ने इन पदों का बिंब संप्रेषित किया है।

''तुम पन्थ जोहते रहो,
अचानक किसी रात में आऊँगी।
अधरों में अपने अधरों की मदिरा उँड़ेल,
मैं तुम्हें वक्ष से लगा
युगों की संचित तपन मिटाऊँगी।''[१]

इसमें 'मदिरा उँड़ेलना' तथा 'संचित तपन' लाक्षणिक पद हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है—मादक चुम्बन और नियन्त्रित, अपूर्ण आकांक्षा की उष्मा। इस प्रकार कवि ने इन पदों को नए अर्थ से मण्डित कर दिया है।

उर्वशी में आए हुए लाक्षणिक प्रयोग पर्याप्त सम्वेदनशील और संप्रेषणीय हैं। स्थानाभाव के कारण इन थोड़े से उद्धरणों को ही यहाँ उद्धृत किया जा सका है।

'चांद का मुँह टेढ़ा है'

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' मुक्तिबोध की कविताओं का संकलन है। इस ग्रन्थ का संकलन समशेर बहादुरसिंह ने किया है। गजानन माधव मुक्तिबोध हिन्दी-साहित्य में एक विलक्षण प्रतिभा थे। इनकी कवितायें इनका इतिहास हैं। यहाँ उनमें से कुछ एक उदाहरण जिनमें लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं दिए जा रहे हैं। इस ग्रन्थ की लाक्षणिकता तो शीर्षक से ही प्रमाणित है।

''भूल गलती
आज बैठी है जिरह बख्तर पहन कर
तख्त पर दिल के,[२]
... ...
खड़ी है सिर झुकाए
सब कतारें
बेजुबाँ बेबस सलाम में,[३]

इसमें 'जिरह बख्तर' तथा 'सब कतारें' लाक्षणिक पद हैं। इनका लक्ष्यार्थ

---

१. 'उर्वशी' रामधारीसिंह 'दिनकर' प्र० सं०, पृ० १००
२. 'लोकायतन' पं० सुमित्रा नन्दन पंत, प्र० सं०, पृ० २४८
३. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' मुक्ति बोध प्र० सं० पृ० १

क्रमशः सुरक्षित और सभी कतारों के व्यक्ति हैं। इस प्रकार कवि ने इन बिंबों को संप्रेषणीय बनाया है।

> "रात्रि की काँखों में दबी हुई
> संस्कृति-पारवी के पंख हैं सुरक्षित !!"[१]

इसमें 'संस्कृति-पारवी' लाक्षणिक पद है। इसमें संस्कृति उपमेय और (पक्षी) उपमान है। इसका आधार सादृश्य है। इस प्रकार कवि ने बिंब को गोचर कराया है।

> "मानव के सपने
> गड़ गए, गाड़े गए !!
> ईसा के पंख सब
> झड़ गए झाड़े गए !!
> सत्य की
> देववासी-चोलियाँ उतारी गईं
> उघारी गईं,
> सपनों की आँतें सब
> चीरी गईं फाड़ी गईं !!"[२]

इसमें 'सपनों का गड़ना', ईसा के पंख झड़ना,' 'सत्य की देवदासी की चोलियाँ उतरना' और 'सपनों की आँतें चीरी-फाड़ी जाना' लाक्षणिक पद हैं। इनका क्रमशः लक्ष्यार्थ है आकांक्षायें समाप्त हो गईं, दया, स्नेह आदि समाप्त हो गए हैं, सत्य की दुर्दशा हो गई है और कामनाएँ बल-पूर्वक विनष्ट कर दी गईं। इस तरह कवि ने भावों को संप्रेषणीय बनाया है।

इस तरह के अनेक प्रयोग इस संकलन में प्राप्य हैं। इनको सर्वत्र लक्षणा-शक्ति का चमत्कार वर्तमान है। कवि ने नए प्रतीकों और उपमानों के सहारे भावों को संप्रेषित करने का सफल प्रयत्न किया है।

'लोकायतन'

लोकायतन पं० सुमित्रा नन्दन पंत की १९६४ ई० की प्रकाशित नवीनतम रचना है। इसमें कवि ने संक्रान्ति कालीन युग गाथा को प्रस्तुत किया है। युग जीवन

---

१. 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' 'मुक्तिबोध, प्र० सं०, पृ० ३३
२. वही पृ० ३८

की सत्यता को स्पर्श करती हुई यह 'भागवत कथा' हिन्दी पाठक के समक्ष आई है। यहाँ पर कुछ ऐसे उदाहरण दिए जा रहे हैं जिनमें लक्षणा के प्रयोग हुए हैं।

"सुनते ही आह्वान देश का
प्रकट हुए जन नायक गांधी
घायल रुँधी हवा गढ़हों की
बनने को अब पागल आंधी।"[1] (जीवन द्वार)

इसमें 'घायल रुँधी हवा गढ़हों की' तथा 'पागल आँधी' लाक्षणिक पद हैं। इनका लक्ष्यार्थ है त्रस्त, दलित एवं क्षुब्ध विचार फूट पड़ना चाहते हैं और सभी बाधाओं को दूर कर देना चाहते हैं। इस प्रकार इन पदों के अर्थ को कवि ने नया आयाम दे दिया है।

"मुँह विचका गुरु, व्यंग्य हँसी हँस
बोले तीखा कर कड़ुवा स्वर,
राजनीति का फेर न यह रघु,
साढ़े साती आई सिर पर।"[2]

इसमें 'साढ़े साती आई' मुहावरा है इसका लक्ष्यार्थ है विपत्तियाँ आ पड़ी हैं। इसी लक्ष्यार्थ में मुहावरा रूढ़ हो गया है।

"बज्रपात अघटित न अनभ्र गगन से,
जीवित रावण कंस अचेतन मन में,"[3]

इसमें 'रावण तथा कंस' लाक्षणिक पद हैं। इनका लक्ष्यार्थ है बुरे विचार। इस प्रकार कवि ने बिंब को गोचर कराया है।

"जब दहक रहा हो उर में, फट ज्वालामुखी भयंकर,
तब कैसे लोग सुनेंगे, कोलाहल में अन्तः स्वर।"[4]

इसमें 'ज्वालामुखी फटना' लाक्षणिक पद है। उर में ज्वालामुखी फटना असम्भव है। अतः इसका लक्ष्यार्थ है क्रोधाग्नि का भड़क उठना।

उर्वशी, लोकायतन तथा चाँद का मुँह टेढ़ा है इन कृतियों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन ग्रन्थों में भी लक्षणा के पर्याप्त प्रयोग हुए हैं और ये प्रयोग बड़े ही समर्थ हैं। इन प्रयोगों की संवेदनशीलता और

---

१. 'लोकायतन' पं० सुमित्रा नन्दन पंत, प्र० सं०, पृ० ५१
२. वही पृ० ७७
३. वही पृ० ११५
४. वही पृ० १२७

संप्रेषणीयता अत्यधिक सक्षम है। मुक्ति बोध की रचना में लक्षण-लक्षणा का अत्यधिक विस्तार से प्रयोग हुआ है। इससे कवि की जागरूक प्रतिभा और बदलते हुए नए प्रतिमानों के अभिव्यंजन कौशल का पता चलता है।

रीतिकालीन साहित्य की उपलब्धियाँ

रीतिकालीन साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ ही आचार्य चिन्तामणि से माना गया है। हिन्दी साहित्य में शब्द-शक्तियों का विवेचन भी उन्हीं से प्रारम्भ हुआ। उनकी यह परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती हुई भारतेन्दु युगीन आचार्य लछिराम तक पहुँच गई है। यहाँ पहुँचकर यह परम्परा समाप्त हो गई। अतः यह कहा जा सकता है कि शब्द-शक्तियों के विवेचन के क्षेत्र में रीतिकालीन आचार्य अपने आप में ही आदि-अन्त हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि लक्षणा के शास्त्रीय प्रयोग मात्र रीतिकाल में ही उपलब्ध हैं। इन शास्त्रीय लाक्षणिक प्रयोगों की श्रीवृद्धि करने का श्रेय प्रमुखतया आचार्य चिन्तामणि, आचार्य कुलपति, आचार्य देव, आचार्य भिखारीदास, आचार्य प्रताप साहि प्रभृति को है। इन शास्त्रीय प्रयोगों में नूतनता कम अस्पष्टता अधिक है। ये प्रयोग शास्त्रीयता की चौखट में जकड़े हैं। वर्ण्य-विषय की स्पष्टता तो करते हैं, पर काव्य सौष्ठव को समृद्ध नहीं करते।

रीतिकालीन साहित्य में स्वतन्त्र रूप से अलंकार ग्रन्थ लिखे गए। इन ग्रन्थों में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण छन्दों में प्रस्तुत किए गए। रूपक, परिकरांकुर, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, गूढ़ोक्ति, व्याज निन्दा, व्याज-अस्तुति आदि अलंकारों के माध्यम से बड़े सुन्दर, शास्त्रीय एवं स्वच्छ लाक्षणिक प्रयोग हुए। सम्पूर्ण अलंकार ग्रन्थों में लक्षणा का वैभव बिखरा है। इससे एक ओर तो काव्य में सौष्ठव आया और दूसरी ओर उक्ति-वैचित्र्य एवं बिंबात्मकता। इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा कवि ने अपने भाव-चित्रों को भावक के समक्ष प्रस्तुत किया है। इन काव्यों में पर्याप्त वैदग्ध्य और भंगिमा की वक्रता है। इन प्रयोगों पर यदि कोई 'चार्ज' लग सकता है तो वह यह है कि आलंकारिकों ने स्वाभाविकता को कम और शास्त्रीयता को अधिक महत्व दिया है।

इस काल में स्वतन्त्र रूप से नायिका भेद ग्रन्थ भी लिखे गए। इनकी संख्या भी एक बड़ी मात्रा में है। इन ग्रन्थों में नायिका के विविध रूपों, भावों, गुणों, लक्षणों और अवस्थाओं को काव्य की सामग्री बनाया गया। इन छन्दों में भी प्रचुर मात्रा में लाक्षणिक प्रयोग पाए जाते हैं। ये लाक्षणिक प्रयोग शास्त्रीय, सुस्पष्ट तथा निखरे हुए हैं। इनमें भी कवियों की वाणी का विकास हुआ है। इनमें संप्रेषणीयता की शक्ति और बिंबों को गोचर कराने की सामर्थ्य है। इनसे काव्य सौष्ठव अथवा लालित्य बढ़ता है। इन प्रयोगों में कवि शब्दों में अर्थ के नए आयामों की सम्भावनाओं का अन्वेषण करता है। इन प्रयोगों द्वारा भावों में तीव्रता भी उत्पन्न हो गई है।

रीति-सिद्ध कवियों ने शास्त्रीयता के बन्धन ढीले किए । इसके परिणाम स्वरूप लाक्षणिक प्रयोगों में स्वाभाविकता आई । इसके अतिरिक्त इनके भाव बिंब अधिक संवेदनशील हो गए । रीति-सिद्ध कवियों के काव्य में भी लाक्षणिक प्रयोगों की धूम है । इन प्रयोगों में लाक्षणिक मूर्तिमत्ता की सामर्थ्य बढ़ गई । इनमें अर्थ के नए आयाम की शोध है । विरोधी शब्दों के प्रयोग द्वारा भी लाक्षणिकता की वृद्धि की गई है । इन लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा कवि की अन्तरानुभूतियों के समर्थ चित्र भी मूर्तिमन्त हुए हैं । इनमें वैदग्ध्य और भंगिमा की वक्रता अधिकांश स्थलों पर वर्तमान है । इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोगों तथा भाव चित्रों को प्रस्तुत करने की दिशा में विकास हुआ है ।

रीति-मुक्त स्फुट काव्य तो रीतिकालीन लाक्षणिक प्रयोगों की चरमावस्था हैं । इतनी बिम्बात्मकता, वैदग्ध्य, भंगिमा की वक्रता, भावों की मनोहारी छटा, स्वाभाविकता, स्पष्टता, संवेदनीयता और संप्रेषणीयता लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा रीति-काल के किसी वर्ग में नहीं दिखाई पड़ती । लोकोक्तियों और मुहावरों की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता भी निखरकर भावक के सम्मुख उपस्थित हुई है । इस समय के लाक्षणिक प्रयोगों को सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है । इनमें मात्र कमी यह है कि— ये लाक्षणिक प्रयोग भी जीवन के विविध पक्षों की झाँकी नहीं प्रस्तुत कर सके ।

इन लाक्षणिक प्रयोगों का दामन पकड़कर कवियों ने नीति, वैराग्य तथा व्यवहार के पक्ष को भी प्रस्तुत किया है । इन प्रयोगों में भी लाक्षणिक मूर्तिमत्ता है, पर इनके द्वारा वर्ण्य-विषय ही अधिक स्पष्ट हुआ है ।

रीतिकालीन प्रबन्ध काव्यों में भी यत्र-तत्र लाक्षणिक प्रयोग पाए जाते हैं, पर प्रबन्धों का कवि लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति सावधान नहीं था । इसलिए इन काव्यों में आए प्रयोगों से काव्य की श्री वृद्धि अधिक नहीं हो पाई ।

कुल मिलाकर इन लाक्षणिक प्रयोगों के माध्यम से कई अलंकारों की शोभा बढ़ती है, नायिकाओं के रूप, गुण, भाव, अवस्था आदि की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है, हृदय की अमूर्त सूक्ष्म अनुभूतियों को मूर्तिमत्ता मिलती है, भावक की संवेदन-शीलता में वृद्धि होती है, भावों में तीव्रता आती है, वाणी का विकास होता है, बिम्बों की गोचर सामर्थ्य बढ़ती है, काव्य में वैदग्ध्य उत्पन्न होता है और छन्दों में सौष्ठव का सन्निवेश होता है । यही रीतिकालीन साहित्य की लाक्षणिक उपलब्धियाँ हैं ।

इसी लाक्षणिक वैभव के कारण समस्त रीति साहित्य हिन्दी वाङ्मय का एक गौरव पूर्ण अध्याय बन सका है ।

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ-सूची—

अष्टाध्यायी	पाणिन
अभिधावृत्तिमातृका	मुकुल भट्ट (काव्य माला)
अभिनव भारती	अभिनव भारती अभिनव गुप्त
ऋग्वेद	
काव्य प्रकाश	मम्मट (विश्वेश्वर डा० नगेन्द्र)
काव्य-प्रकाश	वामनी टीका सं० १९३३
काव्य-प्रकाश	डा० सत्यव्रतसिंह सं० १९५५ ई०
काव्य-मीमांसा	राजशेखर
कात्यायन भाष्य	कारिकावली मुक्तावली, रामरुद्री दिनकरी सहित, चौखम्बा, सं० सिरीज, काशी
कैयट भट्टाभाष्य	प्र० सं०, निर्णय सागर, बम्बई सन् १९५१
गोविन्द ठक्कुर प्रदीप	आगन्दाश्रम, पुणे, सन् १९२९
चन्द्रालोक	जयदेव
छान्दोग्य उपनिषद्	
तर्क-संग्रह	अन्नभट्ट (न्यायबोधिनी तथा दीपिका सहित)
तैत्तिरीयारण्यकम	सं० बाबा शास्त्री फड़के, आनन्दाश्रम पुणे सन् १८९८ ई०
तंत्रवार्तिक	
दशरूपक	धनन्जय (धनिक अवलोक सहित)
ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन (विश्वेश्वर भूमिका डा० नगेन्द्र)
नाट्य शास्त्र	भारत मुनि (भारती सहित, बड़ौदा संस्करण)
न्याय सूत्र	गौतम (वात्स्यायन भाष्य सहित)
न्याय रत्न माला	पार्थ सारथि मिश्र
न्याय दर्शन	गौतम

प्रताप रुद्रीय	विद्यानाथ (रत्नायण टीका सहित) के० पी० त्रिवेदी सं० १६०६
ब्रह्म सूत्र	'वेदव्यास'
मीमांसा भाष्य	शबर स्वामी, सं० अभिजन सुब्बा शास्त्री, आनन्दाश्रम, पुणे
महाभाष्य	पतंजलि (म. म, शिवदत्त द्वारा संपादित
यास्क निरुक्ति	(दुर्गाचार्य टीका सहित)
रस-गंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ (निर्णयसागर)
वक्रोक्ति जीवितं	कुन्तक (डा० एस० के० डे द्वारा संपादित १६२५
वाक्य पदीय	(ब्रह्मकांड) भर्तृहरि (सूर्यनारायण व्याकरणाचार्यकृत टीका सहित)
विनोदिनी	(शक्तिवाद टीका)
वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा	नागेश भट्ट (सं० सभापति शर्मा उपाध्याय सं० १६८६)
व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट (त० गणपतिशास्त्री संपादित त्रिवेन्द्रम १६०६)
व्यक्ति विवेक	महिमभट्ट (मधुसूदनी विवृत्ति सहित, काशी १६२६)
वृहदारण्यक उपनिषद	
वृहती टीका ऋजुविमला	शलिकनाथ मिश्र
शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य	सं० पंडित श्री जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता सरस्वती यंत्रालय
शतपथ ब्राह्मण	
शक्तिवाद	परि० श्रीदामोदर शास्त्री, सं० सिरीज, चौखम्बा, काशी
शब्द शक्ति प्रकाशिका	श्रीकृष्णकान्त वागीश भट्टाचार्य, टीकोपेत श्री जयचन्द टिप्पणी सहित, प्र० सं०
श्लोकवार्तिक	कुमारिलभट्ट (उम्बेककृत टीका सहित मद्रास १६४०)
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ (हरिदास टीका सहित)
साहित्य दर्पण	शालिग्राम शास्त्री द्वि० आ० सं० १६६१

हिन्दी ग्रन्थ—

अलंकार दर्पण — महाराज रामसिंह प्र० बार, भारत जीवन प्रेस, काशी
अब्दुर्रहीम खानखाना — डा० समरसिंह प्र० स० चिरगाँव, झाँसी
अन्योक्ति कल्पद्रुम — दीनदयाल गिरि तीसरी शाखा
अनाथ — सियाराम शरण गुप्त सम्वत् २०१२, चिरगाँव, झाँसी
अपरा — सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (साहित्यकार संसद की ओर से प्रयाग महिला विद्यापीठ प्र० आ० २००३)
आधुनिक काव्यधारा — डा० केशरीनारायण शुक्ल तृ० आ० सरस्वती मंदिर बनारस, सं० २००७
आलमकेलि — लाला भगवानदीन सं० १९७९ प्र० आवृत्ति, आदर्श प्रेस, काशी
इश्कनामा — बोधाकृत प्र० बार १८९३ ई०
कवित्त रत्नाकर — सं० उमाशंकर शुक्ल, प्र० हि० परि० विश्वविद्यालय प्रयाग १९४९
कविकुल कल्पतरु चिन्तामणि — नवलकिशोर पाषाण यन्त्रालय लखनऊ, जनवरी १८७५ ई०
कविकुल कंठाभरण — सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० बार भारतजीवन प्रेस, काशी
कबीर ग्रन्थावली — बाबू श्यामसुन्दरदास सं० १९२८ ई०
काव्य-विलास — प्रतापसिंह, हस्त० प्र० ना० प्र० सभा, काशी
काव्य कलाधर — रघुनाथ, सं० १८०२
काव्यादर्श
काव्य कल्पतरु — चिन्तामणि, सु० नवल किशोर यन्त्रालय, लखनऊ सं० १८७५ ई०
काव्य-निर्णय — भिखारीदास, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० सं० ना, प्र० सभा काशी,
काव्य में अप्रस्तुत योजना — पं० रामदहिन मिश्र, प्र० सं० सम्वत् २००५ ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
कामायनी — जयशंकर प्रसाद

किसान	बाबू मैथिलीशरण गुप्त प्र० सं० १९१२ ई०, चिरगाँव, झाँसी
कुण्डलिया	गिरधरराय (बम्बई छापाखाना कानपुर)
केशव ग्रन्थावली खण्ड १	सम्पादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हि० एकेडमी, उ० प्र०, इलाहाबाद
खड़ी बोली का पद्य	अयोध्याप्रसाद खत्री सं० १८८९ ई०
गीतावली	गो० तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर
गुप्त निबन्धावली	बालमुकुन्द गुप्त प्र० सं० सं० २००७ स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति कलकत्ता
घनानन्द-कवित्त	सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र चतुर्थ सं० वाणी वितान, काशी
चिन्तामणि भाग २	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
जयद्रथ-बध	मैथिलीशरण गुप्त सं० २०१३, चिरगाँव, झाँसी
जायसी ग्रन्थावली	सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तृ० सं०
ठाकुर-ठसक	लाला भगवानदीन प्र० आ० १९८३, सुलेमान प्रेस, काशी
ठाकुर-शतक	बाबू काशीप्रसाद सं० १९६१
तार सप्तक	'अज्ञेय'
तीसरा सप्तक	'अज्ञेय' ज्ञान पीठ काशी, तृ० सं०
तुलसीदास और उनका युग	डा० राजपति दीक्षित प्र० बार
दान लीला	कर्त्ताराम (सं० सुधाकर द्विवेदी तृ० सं० सम्वत् १९१४)
द्विवेदी काव्य माला	पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी प्र० बार १९४० इण्डियन प्रेस, प्रयाग
पूर्वादल	सियारामशरण गुप्त सं० २०१२, चिरगाँव, झाँसी
दूसरा सप्तक	अज्ञेय, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली
देवदूत	पं० रामचरित उपाध्याय प्र० आ० हि० ग्र० रत्नाकर कार्यालय
देव और उनकी कविता	डा० नगेन्द्र
ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त	भोलाशंकर व्यास, ना० प्र० सभा, काशी
नन्ददास-ग्रन्थावली	सं बाबू व्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा, काशी
नवरस तरंग	सं० पं० कृष्णबिहारी मिश्र प्र० सं० १९२५ प्राचीन कविमाला कार्यालय, काशी

नख-शिख — सं० गो० श्री गोवर्धनलाल सं० १९६० लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय, मुरादाबाद

नैषध-काव्य — गुमानमिश्र सं० १९५२, श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालय बम्बई

परिमल — सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' 'गंगा ग्रन्थागार सं० २००७

पल्लविनी — सुमित्रानन्दन 'पन्त' द्वि० सं०

पथिक — रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मंदिर प्रयाग, १९५६ ई०

पत्रावली — मैथिलीशरण गुप्त सम्वत् २०१२ चिरगाँव, झाँसी

पद्य-प्रबन्ध — मैथिलीशरण गुप्त प्र० सं० १९१२ ई० चिरगाँव, झाँसी

पद्य पुष्पांजलि — लोचनप्रसाद पांडेय प्र० बार १९१४ ई० स्टार प्रेस, कानपुर

पद्माकर-ग्रन्थावली — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्र० सं० ना० प्र० सभा, काशी

प्रिय-प्रवास — पं० अयोध्याप्रसादसिंह उपाध्याय 'हरिऔध' च० सं० हि० सा० कुटीर, बनारस सं० २००२

पूर्ण-संग्रह — रामदेवीप्रसाद 'पूर्ण' प्र० सं०

प्रेमघन सर्वस्व भाग १ — बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' प्र० सं० स० १९९६ हि० स० स० प्रयाग

प्रतापलहरी — प्रतापनारायण मिश्र प्र० बार, नारायण प्रसाद अरोड़ा १९३९ ई०

पृथ्वीराज रासो — सं० मो० ला० वि० पंड्या, राधा० और श्यामसुन्दरदास, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस १९०६

पृथ्वीराज रासउ — डा० माताप्रसाद गुप्त, प्र० बार, चिरगाँव, झाँसी

बिहारी — सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तृ० सं०, वाणी वितान, काशी

बिहारी रत्नाकर — सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ

बरवै रामायण — गो० तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर

भाषा-विज्ञान — बाबू श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद सं० २००६

भाषा विज्ञान — बाबूराम सक्सेना

भाषा भूषण — सं० ब्रजरत्नदास, लक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग १, २, ३

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — सं० ब्रजरत्नदास द्वि० सं०, हि० एकेडमी, इलाहाबाद

भारत गीत 'कान्हा' — श्रीधर पाठक द्वि० सं० गंगा पुस्तक माला, कार्यालय, लखनऊ

भारत-भारती — मैथिलीशरण गुप्त सं० २००३, चिरगाँव, झाँसी

भारत-गीत 'बिछड़ने वाले' — श्रीधर पाठक द्वि० सं० गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ

भिखारीदास ग्रन्थावली प्रथम खण्ड — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्र० सं० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,

भिखारीदास ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्र० सं० नागरी प्रचारिणी सभा काशी

भ्रमर गीत-सार — सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नवम् सं०, सं० २०१८ साहित्य सेवा सदन, वाराणसी

मतिराम कवि और आचार्य — डा० महेन्द्रकुमार, भारतीय साहित्य मन्दिर दिल्ली

मतिराम ग्रन्थावली — स० पं० कृष्णबिहारी मिश्र प्र० सं० गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ

महाकवि मतिराम — डा० त्रिभुवनसिंह प्र० सं०, हि० प्र० पु०, वाराणसी

महाभारत — सबलसिंह चौहान (नवलकिशोर छापाखाना लखनऊ)

मिलन — रामनरेश त्रिपाठी सं० २०१० हि० मंदिर, प्रयाग

यामा — महादेवी वर्मा, (किताबिस्तान इलाहाबाद सं० १९२९)

रस मीमांसा — आ० रामचन्द्र शुक्ल

रस-रहस्य — सं० बलदेवप्रसाद, ज्वालाप्रसाद सं० १९५४ इण्डियन प्रेस, प्रयाग

रस प्रकाश-रामकृत	बाबू जो० प्र०, बेनी प्र० हरिप्रकाश यंत्रालय काशी १८८७
रस-पीयूष निधि	सोमनाथ, हस्त० प्रति० ना० प्र० स० काशी
रामचरित मानस	गीताप्रेस, गोरखपुर
रामचरित चन्द्रिका	पं० रामचरित उपाध्याय, प्र० आ०
रामाश्वमेध	मधुसूदनदास, हस्त० प्रति० सभा संग्रह ८८७
रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र तृ० सं
विद्यापति की पदावली	सं० रामवृक्ष बेनीपुरी च० सं० १९९६ वि० पुस्तक भण्डार लहरिया सराय
विनयपत्रिका	गो० तुलसीदास एकादश सं०, गीताप्रेस गोरखपुर
व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रतापसाहि, सं० रामकृष्ण वर्मा, भारत जीवन प्रेस, काशी प्र० बार, सं० १९५७
व्रजविलास	व्रजवासीदास कृत, श्री वैंकटेश्वर छापखाना, बम्बई, सं० १९५३
शब्द-रसायन	सं० जानकीनाथसिंह 'मनोज' हि० सा० स० प्रयाग प्र० सं० सम्वत् २०००
शंकर-सर्वस्व	सं० हरिशंकर शर्मा, निराला प्रेस आगरा सं० २००८ प्र० सं०
शंकर सरोज	पं० नाथूराम शर्मा, च० सं० प्र० आर्यसमाज, बरोटा, हरदुआगंज, अलीगढ़
शिवराज भूषण	भूषण सं० १९०५ ई०
शिवा बावनी	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र प्र० सं०, सा० से० कार्यालय, काशी।
श्री गोपिकागीत	श्रीधर पाठक, पद्मकोट प्रयाग सं० १९७३ वि०
संस्कृत साहित्य की रूपरेखा	ले० पाण्डेय तथा व्यास, सप्तम् सं०
सन्त-काव्य	पं० परशुराम चतुर्वेदी प्र० सं० १९५२ ई०
सतसई सप्तक	डा० श्यामसुन्दरदास सं० १९३१ ई० हि० ए० संयुक्त प्रान्त इलाहाबाद
साहित्य नवनीत	पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वि० सं०।
सुख-सागर 'तरंग'	सं० बालदत्त मिश्र सं० १८९८ ई० सेठ छोटेलाल लक्ष्मीचन्द, बम्बई।
सुजान-चरित्र	सूदन कवि कृत सं० श्रीराधाकृष्णदास सं० १९०२ ई०

सूर के सौ-कूट	सं० चुन्नीलाल 'शेष'
सूक्ति मुक्तावली	पं० रामचरित उपाध्याय प्र० आ०
सूफी काव्य संग्रह	पं० परशुराम चतुर्वेदी प्र० सं० १९५१, हि० सा० सम्मेलन प्रयाग।
हम्मीर रासो	कवि जोधराज कृत सं० बाबू श्याम-सुन्दरदास तृ० सं०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आ० रामचन्द्र शुक्ल सं० परि० सं० २००२ ना० प्र० स० काशी
महाकाव्य का स्वरूप और विकास	डा० शम्भूनाथसिंह प्र० सं०
हित तरंगिनी	सं० जगन्नाथदास रत्नाकर ए बार०, सं० १९५२, भारत जीवन प्रे० काशी
श्री गोपिका गीत	श्रीधर पाठक, पद्मकोट प्रयाग

पत्रिकाएँ

इन्दु	सन् १९१३ कला ४, किरण १, लोचन-प्रसाद पाण्डेय
इन्दु	१९१३ अक्टूबर कला ४, सं० २, किरण ४
'बिहार-बन्धु',	पटना, १६ दिसम्बर १८८६ ई०
सरस्वती १९१३ भाग १३ सं० ९	
सरस्वती १९१३ भाग १[illegible]	
सरस्वती १९१४ भाग १[illegible]	
सरस्वती १९१७ भाग १[illegible]	
सरस्वती १९२० भाग २[illegible]	

अँग्रेजी ग्रन्थ

प्वयटिक्स	अरस्तू
रेटॉरिक्स	अरस्तू
प्रिन्सिपिल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म	आई० ए० रिचार्डस
दि मीनिंग ऑव दि मीनिंग	आगडेन एण्ड रिचार्डस (८ वाँ संस्करण १९१४ ई०)
ए स्यस्टम ऑव लाजिक	जे० एस० गिल
आइबिड	